विषय-सूची



हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग —

अंग्रेजी-विभाग—

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

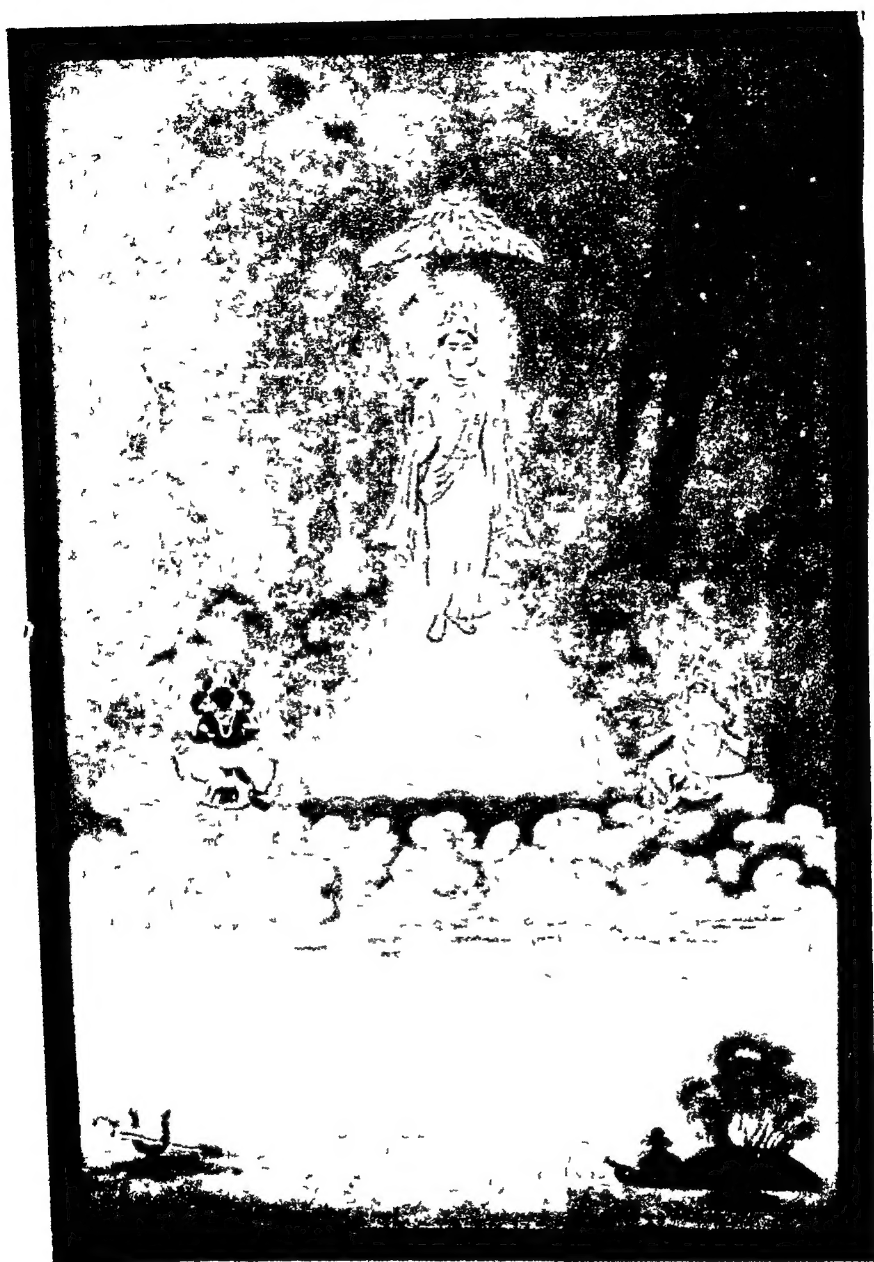
प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २] [किरण १

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १)

विक्रम-सम्वत् १९९२।



दलने को पाखण्ड लोक का, करने को जग का उद्धार.
प्रकट हो गया ! विश्व-गगन में. दिनकर-सम यह वीर कुमार।
बिखर गयी हिंसा की रजनी, गया अनेकों का अभिमान,
हुए सभी हर्षित तब इससे, बनी भूमि यह स्वर्ग समान।

(पं० गुणभद्र जी)

श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी के सहज सौजन्य से प्राप्त

ॐ

॥ श्रीजिनाय नमः ॥



THE JAINA ANTIQUARY

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २ } जून से अगस्त १९३५ तक ज्येष्ठ से श्रावण वीर नि० २४६१ तक { किरण १

भास्कर-स्वागताष्टक

(ले०—प० हरनाथ द्विवेदी, काव्य पुराणतीर्थ सम्पादक "हितवा")

(१)

शुचि रुचि के रुचिर रसीले, रग में रग कर रँगराते।
भम-तोम-तिमिर-जालों को, आभा म दूर भगाते॥

(२)

निर्मल-निगमाम्बुजराजी, मृदु मञ्जुल को विकसाते।
भारत-श्रुत-भव्य-भवन को, भासित करते हैं आते॥

(३)

इतिवृत्त-जगत् पर तत्वों के, तिग्म अंशु फैलाते।
सद्वृत्त[1]-सुधा-मगिता का, सीकर पीकर इठलाते॥

(४)

मतभेद-कुमुद-कुन्जों को, कुंचित करते कुम्हलाते।
सद्भाव-प्रमुद-पुन्जों को, समुदित करते मुदमाते॥

(५)

कुविचार-दिवान्ध खगों[2] से, कुदृगों की दृष्टि नशाते।
सुविचार-विपुल विहगों का, कल कोमल गान सुनाते॥

(६)

निज-अरुण किरण-मण्डल का, महि को मण्डन पहिनाते।
साहित्य-शुभ्र पुष्कर[3] के, प्रिय पुष्कर[4] परम सुहाते।

(७)

मत्सरमलीन-उडुमाला, सत्वर सम्पूर्ण डुबाते।
सहयोग-विधुर विहगी[5]-उर, प्रिय-प्रणय-प्रभा चमकाते॥

(८)

निज कलित करों मे प्यारे[6], नित ललित लवनता लाते।
आते भास्वर 'भास्कर' का, स्वागत करते न अघाते॥



---

१ सम्यक् चारित्र २ उलूक ३ आकाश ४ कमल ५ चक्रवाकी ६ 'करों' का विशेषण

प्रकाशकीय वक्तव्य

सर्व प्रसिद्ध संसार की परिवर्तनशीलता का गीत गाने की अब आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक समाज और प्राणी को नवीनता का नूतन दृश्य पल पल दृग्गोचर हो रहा है। ऐसी दशा में किसी देश अथवा समाज का साहित्य अथवा इतिहास इस अमिट एवं निश्चित नवीनता का शिकार बने बिना भला कैसे रह सकता है? इसी पुरातन पद्धति के पथिक होकर जैन साहित्य और इतिहास को भी कई कलेवर बदलने पड़े—अनेक अठखेलियाँ खेलनी पड़ीं। पर, इतने पर भी, ऐसे विषम समय में भी इसने अपनी प्रकृत सत्ता रक्षित रक्खी अवश्य।

एक वह भी समय था जब कि अगाध ज्ञान भाण्डार के सुचतुर संरक्षक प्रातः स्मरणीय श्रीसमन्तभद्र और आराध्यपाद अकलङ्कदेव आदि आचार्यों की निष्कलङ्क एवं प्रदीप्त साहित्यिक प्रतिभा के लोहे सब किसी को मानने पड़ते थे—जैन धर्म के आदर्शभूत महाराज अमोघवर्ष और चामुण्ड राय आदि जैन राजाओं की डंके की चोट से समुद्घोषित शास्त्रीय धारणा सभी साहित्यिक शूर वीरों को कान खोल कर सुननी पड़ती थी। पर, हाय! एक उस दुर्दैवग्रस्त युग की याद आये बिना नहीं रहती जिन दिनों भारतीय सुधासरोवर की अहिंसारसाप्लुत स्वर्णमयी मञ्जरियाँ निर्दयता की वर्षा का शिकार बन कर अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रही थीं। बल्कि उन दिनों अथक परिश्रम से संचित अपनी अमूल्य साहित्य सम्पत्ति लुटती देखकर आचार्यों एवं ऋषि मुनियों की यही दिव्य आकाशवाणी सुन पड़ती थी कि "कोयल! है यह पावस मौन हो, धर करील की डारिन प्यारी। दादुर की टिटकारिन में तुव बोलिबे की है कहाँ अब बारी?"

और समय ने पलटा खाया। वह समय भी परिवर्तन के पचड़े में पड़कर गुजर गया। पक्षपात रहित कुछ साहित्यिकों और ऐतिहासिकों की संख्या बढ़ी। इन्हें साहित्य-तृषा की आतुरता में जो कुछ खट्टी-मीठी, उलटी सीधी मिली उसी से अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करने की चेष्टा करने लगे। यहाँ तक कि शीघ्रता में स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रधान प्रतिपादक जैनधर्म को कुछ लोग क्षणिकवादी बौद्धधर्म की शाखा भी मानने लगे। मानने ही तक नहीं लगे बल्कि स्थायी साहित्य रूप ऐतिहासिक पुस्तकों में इस अपने भ्रान्त सिद्धान्त का आश्रय भी देने लगे।

साहित्य एवं इतिहास संसार में ऐसी ही गड़बड़झाला और उलझन को देखकर आज से लगभग बीस वर्ष हुए जैन साहित्य और इतिहास पर पूरा प्रकाश डालने की सदिच्छा से इस जैन सिद्धान्त भास्कर का उदय हुआ था। जैन शिलालेख, ताम्रपत्र, आचार्यपट्टावली एवं प्रशस्तियाँ प्रचुर परिमाण में निकाल कर इसने अपने सुकान्त कलेवर को आकर्षक बनाने में जरा भी कोर-कसर नहीं की थी। जिसे सुधी इतिहास वेत्ताओं का आदरपात्र भी होना ही था, किन्तु स्वार्थान्ध जैनियों के शिक्षासंघर्ष में सबसे पीछे पड़े रहने एवं तोता मैना के किस्से और चन्द्रकान्ता-सन्तति जैसे उपन्यासों के पन्ने उलटने भर तक स्वाध्याय धर्म की इति श्री समझने के हेतु समाज की उदासीनता

और ग्राहकसंख्या की मुष्टिमेयता की घनघोर-घटा ने भास्कर की किरणों के प्रकाशित होने में अनिवार्य अड्डा लगा कर इसे अस्तंगत कर दिया।

अस्तु "जैन-हितैषी" एवं श्वेताम्बर समाज से निकलनेवाले "जैनसंशोधक" से जैन-साहित्य और इतिहास-रक्षा की सान्त्वना सदा मिलती रही। किन्तु इनके भी बन्द हो जाने पर इधर इतिहास और अनुसन्धान की ओर सर्वतोभाव से प्रवृत्त ऐतिहासिक विद्वानों की प्राचीनता की तह की बात जानने की प्रबल प्रवृत्ति देख और जैनधर्म तथा इतिहास के सच्चे सहृदय एवं प्रसिद्ध उन्नायक कलकत्ता-निवासी श्रद्धेय भाई छोटेलाल जी की प्रेरणा के प्राबल्य का अनुभव कर इस स्वर्णमय युग में ऐतिहासिक जगत् में प्रकाश डालने की कामना से भवन ने अस्तंगत भास्कर को पुनः प्रकाशित कर धृष्टता का परिचय दिया है अवश्य, किन्तु जैन-समाज यह साहित्यिक कार्य सामयिक समझ कर इसका स्वागत एवं अभिनन्दन करेगा, भवन को यह भी दृढ़ धारणा है।

भास्कर का ध्येय वही पुराना है। यदि कोई विशेष परिवर्तन है तो यही कि अंग्रेजी पढ़े लिखे विद्वानों के लिये कुछ पृष्ठों में अंग्रेजी में जैनधर्म विषयक साहित्य एवं इतिहास-सम्बन्धी लेख रहेंगे तथा क्रमशः प्रकाशित होनेवाले कोई प्राचीन ग्रन्थ और भिन्न भिन्न प्रशस्तियों का प्रकाशन।

हाँ, अन्यान्य मासिक पत्रों की अपेक्षा अगर कुछ कमी रहेगी तो इसी बात की कि इसमें किस्से-कहानी, आख्यायिका-उपन्यास और हँसी-दिल्लगी चटपटे आदि विषयों का अत्यन्ताभाव रहेगा। केवल आचार्यों के मस्तिष्क की बातें रहेंगी। इसलिये आजकल के मनोरञ्जक समाचार पत्रों के युग में भास्कर के कुछ पाठकों को तो लोहे के चने चिबाने का सा अवेगा। पर किया क्या जाय? भास्कर के ध्येय की ओर ध्यान देने से इसमें हँसी-खुशी एवं कुश्ती की गुंजायश ही नहीं। साथ ही साथ जैन ऐतिहासिक उत्कर्ष अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त साम्प्रदायिकता की शृङ्खला की जकड़बन्दी इसे पसन्द नहीं, क्योंकि यह तो सभी जैन-सम्प्रदायों की सहानुभूति-सुधा का पान कर अमर बनने की चेष्टा करेगा।

किसी पत्र के सुचारुरूप से संचालन में द्रव्य और लैखिक साधन की परमावश्यकता होती है। द्रव्य के लिये जैन-समाज लक्षाधिपति एवं कोट्यधिपति आदि सम्पन्नतासूचक प्रचुर प्रख्याति प्राप्त कर चुका है। अब रही लैखिक साधन की आवश्यकता, सो अब इस समाज में साहित्यिक शूरवीरों की विरलता भी बड़े वेग से विलीन होती चली जाती है। आवश्यकता है केवल अपने साहित्य और इतिहास से सच्ची लगन की। समाज से जहाँ इसे थोड़ा भी आश्रय मिला वहाँ यह अपनी सुनहली एवं गुलाबी किरणों से—यहाँ की कौन बात कहे देशदेशान्तरों में भी विद्वानों का चित्ताकर्षक किए बिना यह नहीं रहेगा।

भास्कर ने अपने स्थायी जैन इतिहास और साहित्य के प्रकाशन-द्वारा जैनजनता की जो कुछ भी सेवा की है, उसका इसे गर्व है। जिस प्रकार युद्ध में बार बार हार खाकर उत्साहहीन तथा निष्क्रिय-शील हो बैठे हुए एक प्रसिद्ध बादशाह अन्नकण को ले जाने में असंख्य बार विफल प्रयास होने पर भी अन्त में कृतकार्य हुई चतुर चींटी की अविश्रान्त अध्यवसायशीलता और चातुरी से "पुनः करो उद्योग" की पुनीत शिक्षा के फलस्वरूप पुनरुद्योग से समरविजयी बना उसी प्रकार आशावादिता के

आदर्श को आगे रख कर ही भास्कर ने उदयाचल के शिखरारूढ होने की कमनीय कामना की है। भवन ने अपनी संचित साहित्य सम्पत्ति को भास्करद्वारा प्रकाशित कर अपना कर्त्तव्य पालन किया। देखें समाज किस रूप से अपना कर्त्तव्यपालन करता है।

दयाधर्म के प्रायस्वरूप सहृदय जैन बन्धुबान्धवों को अपनी जीवनमूरि साहित्यिक कृतियाँ अनेक शास्त्र भाण्डागारों में दीमक एवं कीड़ों की खुराक होती देख कर उनके उद्धार की चेष्टा करते हुए अपनी सीमित दया एवं अहिंसा धर्मक्षेत्र का विस्तार करना चाहिये।

अपने अपने कालिजों के कामों में सदा अस्त व्यस्त रहनेवाले प्रोफसर बाबू हीरालाल जी जैन एम०ए०, प्रोफेसर A N उपाध्ये M A एवं जैन साहित्य की अविरत सेवा करनेवाले बाबू कामता प्रसाद जी जैन M R A S जैसे सुयोग्य विद्वान् सम्पादकों को पाने के सौभाग्य का भास्कर को अतएव गर्व है। यह सुवर्णसंयोग ही भास्कर की सर्वाङ्गसुन्दरता एवं प्रकृत विद्वानों की मनोहारिकता की शुभ सूचना दिये देता है। साथ ही साथ जैन साहित्यिकों में ख्याति पाये हुए भवन के सुयोग्य पुस्तकालयाध्यक्ष प० के० भुजबली शास्त्री जी को भी सम्पादक श्रेणी में प्रविष्ट होने की अनुमति कम प्रशंसनीय नहीं है। अर्थात् इन उल्लिखित विद्वानों ने जो "भास्कर" के सम्पादन का उत्तरदायित्वपूर्ण भार वहन करने में कोई आना कानी नहीं की है इसके लिये भास्कर का प्रकाशक यह "भवन" इन महाशयों का चिरकृतज्ञ है।

अस्तु, भास्कर के प्रकाशन की चिरस्थायिता अनुग्राहक महोदयों की गुणग्राहिकता, जैन साहित्य तथा इतिहासप्रियता के ऊपर निर्भर है। क्योंकि इसकी किरण भवन की चहारदिवाली अथवा आलमारियों के भीतर ही टिम टिमाती रहे—इसीलिये नहीं इसका प्रकाशनारम्भ हुआ है। भारतीय इतिहासों के समरक्षेत्र में जैनइतिहास भी अपने पुरातन प्रमाणबल से अंगद जैसे बड़ी दृढ़ता के साथ सबल पैर अड़ा कर ललकारता रहे—यही इसके प्रकाशन का अन्तिम और पवित्र ध्येय है। आशा है कि सभी सहृदय बन्धुगण प्रकाशकीय वक्तव्य के इस निष्कर्ष से सर्वथा सहमत होंगे।

निवेदक—
चक्रेश्वर कुमार जैन (B Sc B L)

ॐ

जैन-मूर्तियाँ

(लेखक—कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०)

"सम्मत्तरयणजुत्ता णिब्भरभत्तीय णिच्चमच्चंति ।
कम्मक्खयणिमित्तं देवा जिणणाह पडिमाउ ॥"

—तिलोयपण्णत्ति ।

कृतज्ञता-प्रकाश करने का भाव मनुष्य में स्वाभाविक है। निरीह असभ्य मनुष्य भी अपने वीर पूर्वजों का स्मरण करके इस भाव को व्यक्त करते हैं। ऐसा कोई सहृदय नहीं जो अपने उपकारी के प्रति प्रेम न करे और उस प्रेम को वह विविध प्रकार से प्रकट करने का उद्यम करता है। लन्दन के ट्राफल्गर स्क्वायर में प्रतिवर्ष हजारों अंग्रेज नर-नारी एक खास दिन इकट्ठे होते हैं और वहाँ पर जो प्रसिद्ध नाविक एडमिरल नेल्सन की पाषाण-मूर्ति बनी हुई है, उसके सामने नाचते-गाते और नेल्सन की प्रशंसा के गीत गा-गा कर उस पाषाण मूर्ति पर ढेरों हार और फूल चढ़ा देते हैं। अंग्रेजों की यह क्रिया उस पाषाण—पत्थर की पूजा नहीं है, बल्कि उस महापुरुष के उपकार के प्रति भक्ति का प्रदर्शन हैं। भक्तजन अपने उपकारी की परोक्ष-विनय करने के लिये उसकी आकृति की स्थापना पाषाण-काठ आदि में कर लेते हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। जैनधर्म में भी मूर्ति स्थापना का आधार 'यही नियम है। श्रीविद्यानंदिस्वामी अपने 'पात्रकेसरी स्तोत्र' के निम्न श्लोक में यही प्रकट करते हैं :—

'विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रियाबहुविधासुभृन्मरणपीडनहेतवः ।
त्वया ज्वलितकेवलेन नहि देशिताः किन्तुता-
स्त्वयि प्रसृतिभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिता श्रावकैः ॥३६॥

अर्थात्—"विमोक्ष सुख के लिये चैत्यालयादि का निर्माण, दान का देना, पूजन का करना इत्यादि रूप से अथवा इन्हे लक्ष्य करके जितनी क्रियायें की जाती हैं और जो अनेक प्रकार से त्रस-स्थावर जीवों के मरण तथा पीडन की कारणीभूत हैं, उन सब क्रियायों का, हे केवली भगवान्! आपने उपदेश नहीं दिया किन्तु आपके भक्तजन श्रावकों ने भक्ति से प्रेरित होकर उनका अनुष्ठान किया है।"

दूसरे शब्दों में यूं समझिये कि अरहंत भगवान ने मोक्षमार्ग का निरूपण करके जो लोक का कल्याण किया है, उस उपकार के लिये कृतज्ञता ज्ञापन करना श्रावकों के लिये स्वाभाविक था—भक्तिभाव से प्रेरित होकर उन्होंने भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन न होने पर उनके प्रतिबिम्ब बनाये और वह प्रतिबिम्ब उनके लिये वीतराग भाव की शिक्षा देने में भी कार्यकारी हुए। उनकी आकृति ठीक वीतराग और समदृष्टि को लिये हुए बनाई गई। यही कारण है कि सम्यक्दृष्टी जीव जिनप्रतिमा को साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् समझकर पूजता है और शुभभावों के फलरूप अपने कर्मों का क्षय करता है।[1] उसके लिये वह मंगल-वस्तु है।[2]

इस प्रकार जिन प्रतिमा की आवश्यकता प्राकृत स्पष्ट है और चूंकि मनुष्य और मनुष्य-स्वभाव त्रिकाल में एक समान है, इसलिये इन प्रतिमाओं का जन्म अनन्तभूत में गर्भित है। लोक में कहीं न कहीं तत्व रूप में उसका अस्तित्व रहेगा। यही कारण है कि जैनधर्म में मूर्तियां दो तरह की बताई गई हैं (१) कृत्रिम और (२) अकृत्रिम। अकृत्रिम प्रतिमायें सारे लोक में फैली हुई हैं[3]। भवनवासी देवों के आवासों में, ज्योतिषी देवों के विमानों में, कल्पवासी देवों के स्वर्गों में और मनुष्यलोक के विविध स्थानों में रत्नमयी शास्वत जिन प्रतिमाओं का अस्तित्व जैनशास्त्र बतलाते हैं और उनकी ठीक ठीक गिनती भी उनमें बता दी गई है[4]। जम्बूद्वीप में भी कई स्थलों पर ऐसी जिनप्रतिमायें हैं। उनमें मुख्य जम्बूद्वीप की चारों दिशाओं पर स्थित चार द्वारों पर विराजमान हैं।[5]

१ भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
 यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्ष पूजितो जिन ॥४७॥६॥—धर्मसंग्रह श्रावकाचार।

२ "तत्र मंगलं नाम स्थापना द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाद्यनेकधा तत्र
 स्थापना मंगलं कृत्रिमाकृत्रिमजिनादीनां प्रतिबिम्बं। इत्यादि।"
 —गोम्मटसार जीवतत्वप्रदीपिका टीका (कलकत्ता) पृष्ठ २

३ 'कृत्याऽकृत्रिमचारुचैत्यनिलयान्नित्यं त्रिलोकीगतान्। इत्यादि।—जिनपूजा।

४ 'तिलोयपण्णत्ति' में इनका विशेष बयान है। 'चर्चाशतक' में उनकी गिनती इस प्रकार की है—
 "सात किरोर बहत्तर लाख, पतालविषैं जिनमंदिर जानो।
 मध्यहि लोक मे चार सौ ठावन, व्यंतर जोतिक के अगिनानो॥
 लाख चौरासी हजार सतानव, तेइस ऊरध लोक बखानो।
 एकेक में प्रतिमा शत आठ नमौं निहु जोग त्रिकाल सयानो॥३४॥"

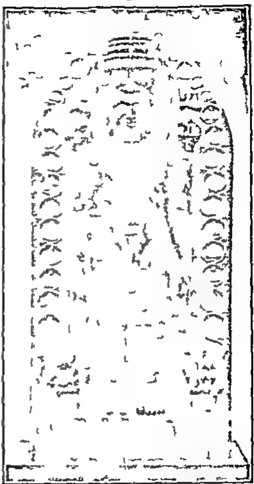
५ "विजयंत वैजयंत जयंत अपराजयंत नामेहिं।
 चत्तारि दुवाराइं जम्बूदीवे चउद्दिसासु॥
 × × × ×
 सीहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिरमणिज्जा।
 रयणमया जिणपडिमा गोउर दारे सोहंति॥"—तिलोयपण्णत्ति।

इन अकृत्रिम प्रतिमाओं के अतिरिक्त कृत्रिम प्रतिमायें मनुष्य-निर्मित हैं। इस अल्प-काल में सबसे पहले ऋषभदेव के पुत्र प्रथम सार्वभौम सम्राट् भरत चक्रवर्ती ने जिन-प्रतिमाओं की स्थापना की थी। जिस समय ऋषभदेव सर्वज्ञ तीर्थंकर होकर इस धरातल को पवित्र करने लगे तो उस समय भरतचक्रवर्ती ने तोरणों और घंटाओं पर जिन-प्रतिमायें बनवाकर भगवान का स्मारक कायम किया था[1]। उपरान्त उन्होंने ही भगवान् के निर्वाणधाम कैलाश पर्वत पर तीर्थंकरों की चौबीस स्वर्णमयी प्रतिमायें निर्मापित कराई थीं। जैनशास्त्र का यह कथन प्राकृत-सुसंगत है। मनुष्य-प्रकृति यह है कि वह अपने प्रेमी अथवा मान्यपुरुष का स्मारक-चिह्न अपने नगर और ग्राम में स्थापित करे और उसके मृत्युस्थान पर खासतौर पर चिह्न बना देवे। आज शहरों में राजाओं और देशनेताओं की मूर्तियां बनी मिलतीं हैं। और लोग महापुरुषों के मृत्युस्थान को तीर्थ-सम पूजते मिलते हैं। भरत महाराज का कार्य भी इसी ढग का था। पहले उन्होंने तोरणों और घंटों पर जिन-प्रतिमायें अङ्कित कराईं। प्राचीन भारत में बडे-बड़े नगर परकोटे से घिरे रहते थे और उनमें तोरण-द्वार तथा उनमें लटकते हुए घंटे खास चीज होते थे। इन खास स्थानों पर स्मारक-चिह्न बनाया जाना स्वाभाविक था। उपरान्त जब भगवान् ऋषभदेव कैलाश से मुक्त हुये तो उस पवित्र स्थान पर विशेषरूप में जिन प्रतिमाओं को भरतेश्वर ने बनवा दिया। किन्तु इन जिन प्रतिमाओं को बनवाने में मुख्य प्रेरक हृदय की भक्ति थी। और उनके बनवाने का उद्देश्य साक्षात् जिन भगवान् की वीतराग मुद्रा के दर्शन पा लेना था। यही कारण है कि ये प्रतिमायें साधारण नेता आदि मुख्य पुरुषों के स्मारकों से विशेषता रखती थीं और वह विशेषता उनको जिनेन्द्रवत् पूज्य मानने में थी। इस प्रकार जैन शास्त्रानुसार इस काल में जिन-प्रतिमा के जन्म का यह इतिहास है।

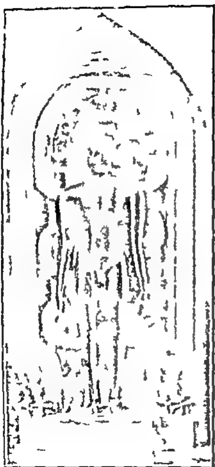
अबतक उपलब्ध हुआ भारतीय पुरातत्व भी जिन-मूर्ति की उपर्युक्त-प्रकार बहु-प्राचीनता का समर्थन करता है। इस समय सिन्धु की उपत्यका का पुरातत्व सर्वप्राचीन है और विद्वज्जन उससे जिन-प्रतिमा का सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[2] इस विषय पर हम आगामी एक स्वतंत्र लेख-द्वारा विचार करेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि बस प्राचीन काल अर्थात् आज से लगभग छै हजार वर्ष पहले भी जिन-मूर्तियाँ थीं। उपरान्त मथुरा और

१—८ श्री आदि पुराण देखो।

२ Survival of the Prehistoric Civilisation of the Indus valley, pp. 25-83 and Modern Review, August, 1932



तीर्थंकर श्रीपुष्पदन्त जी की मूर्ति
(दक्षिण भारतीय कला)



तीर्थंकर सुपार्श्व नाथ जी की मूर्ति
(दक्षिण भारतीय कला)

खण्डगिरि उदयगिरि का पुरातत्त्व भी जिन मूर्ति के प्राचीन अस्तित्व का द्योतक है। ईस्वी पहली शताब्दी में मथुरा में वह प्राचीन स्तूप मौजूद था जो उस समय 'देवनिर्मित' समझा जाता था और जिसे डॉ० बुल्हर तथा सर विन्सेन्ट स्मिथ ने भगवान पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईस्वी के पूर्व आठवीं शताब्दी का बताया था[1]। जैनस्तूप पर मूर्तियां बनी होती हैं, यह बात जैनशास्त्रों और मथुरा के स्तूपावशेषों से स्पष्ट है। अतः भ० पार्श्वनाथ जी के समय में भी जिन-प्रतिमा का होना सिद्ध है। प्राचीन काल में जिनमूर्तियों के होने का समर्थन खण्डगिरि उदयगिरि के प्रसिद्ध हाथीगुफावाले शिलालेख से भी होता है, जिसमें लिखा है कि एक नन्द राजा कलिङ्ग से अग्रजिन की प्रतिमा को मगध ले गया था, उसे कलिङ्गचक्रवर्ती ऐल खारवेलु वापस कलिङ्ग ले आये थे[2]। नन्दकाल में जो प्रतिमा खूब प्रसिद्धि पा चुकी थी, उसका एक काफी समय पहले निर्मित होना सुसङ्गत है। अतः यह उल्लेख भी जिनमूर्ति के प्राचीन अस्तित्व का पोषक है।

किन्तु प्रश्न यह है कि प्राचीनकाल में जिन मूर्तियां किस ढंग की बनती थीं? इस विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की मान्यता भिन्न है; यद्यपि वे दोनों जिन प्रतिमा को उक्त प्रकार प्राचीन मानने में एकमत हैं। दिगम्बरों की मान्यता है कि जिन प्रतिमा शुभलक्षण युक्त नासाग्र दृष्टिमय और श्रीवत्सचिह्न से अङ्कित नग्न शृङ्गार वस्त्र रहित होना चाहिये[3]। श्वेताम्बरों की मान्यता इससे विलक्षण है। उनका मत है कि प्राचीन जिन प्रतिमाओं पर न वस्त्रलाञ्छन होता था और न स्पष्ट नग्नत्व ही[4]। उनके इस कथन से कुछ भी भाव स्पष्ट नहीं होता। उस पर प्राचीन जिन-प्रतिमाओं के विषय में

---

१ Jaina Stupa and other antiquities of Mathur p 13

२ जर्नल आव विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी भाग १३ पृष्ठ ।

३ "कक्षादिरोमहीनांगस्मश्रुलेशविवर्जितं ।
स्थितं प्रलम्बितं हस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरं ॥
पर्यंकासनकं कुर्याद् शिल्पिशास्त्रानुसारतः ।
निरायुधं च निस्त्रीकं भ्रूक्षेपादिविवर्जितं ॥ इत्यादि ॥"—जिनसंहिता

४ "पुव्विं जिणपडिमाए नगिणत्तं नेव नवि अ पल्लवओ ।
तेण नागाण्णेण भेओ उभएमि सभूओ ॥"—प्रवचनपरीक्षा

'प्रवचनपरीक्षा' की उक्त गाथा उस कथा के प्रकरण में है जिसमें गिरिनार और शत्रुंजय पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों के बीच झगड़ा होने का कथन है। उसमें यह भी कहा गया है कि 'आगे

जो वर्णन उनके शास्त्रों में मिलता है, वह इसी बात का द्योतक है कि प्राचीन प्रतिमायें नग्न बनाई जाती थीं। मथुरा और खण्डगिरि-उदयगिरि की प्राचीन प्रतिमायें नग्न ही हैं, जैसे कि दिगम्बरों की मान्यता है। इसके अतिरिक्त अजैन शास्त्रकार भी जिन-प्रतिमाओं का स्वरूप वैसा ही बतलाते हैं जैसा कि दिगम्बर शास्त्र प्रकट करते हैं। देखिये 'बराहमिहिर-संहिता' में कहा गया है:—

'आजानु लम्बबाहु' श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥५४॥४८॥''

अर्हन्त की प्रशान्तमूर्ति श्रीवत्स चिन्ह से अङ्कित तरुणरूप लम्बी बाहों वाली नंगी होती है। 'मानसार' शास्त्र से स्पष्ट है कि जिन-मूर्तियां ठीक मनुष्याकृति की—दो बाहों, दो आँखों, एक सिर सहित होती है[1] और वह निराभरण व वस्त्ररहित नग्न होती है। यथा[2]—

"निराभरणसर्वाङ्गनिर्वस्त्राङ्गमनोहरम् ।
सत्यवक्षस्थले हेमवर्णश्रीवत्सलाञ्छनम् ।"

किसी प्रकार का झगडा न होने पावे इसलिये अब जो नई प्रतिमायें बनवाई जांय, उनके पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना दिया जाय।' (मा पडिमाणविवाओ होहीत्ति विचिंतऊण गिरि सघो। कासी पल्लवचिंधं नवाण पडिमाणपयमूले ॥) इसमें स्पष्ट है कि प्राचीन प्रतिमायें निराभरण और वस्त्ररहित होती थीं। श्रीरत्नमण्डनगणि के "सुकृतसागर" नामक ग्रन्थ से स्पष्ट है कि गिरिनार पर श्रीनेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा शृङ्गाररहित नग्न थी। श्रीरत्नमन्दिरगणि की 'उपदेशतरंगणी' से भी इसी बात का समर्थन होता है। इन उद्धरणों को श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने व्याख्यान में पेश करके यह दरशाया है कि मूर्ति पर शृङ्गार करने और वस्त्र पहनाने की प्रथा नवीन है। हमारे श्वेताम्बर भाई प्राचीन प्रतिमाओं में लिङ्ग चिह्न होना नहीं मानते, किन्तु मथुरा आदि की प्राचीन प्रतिमायें उनकी इस मान्यता का खंडन करती हैं। किन्हीं जिन-प्रतिमाओं में, जो पल्यंकासन होती हैं, शिल्पकार अपनी सुविधा के लिए लिंग-चिह्न नहीं भी बनाता है। ऐसी प्रतिमायें दिगम्बर-मन्दिरों में देखने को मिलती हैं, किन्तु इसपर से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतिमाओं का प्राचीन रूप नग्न नहीं था।

१ "द्विभुजं च द्विनेत्रं च मुण्डतारं च शीर्षकम् ।"—मानसार ७२ ।

२ मानसार ८१—८२ ।

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि जिनमूर्तियों का प्राचीन रूप वस्त्ररहित नग्न था और वह ठीक वैसा ही था जैसा कि दिगम्बराम्नाय के शास्त्रों में बताया गया है। यदि इसके विपरीत जिनप्रतिमा का स्वरूप वस्त्र और आभरणों से शृङ्गारित माना जाय तो वहाँ जिनप्रतिमा की स्थापना का महत्त्व ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि शास्त्रकार का वचन है —

'कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मी, परया शान्ततया भवान्तकानां।
प्रणमामि विशुद्धये जिनानां प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमन्ति ॥'

अर्थात्—"जन्म मरण का अन्त कर देनेवाले जिनों की मूर्तियाँ जो बिल्कुल उन्हीं की जैसी होती हैं अपनी उत्कृष्ट शांति के द्वारा यह बतलाती हैं कि कषायमुक्ति कैसे प्राप्त की जाती है। इसलिये मैं उन्हें विशुद्धि प्राप्त करने के लिये प्रणाम करता हूं।" अब भला कहिये, उन मूर्तियों पर वस्त्रादि शृङ्गार कैसे संभावित हो सकता है। अतः यह मानना ठीक है कि प्राचीन जिन प्रतिमा निराभरण और निर्वस्त्र होती थी। 'प्रतिष्ठासारोद्धार' ग्रंथ में उनका उल्लेख इस प्रकार है —[1]

"शांतप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थाविकारदृक्।
सम्पूर्णभावरूपानुविद्धांगं लक्षणान्वितम् ॥"३॥
रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुक्।
निर्माप्य विधिना पीठे जिनबिंबं निवेशयेत् ॥"४॥"

अर्थात्—"जो शांत, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्रस्थित अविकारी दृष्टिवाला हो, जिसका अंग वीतरागपन सहित हो, अनुपम वर्ण हो, और शुभलक्षणों सहित हो रौद्र आदि बारह दोषों से रहित हो, अशोक वृक्षादि प्रातिहार्यों से युक्त हो और दोनों तरफ यक्ष यक्षी से वेष्टित हो, ऐसी जिनप्रतिमा को बनवाकर विधि सहित सिंहासन पर विराजमान करे।" यह जिन प्रतिमा का आदर्श रूप है। किन्तु बहुत सी ऐसी प्रतिमाएं मिलती हैं जिनमें प्रातिहार्य व यक्षादि कुछ भी नहीं होते। इससे प्रकट है कि व्यवहार में सुविधानुसार शिल्पी जिन प्रतिमा को बनाते हैं, जिसमें वीतराग दृष्टि, सौम्य आकृति और निर्वस्त्रता होना अनिवार्य है।

अब प्रश्न यह है कि ये प्रतिमाएं किस वस्तु की और किन किन महापुरुषों की बनाई जाती हैं? तथा उनके बनाने के स्थान क्या क्या हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में हम "वसुनन्दि श्रावकाचारादि" के निम्न श्लोक लिखते हैं[2] —

1 प्रतिष्ठासारोद्धार (बम्बई) पृष्ठ ७ 2 वसुनन्दि श्रावकाचार (गुजराती) पृष्ठ ६८

"मणिकणयरुप्पय, पित्तलमुताहलोवलाइहिं ॥
पडिमालक्खणविहिणा, जिणाइपडिमा घडाविज्जा ॥३६०॥"

अर्थात्—"मणि, सोना, रूपा, पीतल, मोती और पत्थर आदि में जिन भगवान् के लक्षण बनवा कर प्रतिमा बनवावे।" आदि शब्द से मतलब चित्र, लेपमय वस्त्र, व काठ की प्रतिमाओं का है[1]; जिनकी प्रतिष्ठा-विधि भी उनका प्रतिबिम्ब दर्पण में लेकर पाषाणादि प्रतिमाके समान है[2]। वे प्रतिमायें अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुमहाराजकी होती है[3], किन्तु मुख्यत. इनमें अर्हंत प्रतिमाओं की—उनमें भी तीर्थङ्कर अर्हंत की प्रतिमाओं की है अर्हंत की प्रतिमा से तीर्थंकर की प्रतिमा को व्यक्त करने के लिये प्रत्येक तीर्थंकर का चिह्न उनकी प्रतिमा पर बना दिया जाता है।[4] सिद्ध की प्रतिमा शरीराकार की रेखामात्र होती है

१ सौवर्णं राजतं वापि पैत्तलं कांस्यजं तथा ॥—प्रवाल्यं मौक्तिकं चैव वैडूर्यादिसुरत्नजं ।
चित्रजं क्वचिच्चन्दन जपपरं ॥—जिनयज्ञकल्प।

२ चित्तपडलेवपडिमाए दप्पणे दाविऊण पडिबिंबं।' इत्यादि—"चित्राम की तथा वस्त्र वा भीत पर खींची हुई जो जिनप्रतिमा है उसका प्रतिबिंब दर्पण में दिखावे।"—व० श्रा०।

३ 'सूरीणाम्, पाठकानाम् च साधूना च यथागमम्।'—आगम के अनुसार आचार्य, उपाध्याय और साधु की प्रतिमायें बनानी चाहिये अर्थात् आचार्य और उपाध्याय की प्रतिमाओं के साथ शास्त्र भी बनाना चाहिये और साधुओं की प्रतिमा के साथ पीछी और कमंडलु! किन्हीं का मत है कि साधुओं की प्रतिमायें न बनवा कर उनका निषिधिका पर मात्र चरण चिह्न ही बनाना चाहिये। नशियाँ इटावा में चरणसहित निषधिकायें दिगम्बर मुनियों की बनी हुई हैं। बीजोल्या (मेवाड़) में भी ऐसी ही निषधिकायें हैं; किन्तु उनमें ऐसी भी है जिनपर दिगम्बर मुनियों की मूर्तियां पीछी कमंडल-सहित बनी हुई हैं। विशेषत साधु महाराज की प्रतिमा बनाने का रिवाज बहुत कम है। अधिकाश और प्राचीन प्रतिमायें तो प्राय अर्हंतभगवान की ही मिलती है।

४ "स्थापयेदर्हतां छत्रत्रयाशोकप्रकीर्णकम्। पीठं भामंडल भाषा पुष्पवृष्टि च दुन्दुभिम् ॥
स्थिरेतरार्चयो पादपीठस्याधो यथायथम्। लाञ्छनं दक्षिणे पार्श्वे यक्षं यक्षीं च वामके ॥
गौर्गजोऽश्व कपि कोक कमलं स्वस्तिक शशी। मकर. श्रीद्रुमो गंडो महिष कोलसेद्धिकौ ॥
वज्रं मृगोऽजष्टशूगरं कलश कूर्म उत्पलम्। शंखो नागाधिप: सिंहो लांछनान्यर्हता क्रमात् ॥"

अर्थात्—"अर्हंत प्रतिमा को तीन छत्र, दो चमर, अशोकवृक्ष, दुंदुभि बाजा, सिंहासन, भामंडल, दिव्य भाषा, पुष्पवर्षा—इन आठ प्रतिहार्यों से शोभित करे। उसके बाद स्थिर और चल दोनों प्रतिमाओं में सिंहासन के नीचे जैसा शास्त्र में कहा है वैसे ही सीधी बाजू में भगवान के चिह्न को और बाईं ओर यक्ष और यक्षी को खड़ा करे। अर्हंतों के शरीर के चिह्न क्रम से (१) बैल (२) हाथी (३) घोड़ा (४) बंदर (५) चकवा (६) कमल (७) साथिया (८) चंद्रमा (९) मगर (१०) श्रीवृक्ष (११) गैंडा (१२) भैंसा (१३) सूअर (१४) सेही (१५) वज्र (१६) हरिण (१७) बकरा (१८) मच्छ (१९) कलश (२०) कछुआ (२१) कमल की पाखुरी (२२) शंख (२३) सर्प (२४) सिंह—ये चौबीस हैं।"—प्रतिष्ठासारोद्धार पृ० ८



मथुरा में प्राप्त एक जैन तीर्थंकर की मूर्ति।

(छठी शताब्दी)

चैत्यवृक्षों के अतिरिक्त स्तूपों पर भी जिन-प्रतिमायें होती हैं। स्तूप वस्तुतः महापुरुषों के समाधिस्थल पर बनाये जाते हैं। यही कारण है कि उनपर मुख्यतः सिद्ध-प्रतिमा का बनना बताया है। वैसे मथुरा, रामनगर आदि मे जो जैनस्तूपों के नमूने मिले हैं उनमें अर्हत-प्रतिमायें बनी हुई हैं। श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर के समवशरण के स्तूपों का वर्णन इस प्रकार मिलता हैः—

"वीथीनां मध्यभागे तु नव स्तूपाः समुद्ययुः।
पद्मरागमया सिद्धजिनबिंबांयलंकृताः ॥१३६॥
स्तूपानामंतरेष्वेषां रत्नतोरणमालिकाः।
वसुरिद्धधनुर्मध्य-इवोद्योतितखांगणाः ॥१३७॥

अर्थात्—"गलियों के मध्यभाग में नौ स्तूप थे जो कि पद्मराग मणिमय थे एवं सिद्ध भगवान की प्रतिमाओं से अलंकृत थे। स्तूपों के मध्यभागों में रत्नमय तोरण और मालिका थीं, जिन्होंने कि अपनी कांति से समस्त आकाश को व्याप्त कर रक्खा था। अतएव वे इन्द्रधनुषमयी सरीखी जान पड़ती थीं।" —मल्लिनाथपुराण पृष्ठ १४९)

तोरण-द्वारों पर जिन-प्रतिमायें भरत महाराज ने बनवाई थीं और जम्बूद्वीप के चार तोरण-द्वारों पर अकृत्रिम जिन प्रतिमायें हैंः यह पहले लिखा जा चुका है। मथुरा से कतिपय प्राचीन आयागपट मिले हैं जो कला की अद्भुत वस्तु हैं और उनके मध्यभाग में जिनेन्द्र भगवान पल्यंकासन विराजमान हैं। वह आयागपट मंदिरों के सभामंडप अथवा श्रावकों के घरों में पूजा के लिये बने होते थे। इनकी गणना चित्रज प्रतिमा में करना ठीक है। जिस तरह कागज, वस्त्र या काँच पर बना हुआ चित्र दीवाल पर टांगा जाता है उसी तरह इनको भी दीवाल में लगाया जाता था। मालूम होता है कि कागज व काँच के चित्रों की प्रधानता जब बढ़ गई तब इन आयागपटों का रिवाज उठ गया और अब यह प्रायः नहीं बनाये जाते हैं। यह भी अनुमान होता है कि ऐसे भी शिलापट पहले बनाये जाते थे जिनपर तीर्थों के चित्र उकेरे हुये होते थे। सम्मेदशिखर के दृश्य को प्रकट करनेवाला एक शिलापट लन्दन के ब्रिटिश म्युज़ियम में है।

जैनसंघ में पहले अपने धार्मिक विश्वास को प्रकट करने के लिए तत्सम्बन्धी चिह्नों से अङ्कित मुद्रा बनाने का रिवाज था। यह मुद्रायें वह विपक्षी को वाद के लिये आह्वान करने के लिये चबूतरों पर रखते थे अथवा स्तूप, वेदी, मंदिर आदि की नीव में उन्हे रख देते थे। आजकल भी श्रावक लोग नवीन वेदी आदि के नीचे प्रचलित सिक्कों को रख देते हैं। अब प्राइवेट तौर पर मुद्रायें बनाने का रिवाज कानूनन बन्द कर दिया गया है।

और अब शास्त्रार्थ की रीति भी बदल गई है। यही कारण है कि जैन मुद्रायें अब देखने को नहीं मिलतीं। डॉ० हार्णले साहब को पंजाब से ऐसी मुद्रायें मिली थीं[१] और कनिंघम साहब ने भी जैनस्तूपों के नीचे ऐसी मुद्रायें पाई थीं[२]। किन्तु उनपर जिन प्रतिमा के चिह्न बने होते हैं या नहीं, इस विषय में कुछ भी निश्चयरूप से नहीं कहा जा सकता, जबतक कि प्राप्त मुद्राओं का अध्ययन न किया जाय। हाँ, सिन्धु-उपत्यका से जो प्राचीन मुद्रायें मिली हैं उनमें कायोत्सर्ग प्रतिमायें बनी हुई हैं और वह ठीक वैसी ही हैं कि जैसी जिनप्रतिमा होती हैं[३]। यदि उन मुद्राओं का सम्बन्ध जैन धर्म से प्रमाणित हो सके, जिसका होना बहुत कुछ संभव है, तो यह कहा जा सकता है कि मुद्राओं पर जिन प्रतिमा बनती थीं उनपर धार्मिक चिह्न तो निःसन्देह होते थे।[४]

उपलब्ध जिन प्रतिमाओं पर एक दृष्टि डाल लेना भी उचित है। इन्हें हम तीन भागों में विभक्त करना उचित समझते हैं (१) उत्तर भारतीय (२) दक्षिण भारतीय और (३) पूर्व भारतीय। जैनसम्राट् ऐल खारवेल के समय अथवा उनके भी पहले से जैनधर्म के केन्द्र इन्हीं तीन प्रदेशों में थे। मथुरा, पटना, उज्जैन और काञ्चीपुर जैनधर्म के प्राचीन केन्द्र हैं। इन्हीं केन्द्रस्थानों के अधीन उनके आसपास श्रावकों का होना स्वाभाविक है और उनपर वहाँ के देश और लोगों का प्रभाव पड़ना प्राकृत संगत है। उत्तर भारतीय प्रतिमाओं में हम संयुक्त प्रान्त से गुजरात तक और उधर पंजाब तक की प्रतिमाओं को लेते हैं। ये प्रतिमायें प्रायः एक समान देखने को मिलेंगी। 'एक समान' से हमारा मतलब मुखाकृति, शरीर गठन आदि से है। वैसे स्वरूप में जिन प्रतिमा सर्वत्र एक सी ही रही मिलेगी। पंजाब में तक्षशिला आदि से प्राप्त जिन प्रतिमाओं पर गांधार शिल्प का प्रभाव पड़ा कहा जा सकता है। किन्तु उत्तर भारत की प्राचीन मूर्तियाँ मथुरा की बनी हुई कही जा सकती हैं और वे वर्तमान की प्रतिमाओं से शरीर आकृति आदि में विलक्षण हैं। दक्षिण भारत की जिनमूर्तियाँ भी उत्तर भारत की मूर्तियों से शिल्प

१ Proceedings of the Asiatic Society of Bengal Sept 1884

२ Arch Survey Reports vol III p 137 vol X p 5 and vol XI pp 15 30

३ रा० ब० मि० रामप्रसाद चन्दा ने यह सादृश्य अंग्रेजी के प्रसिद्ध पत्र "माडर्नरिव्यू" के अगस्त १९३२ के अंक में एक लेख लिखकर प्रकट किया है। वह लिखते हैं कि ऋषभ जिन की कायोत्सर्ग मूर्ति से सिन्धु मुद्राओं पर की मूर्तियाँ बिलकुल सादृश्य रखती हैं। (It will be seen that the pose of this image (Image of Rishabha) closely resembles the standing dieties on the Indus seals' p 159)

४ हमारी 'भगवान महावीर' नामक पुस्तक देखो।

नैपुण्य में भिन्नता रखती हैं। उनपर द्राविड़ लोगों की संस्कृति का प्रभाव पड़ा है और वे उन्हीं की शरीर-आकृति को प्रकट करती हैं। इसी तरह पूर्व भारत अर्थात् बङ्गाल, विहार और ओड़ीसा की जिन-मूर्तियां वहां के चेत्र मनुष्य और शिल्प का प्रभाव प्रकट करती हैं। इन देशों की जिनमूर्तियों पर एक दृष्टि डालने से यह मूर्ति-गढ़ने का भेद स्पष्ट हो जाता है।

उपलब्ध प्रतिमाओं में विशेष उल्लेखनीय दक्षिण भारत की गोम्मट मूर्तियां हैं। ये विशालकाय मूर्तियां संसार में अपने ढंग की एक हैं। इनमें सब से बड़ी प्रतिमा श्रवणबेलगोल में ५६३ फीट ऊँची है। कारकल और वेणूर की प्रतिमायें इससे छोटी हैं। ये दीर्घकायिक प्रतिमायें शिल्प के अपूर्व आदर्श हैं और विद्वान इनकी गिनती जगत की आश्चर्यमय वस्तुओं में करते हैं।

कुछ ऐसी जिन-प्रतिमायें भी मिली हैं जो नितान्त विलक्षण हैं। लखनऊ के अजायब घर में एक मूर्ति (No J 18) ऐसी है, जिस में तेईस तीर्थंकरों के बीच में ऋषभदेव की भव्यमूर्ति स्थापित है और उसके बाल कंधों तक बिखरे हुए हैं। अलाहाबाद के किसी एक मंदिर में भी, मुझे याद पड़ता है कि मैं ने कुछ ऐसी ही प्रतिमायें देखी थीं। चौमुखी प्रतिमायें तो बहुत मिलती हैं। धरणेन्द्र-पद्मावती की मूर्ति पर के फणमण्डल पर बनी हुई जिन प्रतिमायें मिलती हैं। दिल्ली के उर्दू (लाल) मंदिर में मैं ने एक ऐसी मूर्ति के दर्शन किये हैं। किन्तु सब से विलक्षण मूर्ति वह है जो लन्दन के 'विक्टोरिया-अलबर्ट म्यूज़ियम' में नं० ४५१ (451 I S.) पर रक्खी हुई है। यह मूर्ति उक्त म्यूज़ियम को 'ईस्ट-इंडिया कम्पनी' द्वारा भेंट की गई थी। यह मूर्ति लाल पाषाण की पर्यंकासन में चन्द्र चिह्न को लिये हुई है, जिस से उसका चन्द्रप्रभ जिन की होना स्पष्ट है। वह १४½ इञ्च ऊंची और ४½ इंच चौड़ी है। उसका मुख ६¾ इञ्च चौड़ा है और उस में बिलक्षणता यह है कि उसके सात मुख बने हुए हैं। उस मूर्ति के सीधे हाथ की हथेली पर एक चौकोन चिह्न ( ) बना हुआ है। उस पर एक लेख तीन पंक्तियों में है, जिस का अक्स डा० लक्ष्मीचन्द्र जी ने भेजने की कृपा की। उस पर से वह लेख इस प्रकार पढ़ा जाता है :—

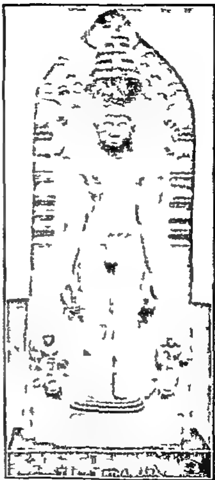
"सं० १९२६ वैं० सु० (यहां पर अर्धचंद्राकार चिह्न है) गुरु माधो पु मू (?)

भ० सुरेन्द्रकीर्त तदा० सं० नंदलालेन प्र० तिष्ठे करापितं"

इस से प्रकट है कि यह मूर्ति सन् १८६९ में किन्हीं भ० सुरेन्द्रकीर्ति द्वारा माधोपुर में प्रतिष्ठित हुई थी और वह प्रतिष्ठा सिंघई नंदलाल ने करवाई थी। सं० १५४८ में सेठ



सप्तमुख जिन प्रतिमा
(पृष्ठ १६ देखिये)



भारी जिन की मूर्ति
(दक्षिण भारतीय कला)

जीवराज पापडीवालेने सहर मुडासे में अगणित जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा कराई थी। उनकी प्रतिष्ठा कराई हुई प्रतिमाय सारे उत्तर भारत के जिन मन्दिरों में मिलती हैं। मालूम होता है कि मुसलमान आक्रमणकों द्वारा जिन मूर्तियों का एकदम संहार हुआ देखकर उनकी पूर्ति के लिये सेठ जीवराज जी ने अगणित प्रतिमाय प्रतिष्ठित कराई थीं। यह उनकी धर्मप्रभावना का विशेष कार्य था। इतिशम्।*



*इस लेख सम्बन्धी मूर्तियों के चित्र ब्रिटिश म्यूजियम तथा अलबर्ट म्यूजियम लन्दन के सौजन्य और आज्ञा से प्रकट किये जाते हैं। असली मूर्तियों के फोटो श्रीमान् बैरिस्टर चम्पत राय जी जैन विद्यावारिधि की कृपा से प्राप्त हुए हैं—एतदर्थ हम उनका भी आभार स्वीकार करते हैं। —सम्पादक

प्रमाणनयतत्वालोकालंकार की समीक्षा

(ले०—पंडित वंशीधर जी, व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, साहित्य-शास्त्री)

---

(१)

प्रकृत ग्रन्थ में प्रमाण, प्रमाणाभासों तथा नय, नयाभासों का विवेचन सूत्रों द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ के देखने से मालूम पड़ता है, कि वास्तव में यह ग्रन्थ सूत्र-ग्रन्थों की कोटि से अधिक पीछे है। सूत्रों में सरलता, लघुता, पूर्वापर संबन्ध-ग्राहकता पद-सार्थकता आदि आदि बातें अधिक अपेक्षणीय रहती हैं, जो कि इस ग्रन्थ में नहीं पायी जाती हैं। कहीं कहीं पर तो सूत्रों तक की निरर्थकता भी पायी जाती है।

ग्रन्थ का आधार तथा ग्रन्थ कर्त्ता का इस के गोपन करने का असफल प्रयत्न

यह ग्रन्थ दिगम्बराचार्य श्रीमाणिक्यनन्दी के सूत्रग्रन्थ परीक्षामुख के आधार पर लिखा गया है तथा इसके बहुत कुछ विषय का आधार परीक्षामुख की टीका प्रमेयकमल मार्तण्ड जान पड़ता है। यों तो प्रायः सभी ग्रन्थों में दूसरे ग्रन्थों का कुछ न कुछ मिश्रण पाया जाता है किन्तु इस ग्रन्थ में परीक्षामुख का विचित्र रूप से ही संमिश्रण किया गया है। ग्रन्थकर्ता ने परीक्षामुख से भेद पैदा करने के लिये सूत्रों में शब्द-परिवर्तन का ही प्रायः सर्वत्र ध्यान रक्खा है।

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२—१॥ परीक्षा मु०

अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम् ॥२—१॥

प्र० न० तत्वा०।

इसी तरह का शब्दपरिवर्तन ही सर्वत्र पाया जाता है। इस ग्रन्थ में कम से कम परीक्षामुख के विषय में यदि मौलिकता खोजी जाय तो कहीं कहीं पर मिल सकती है लेकिन बहुत कम, और वह भी विशेष महत्व की नहीं। कहा जा सकता है कि जब प्रतिपाद्य विषय एक है तो मौलिकता कहाँ से आ सकती है? लेकिन बात ऐसी नहीं है; मौलिकता रचयिता की रचनाशैली से आती है। भले ही प्रतिपाद्य विषय एक हो पर, जहाँ शब्द-परिवर्तन ही नहीं, कहीं कहीं पर तो अनुचित शब्दपरिवर्तन से ही ग्रन्थरचना की गयी है वहाँ पर मौलिकता की खोज करना असफल प्रयत्न ही कहा जायगा।

इस ग्रन्थ में परीक्षामुख से भेद दिखलाने के लिये जो शब्द परिवर्तन किया गया है उस से सूत्रों में कुछ काठिन्य आजाना स्वाभाविक है किन्तु सूत्रों के देखने से जान पड़ता है कि ग्रन्थकर्त्ता को काठिन्यप्रिय भी था जिससे स्थान स्थान पर शब्दाडम्बरता को भी खूब स्थान मिला है।

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात् सहोत्पादाच्च ॥६–३॥ (परीक्षामुख)

सहचारिणोः परस्परस्वरूपत्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः,

सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च, सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः ॥७८–३॥

प्र० न० तत्वा०।

इन दोनों सूत्रों के देखने से मालूम पड़ सकता है कि परीक्षामुख के सूत्र में कितनी सरलता व लघुता पायी जाती है तथा प्रमाणनयतत्वालोकालङ्कार के सूत्र में कितनी कठिनता व शब्दाडम्बरता पायी जाती है। इस सूत्र पर विशेष विचार आगे किया जायगा।

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११–३॥

इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ॥१२–३॥ परीक्षामुख०।

उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनम्,

इदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः ॥ ७–३ ॥

प्र० न० तत्वा०।

परीक्षामुख के दोनों सूत्र सरल और लघु होते हुए भी जिस अर्थ का स्पष्ट बोधन कर रहे हैं उसी अर्थ को प्रमाणनयतत्वालोकालङ्कार का कठिन सूत्र परिमाण में उन दोनों सूत्रों से लम्बा होता हुआ भी स्पष्ट बोधन नहीं कर सका है, इसीलिये सूत्र में दो आदि शब्द ग्रन्थकार को प्रविष्ट करने पड़े हैं। इस सूत्र में "त्रिकालीकलित" यह अंश निरर्थक ही है कारण व्याप्ति सर्वोपसंहारवती ही होती है अर्थात् सब देश, सब काल को व्याप्त करके ही रहती है इसलिये इस अंश के बिना भी यह अर्थ आगे के अंश से निकल ही आता है। जान पड़ता है ग्रन्थकार इस सूत्र को बनाते समय अवश्य ही किसी दूसरे विचार में मग्न थे अन्यथा वे "त्रिकालीकलित" इस अंश के साथ "सर्वदेशकलित" इस अंश का भी सूत्र में निवेश करने से नहीं चूकते, कारण कि उनके मतानुसार इस अंश के अभाव में भी सूत्र के अर्थ में कमी रह जाती है। हो सकता है कि ग्रन्थकार ने सूत्र के लम्बेपन के भय से ही इस अंश का निवेश न किया हो। यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थकार को इस बात का बहुत भय था कि हमारा ग्रन्थ परीक्षामुख की नकल न समझ लिया जाय, इसलिये उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना को स्वतंत्र सिद्ध करने में अधिक परिश्रम किया

है इसका दिग्दर्शन ऊपर करा ही दिया गया है, तथा इसके लिये ग्रन्थ में जहाँ भी अधिक लिखने की स्वतंत्रता मिली है वहां पर उन्होंने कुछ न कुछ लिख ही डाला है। कहीं कहीं पर तो इसी विचार में परीक्षामुख के कई उपयोगी सूत्रों का विषय भी छोड़ देना पड़ा है। इन दोनों ग्रन्थों को देखने से मालूम पड सकता है। यहां पर लेख बढ़ जाने के भय से नहीं लिखा गया है। इनके विषय में इस ग्रन्थ को देखते हुए यह तो नहीं कहा जा सकता, कि ग्रन्थकर्ता ने उनके लिखने की आवश्यकता नहीं समझी, कारण कि इस ग्रन्थ में मामूली भी बात को सूत्र में स्थान दिया गया है।

कहीं कहीं पर सूत्र-परिवर्तन के कारण ग्रन्थकार इतनी दूर पहुंच गये हैं, कि परीक्षामुख की भावपूर्ण वर्णनशैली भी जाती रही है, इसके लिये अनुमान प्रकरण का वह स्थल, जहां पर उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान में अप्रयोजक सिद्ध किया गया है, विशेषतया उल्लेखनीय है। दोनों ग्रन्थों के तीसरे परिच्छेद में इस प्रकरण को देखने से इस कथन की सत्यता का भलोभांति अनुभव होता है। इस लेख में भी आगे इन सूत्रों को उद्धृत किया जायगा।

इस ग्रन्थ में जितने दृष्टान्त दिये गये हैं उनमें परिवर्तन के कारण अप्रसिद्धों को बहुत स्थान मिला है, जैसे—

(१) घटमहमात्मना वेद्मि ॥ ८—१ ॥ परीक्षामुख०।
करिकलभकमहमात्मना जानामि ॥ १६—१ ॥ प्र० न० तत्वा०।

(२) प्रदीपवत् ॥ १२—१ ॥ परीक्षामुख०।
मिहिरालोकवत् ॥ १७—१ ॥ प्र० न० तत्वा०।

दृष्टान्तों में शब्दाडम्बरता की स्वतंत्रता का पूरा पूरा उपयोग किया गया है।

(३) यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥ ५२—६ ॥ परीक्षामुख०।
यथा मेकलकन्यकायाः कूले तालहिन्तालयोर्मूले सुलभाः
पिण्डखर्जूराः सन्ति त्वरितं गच्छत गच्छत शावकाः ॥ ८४—६ ॥

(४) यथा पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपति-
प्रतिमाम् ॥ २७—३ ॥ प्र० न० तत्वा० ॥

कहीं कहीं पर शब्दों के परिवर्तन से परीक्षामुख के भाव को भी धक्का पहुँचा है।

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ? ॥ ११—१ ॥ परीक्षामुख०।

कः खलु ज्ञानस्यालम्बनं बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत ? ॥ १७—१ ॥ प्र० न० तत्वा० ॥

परीक्षामुख के सूत्र में जो कोमलतासहित उपहास प्रदर्शित किया गया है वह इस सूत्र में कठोरता को लिये हुए नजर आता है। वास्तव में तो इसे उपहास कहना ही व्यर्थ है यहां पर तो कठोरता को लिये हुए अपने वचन का समर्थन ही प्रतीत होता है।

इसमें पूर्वापर संबन्धराहकता का अभाव भी कम नहीं है। जैसे—

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानम् ॥ २३—३ ॥

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत्

पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४—३ ॥

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ॥ २५—३ ॥

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थं प्रत्यक्षं परप्रत्यक्षहेतुत्वात् ॥ २६—३ ॥

यथा पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपतिप्रतिमाम् ॥ २७—३ ॥

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ २८—३ ॥

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ २९—३ ॥

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥ ३०—३ ॥

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३१—३ ॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥३२—३॥

न दृष्टान्तादि वचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्याः पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३—३ ॥ प्र० न० तत्वा० ॥

यहां पर सूत्र नं० २३ में परार्थानुमान का लक्षण कहा गया है। उस में बतलाया है कि पक्ष और हेतु के प्रयोग को परार्थानुमान कहते हैं। सूत्र नं० २४, २५ में परार्थानुमान में पक्ष प्रयोग की आवश्यकता बतलाया है। इसके आगे क्रम प्राप्त तो हेतुप्रयोग का विवरण था लेकिन ग्रंथकार ने उसको छोड़ कर सूत्र नं० २६, २७ में परार्थ प्रत्यक्ष का स्वरूप दृष्टान्त बतलाया है। इस क्रम का समर्थन इसकी टीका स्याद्वादरत्नाकरावतारिका के कर्ता ने प्रासङ्गिक मान कर किया है। यह ठीक है कि प्रसङ्ग पाकर किसी वस्तु का विवेचन किया जा सकता है लेकिन जहां पर प्रसङ्ग हो वहीं पर वह विवेचन उपयुक्त होता है। इसलिये ग्रंथकार को यदि परार्थ प्रत्यक्ष का कथन करना अभीष्ट ही था तो परार्थानुमान के लक्षण के बाद ही सूत्र नं० २४, २५ में उसका विवरण कर सकते थे

कारण वहीं पर उसका प्रसङ्ग है पश्चात् सूत्र नं० २६, २७ में पक्ष-वचन का समर्थन करने से आगे के कथन से उसका संबन्ध संगत हो जाता। ग्रन्थकार का ऐसे क्रम की उपेक्षा करके सूत्रनिर्माण में परोक्षामुख से भेद दिखलाने के अतिरिक्त क्या आशय था सो समझ में नहीं आता। इसके आगे भी क्रमभंग किया है। नं० २८ का सूत्र वास्तव में अपने स्थान पर अनुपयुक्त है. कारण कि उसका संबन्ध सूत्र नं० ३३ के साथ अधिक है इसलिये सूत्र नं० २६, ३०. ३१. ३२ को क्रम से २८, २९. ३०, ३१ नं० पर लिखकर नं० ३२ पर ही उसे लिखा जाना चाहिये, ऐसा करने से सूत्रों का क्रम इस प्रकार हो जाता है—

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ॥ २३—३ ॥

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थं प्रत्यक्षं परप्रत्यक्षहेतुत्वात् ॥२४॥

यथा पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपतिप्रतिमाम्॥ २५—३॥

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत् पक्षप्रयोगो-ऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २६—३ ॥

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गी-कुरुते ॥ २७ —३ ॥

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ २८—३ ॥

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथा-नुपपत्तिः ॥ २९—३ ॥

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः सत्येव कृशानुमत्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः. असत्यनुप-पत्तेर्वा ॥ ३० —३ ॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥ ३१—३ ॥

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ ३२—३ ॥

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोप-लब्धेः ॥ ३३—३ ॥

पाठक देखेंगे कि यह क्रम कितना संबद्ध बन जाता है! आगे इस लेख में आवश्यकता-नुसार इन सूत्रों के नं० इसी क्रम से दिये जायँगे।

इन सूत्रों में पदों की असंगतता व निरर्थकता भी पायी जाती है। सूत्र नं० २४ में "परार्थ" पद नहीं देकर यदि 'प्रत्यक्षं" पद के आगे "अपि" शब्द का प्रयोग करके "परार्थ" पद का अर्थ निकाला जाता तो अधिक संगत होता। सूत्र नं० २९ में "असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः" इस के स्थान में सूत्रत्व की दृष्टि से "असति त्वनुपपत्ति-रेवान्यथानुपपत्ति." ऐसा पाठ ही संगत जान पड़ता है। "साध्ये हेतोः" इतने अंश का इसी

सूत्र के पूर्व अंश में से अनुसंधान हो सकता है। इसी के दृष्टान्त सूत्र नं० ३० में स्वयं ग्रन्थ कारने भी "कृशानुमत्वे धूमवत्वस्य" इस अंश का "असन्त्यनुपपत्तेर्वा" इसमें अनुसंधान किया है। इसी तरह सूत्र नं० २८ में "द्विप्रकार" यह पद न भी दिया जाय तो भी सूत्र का अर्थ असंगत नहीं होता है, इसलिये "द्वि प्रकार" यह पद यहां पर निरर्थक ही है। सूत्र नं० ३२ में "पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव" की जगह "एतल्लक्षणमवयवद्वयमेव" यह अंश उपयुक्त कहा जा सकता है, कारण कि परार्थानुमान में पक्ष प्रयोग और हेतु प्रयोग के समर्थन का ही यहां पर प्रकरण है इसलिये सूत्र नं० २३ में परार्थानुमान के लक्षण में कहे हुए "पक्षहेतुवचनात्मक" इस पद का "एतत्" इस सर्वनाम पद से अनुसंधान हो सकता है। यदि कहा जाय कि "एतत्" पद से समीप में कहे हुए तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति दोनों हेतुओं का भी अनुसंधान हो सकता है इसलिये सन्देह को दूर करने के लिये सूत्र में "एतत्" पद का पाठ नहीं करके "पक्षहेतुवचन" इसका पाठ किया है। तो इसका उत्तर यह है कि पक्ष को परार्थानुमान का अंग मानना चाहिये। इसका समर्थन स्वयं ग्रन्थकार ने ही पहिले कर दिया है। इसके साथ यदि हेतु के दोनों भेदों को शामिल करते हैं तो परार्थानुमान के दो अंग नहीं होंगे, तीन हो जायेंगे। इससे ग्रन्थकार का दो अवयव स्वीकार करना असंगत ठहरेगा। दूसरी बात यह है कि एक अनुमान में तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति दोनों हेतुओं में से एक ही रहता है ऐसा ग्रन्थकार भी प्रतिपादन कर रहे हैं इसलिये फिर भी अनुमान के दो अंग नहीं सिद्ध होंगे। तीसरी बात यह है कि यहां पर पक्षप्रयोग और हेतुप्रयोग के वर्णन की प्रधानता है, न कि हेतु के भेदों को, इसलिये "प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः" (समीप की अपेक्षा प्रधान का ही अनुसंधायक पद से ग्रहण होता है) इस न्याय से पक्ष और हेतु-वचन का ही "एतत्" पद से अनुसंधान होगा, हेतु के भेद तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति का नहीं होगा। चौथी बात यह है कि ग्रन्थकार ने जो क्रम सूत्रों का रक्खा है उसमें हेतु के भेदों का कथन इस सूत्र के बाद ही किया है इसलिये उस क्रम में तो "एतत्" पद से तथोपपत्ति अन्यथानुपपत्ति हेतुओं का अनुसंधान होना असम्भव ही है इसलिये इस सूत्र में "पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव" इसके स्थान में "एतल्लक्षणमवयवद्वयमेव" पाठ रखना उचित है। "एतल्लक्षणमवयवद्वयमेव" इसके भी स्थान में यदि "एतद्द्वयमेव" ऐसा पाठ कर दिया जाय तो सूत्र में और भी अधिक लघुता हो जाती है तथा अर्थप्रतीति में भी कोई बाधा नहीं पहुंचती है। लेकिन यह पद तो परीक्षामुख का है इसलिये ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में कैसे रख सकते थे ; उन्होंने तो इसी के भय से "एतत्" पद तक सूत्र में नहीं आने दिया। उन को अपने सूत्रों में परीक्षामुख से भेद लाने का अधिक ध्यान था सूत्रपन का ध्यान कम था, अस्तु! सूत्र नं०

३३ के आगे सूत्रों का क्रम ग्रन्थकर्ताने इस प्रकार लिखा है।

न च हेतोरन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ ३४—३ ॥

नियतैकस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तरापेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवार समवतारः ॥ ३५-३ ॥

नाप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६—३ ॥

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् ॥३७-३॥

पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिरन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः ॥३८-३॥

यथानेकान्तात्मकं वस्तु सत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति, अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थानमिति च ॥ ३९ ॥

नोपनयनिगमनयोरपि परप्रतिपत्तौ सामर्थ्यं पक्षहेतुप्रयोगादेव तस्याः सद्भावात् ॥४०-३ ॥ प्र० न० तत्वा० ।

ग्रन्थकार के द्वारा न० २८ पर कहे हुए सूत्र को पहिले कहे अनुसार न० ३२ पर पढ़ने से सूत्र न० ३३ में भी "न दृष्टान्तवचनं" इसके स्थान में "तद्धि" ऐसा ही पाठ करना चाहिये जिससे सूत्र का स्वरूप इस प्रकार हो जाता है—

तद्धि न परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३-३ ॥

इसके आगे सूत्र न० ३४ को इस प्रकार पढ़ना चाहिये—

न च दृष्टान्तवचनं हेतोरन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥३४-३॥

इस सूत्र में "दृष्टान्तवचन" यह पद इसलिये पढ़ना चाहिये कि सूत्र नं० ३३ में "तद्धि" पद से सूत्र नं० ३२ में कहे हुए ' न दृष्टान्तादि वचनम्" इस पद का ग्रहण होता है, इसलिये सूत्र नं० ३४ में यदि उसका अनुसंधान किया जायगा, तो दृष्टान्त के साथ उस सूत्र मे आदि शब्द से ग्रहण किये गये उपनय और निगमन का भी इस में ग्रहण करना पड़ेगा, जो कि अनिष्ट है इसलिये सूत्र न० ३४ मे "दृष्टान्तवचनं" इस पद का पाठ करना आवश्यक है। फिर भी इस से सूत्रो मे गौरव नहीं होता, कारण कि जो "दृष्टान्त वचनम्" यह पद सूत्र नं० ३३ में था उसीको वहां पर नहीं पढ़ कर के सूत्र नं० ३४ में पढ़ दिया गया है। आगे के सूत्रों का क्रम व स्वरूप जैसा है वैसा ही रहना चाहिये, केवल इस प्रकार के परिर्तन से सूत्र नं० ४० की बिल्कुल आवश्यकता नहीं रह जाती है कारण की सूत्र नं० ३३ मे कहे हुए "तद्धि" पद से सूत्र नं० ३२ के "न दृष्टान्तादि वचनम्" इस अंश का ग्रहण कर लिया गया है, जिस से उस में कहे हुए आदि शब्द से उपनय और निगमन का बोध हो जाता है, जैसा कि स्वयं

ग्रन्थकार ने सूत्र नं० ३२ में 'न दृष्टान्तादि वचनम्" इस में कहे हुए आदि शब्द से उपनय और निगमन का ग्रहण किया है, इसलिये जब सूत्र नं० ३३ से ही उपनय और निगमन को परप्रतिपत्ति में कारणता का निषेध हो जाता है। तो सूत्र नं० ४० की निष्प्रयोजनता स्पष्ट ही है। वास्तव में जब सूत्रों में ऐसे लाघव का ध्यान रक्खा जाता है तभी वे सूत्र की कक्षा को प्राप्त कर सकते हैं नहीं तो व वाक्य ही कहे जा सकते हैं।

यदि कहा जाय, कि आगे इस ग्रन्थ में उपनय और निगमन का लक्षण किया गया है इसलिये उसके पहले इनका उद्देश करना आवश्यक होने से उपनय और निगमन का उद्देश करने के लिये सूत्र नं० ४० आवश्यक हो जाता है। तो इसका उत्तर इस प्रकार है कि फिर तो "न दृष्टान्तादि वचनम्' इसके स्थान में "न दृष्टान्तोपनयनिगमनवचनम्' ऐसा पाठ करना ही योग्य था अन्यथा कहा जा सकता है कि जब सूत्र नं० ३२ के पहिले किसी भी सूत्र में उपनय निगमन का कथन नहीं है तो सूत्र नं० ३२ में आदि शब्द से उनका ग्रहण ग्रन्थकर्ता ने कैसे कर लिया है। यदि कहा जाय कि अन्य दर्शनकारों ने इनका प्रयोग किया है इसलिये प्रसिद्धि के कारण आदि शब्द से ही उनका बोध हो जाता है तो फिर प्रसिद्ध होने के कारण उनके लक्षण करने के लिये भी उद्देश की आवश्यकता नहीं रह जाती है। वास्तव में तो ग्रन्थकार को अपने ग्रन्थ में उनका उद्देशात्मक कथन करना चाहिये और वह "न दृष्टान्तादि वचनम्" के स्थान में "न दृष्टान्तोपनयनिगमनवचनम्" ऐसा पाठ करने से ही उपयुक्त होता है, इसके लिये सूत्र नं० ४० की आवश्यकता नहीं है। इस स्थान पर परीक्षामुख का सूत्रक्रम अत्यन्त गंभीर भाव का हृदयस्थ करके लिखा गया है। पाठकों की जानकारी के लिये उनका यहां पर निर्देश कर देना आवश्यक समझता हूँ।

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३७ ३ ॥

नहि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥ ३८ ३ ॥

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा, विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥ ३९ ३ ॥

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ४० ३ ॥

नापि व्याप्तिस्मरणाय तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥ ४१ ३ ॥

तत्परममभिधीयमानम् साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ॥ ४२-३ ॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥ ४३ ३ ॥

न च ते तदङ्गे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥ ४४ ३ ॥ परीक्षामुख ॥

(क्रमशः)

नीतिवाक्यामृत और कन्नड-कवि नेमिनाथ

(ले० पण्डित के० भुजबली जी शास्त्री)

———:*:———

गत वर्ष जब घर गया था तब कारकल के जैनमठावास में संचित कुछ ताडपत्रांकित ग्रन्थों के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उन ग्रन्थों में से एक सोमदेव सूरिकृत नीतिवाक्यामृत की कन्नड टीका भी थी। इस टीका के रचयिता नेमिनाथ हैं। इन्होंने ग्रन्थ के आदि और अन्त में मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव एवं वीरनन्दी सिद्धान्त-चक्रवर्ती को बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है। इनके समाप्तिसूचक अन्तिम वाक्य इस प्रकार हैं:—
"स्वस्ति [समस्तानवद्यविद्याविलासिनी विलासमूर्त्ति सकलसैद्धान्तचक्रवर्त्तिसम प्रसन्न कविराज विद्वज्जनमनस्सरसि-मराल श्रीमन्मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव दिव्यप्रसादासादितात्म-प्रभाव श्रीमद्वीरनन्दि सैद्धान्तदेव प्रसाद प्राप्त प्रसन्नकवितारामासमासादित विविध प्रेम निज कुलकुवलयानन्दसोम पूर्वदक्षि सन्धिविग्रपदविन्यासद श्रीमन्नेमिनाथ रचित नीति-वाक्यामृतवृत्ति सकलार्थदीपवर्त्ति सर्वशास्त्रमूर्त्ति चन्द्रार्कतारं बरं निल्के मङ्गलम्"।

अब सर्वप्रथम त्रैविद्यदेव मेघचन्द्र एवं सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरनन्दी के सम्बन्ध में कुछ विचार करना है। वीरनन्दी के गुरु यह मेघचन्द्र वही हैं जिनकी प्रशंसा आचारसार की प्रशस्ति एवं श्रवणबेल्गोल के कई शिलालेखों में दृष्टिगोचर होती है। यह मूलसंघ पुस्तकगच्छ एवं देशीयगण के आचार्य थे। इनकी गणना बहुत बड़े विद्वानों में है।

तर्कन्यायसुवज्रवेदिरमलार्हत्सूक्तिसन्मौक्तिकः
शब्दग्रन्थविशुद्धशंखकलितः स्याद्वादसद्विद्रुम ।
व्याख्यानोर्जितपोषणप्रविपुलप्रक्षोद्धवीचीचयो—
जीयाद्विश्रुतमेघचन्द्रमुनिपस्त्रैविद्यरत्नाकरः ॥

श्रीमूलसंघकृतपुस्तकगच्छदेशी—
योद्यद्गणाधिपसुतार्किकचक्रवर्ती ।
सैद्धांतिकेश्वरशिखामणिमेघचन्द्र—
स्त्रैविद्यदेव इति सद्विबुधाः स्तुवन्ति ॥

सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्त्राब्जनीभास्करः
षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविबुध साक्षादयं भूतले ।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्
त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपंचाननः ॥

श्रवणबेल्गोल के ४७ न० क शिलालेखगत उल्लिखित श्लोको से ज्ञात होता है कि 'मेघचन्द्र' जी न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त आदि अनेक विषयो के प्रखर विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त यहा के न० ४१, ५०, ५३, ५५ और ५२ के शिलालेखो म भी इनका विशद वर्णन मिलता है। वीरनन्दी के सिवा इन मेघचन्द्र के प्रभाचद्र शमकीर्ति आदि कई शिष्य थे, जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के अन्यान्य शिलालेखो में पाया जाता है। "कर्नाटक कवि चरिते" १ म भाग पृष्ठ १३२ से विदित होता है कि इन मेघचन्द्र ने ११४८ ई० में आचार्य पूज्यपाद के समाधिशतक की एक टीका* लिखी थी।

'कविचरिते' के लेखक का अनुमान है कि यह मेघचन्द्र ११७७ ई० में परलोकगत नयकीर्ति जी के शिष्य थे। "विनययशोनिधि पम्पन सुतगे तिळियल्कु पोद्ध पोसगन्नडदिं" समाधिशतक टीका के इस उल्लिखित पद्यभाग से मालूम होता है कि मेघचन्द्र ने महाकवि पंपके सुपुत्र के लिये ही इस टीका का प्रणयन किया है। अगर यह 'पम्प' अभिनव पम्प (नागचन्द्र) ही हों तो इनके देहावसान के उपरान्त इन्हीं के लड़के के लिये मेघचन्द्र ने उक्त समाधिशतक की टीका लिखी होगी। यह अभिनव पम्प यश प्राप्त कन्नड कवियो में से एक हैं। इनके स्मारकरूप में हाल ही में कर्नाटकसंघ कर्नाटक कौलेज धारवाड की ओरसे एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हुई है। यह सुप्रसिद्ध पांच कन्नड साहित्य महारथियों के—'पम्प' का काल निर्णय, पम्प की रचनाशैली आदि भिन्न भिन्न विषयो पर विस्तृत और गवेषणापूर्ण पाच लेखों से समलंकृत है। इसके भूमिका लेखक प्रख्यात कवि एवं लेखक श्रीमान् B M श्रीकण्ठय्य M A B L बंगलूर हैं।

अस्तु अब मेघचन्द्र के शिष्य सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरनन्दी जी की ओर आप दृष्टिपात करें। श्रवणबेल्गोल के शिलालेखो के अतिरिक्त 'आचारसार' क अन्त म जो प्रशस्ति दी गयी है इस वीरनन्दी और इनके गुरु मेघचन्द्र जी का बहुत कुछ वर्णन मिलता है।

> "सिद्धान्तार्णवपूर्णतारकपतिस्तर्काम्बुजाहर्पति
> शब्दोद्यानवनामृतोऽसरणिर्योगीन्द्रचूडामणि।
> सं विद्यापरसाधनामविभव प्रोद्धूतचेतोभव
> स्थेयाद्भव्यमृताजनीमृदशनि श्रीमेघचन्द्रो मुनि ॥३०॥
> यद्वाक् क्षीरधर्तसमण्डनमणिर्यद्ध्यद्दिग्धत्रिनाम्
> यद्यारित्रविचित्रता शमभृतां सूत्र पवित्रात्मनाम्।
> यत्कीर्तिर्धवलप्रसादनधुर धत्ते धरायोषित
> स त्रैविद्यविभूषणं विजयते श्रीमेघचन्द्रो मुनि ॥३१॥

* Indian antiquary vol XIV Page 14

वैदग्ध्यश्रीवधूटीपतिरतुलगुणालङ्कृतिर्मेघचन्द्र-

स्त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः

सैद्धान्तिव्यूहचूडामणिरनुकल्पचिन्तामणिर्भूजनानाम

योऽभूत्तैजन्यकन्द्रश्रियमवति महो वीरनन्दी मुनीन्द्रः ॥३२॥

श्रीमेघचन्द्रोज्ज्वलमूर्त्तिकीर्त्तिः

समस्तसैद्धान्तिकचक्रवर्त्ती

श्रीवीरनन्दी कृतवानुदार—

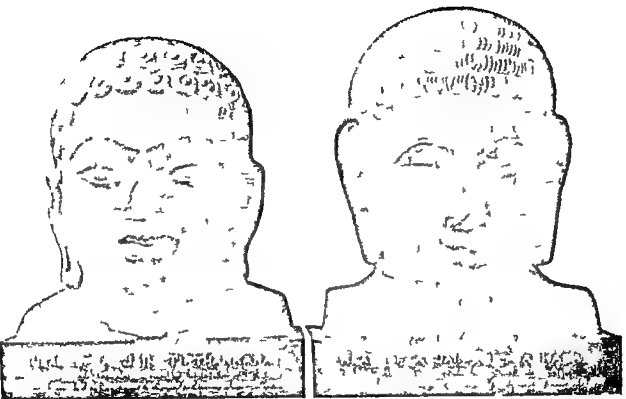
माचारसारं यतिवृत्तसारम् ॥३३॥

अब देखना है कि 'वीरनन्दी' कब हुए। श्रवण बेल्गोल के नं० ४७-५० और ५२ के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वीरनन्दी के गुरु आचार्य मेघचन्द्र का स्वर्गवास शक सम्वत् १०३७ वि०.स० ११७२ में और इनके एक शिष्य शुभचन्द्र देव का स्वर्गवास शक सं० १०६८ वि० सं० १२०३ में हुआ था। इन्हीं आचार्य मेघचन्द्रजी के शिष्य प्रभाचन्द्र ने शक सं० १०४१ वि० सं० ११७६ में एक महा पूजा करायी थी।

इन आधारों का ही आश्रय लेकर पं० नाथूराम प्रेमी जी ने माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला में प्रकाशित "आचारसार" के निवेदन में श्रीवीरनन्दीजी का समय १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित किया है। आप का वीरनंदी जी का यह कालनिश्चय अनुमानपरक है। किन्तु इनके समय-निर्णय के लिये हमारे सामने एक और सुदृढ प्रमाण मौजूद है। वह यह है कि इस वीरनंदी ने शक सं० १०७६ वि० सं० १२११ मे स्वरचित आचारसार की एक कन्नड टीका * लिखी है। इससे तो आचार वीरनंदी का काल १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध न होकर १३ वीं शताब्दी का प्रारंभिक काल निर्विवाद सिद्ध होता है। ज्ञात होता है कि "कर्नाटककविचरिते" के इस भाग के प्रकाशित नहीं होने के कारण ही उल्लिखित सबल प्रमाण को प्रस्तुत करने से प्रेमी जी को वञ्चित रहना पडा।

इस लेख के प्रकृत लक्ष्यभूत नेमिनाथ जी के समय के विषय में भी कुछ विचार करना परमावश्यक है। "सिद्धान्तचक्रवर्त्याख्येद्धवीरनन्दियतिनाथाज्ञा" आदि टीका के प्रारंभ के इस द्वितीय पद्य से ज्ञात होता है कि इन्होंने सिद्धांतचक्रवर्त्ती वीरनन्दी की आज्ञा से ही नीतिवाक्यामृत की यह कन्नड टीका लिखी है। इससे यह सहसा सिद्ध होता है कि नेमिनाथ जी वीरनन्दी जी के सम-सामयिक थे। अतः नेमिनाथ का भी समय १३ वीं शताब्दी का प्रारंभ निश्चित रहा। इन्होंने टीका के अन्त में अपने को 'सन्धि विग्रही' बतलाया है। परन्तु पता नहीं लगता है कि यह कहां और किस राजा के आश्रय में रह

१—कर्नाटककविचरिते २ य भाग पृष्ठ १८



मथुरा से प्राप्त जिनमूर्तियों की मुखमुद्रा।

("जैन मूर्तियाँ" शीर्षक लेख देखिये)

कर सन्धि विग्रह का कार्य सम्पन्न करते थे। नेमिनाथ जी ने अपने को 'बुधविनुत' भी लिखा है। सम्भव है कि बहुतेरे पण्डित इनका समादर करते हो। इसमें सन्देह नहीं है कि संस्कृत पाण्डित्य के साथ साथ यह एक राजनीतिज्ञ भी थे।

अब कन्नड व्याख्या पर भी एक नजर दौड़ाना कोई अप्रासंगिक नहीं होगा। नीतिवाक्यामृत इस मूल ग्रंथ के रचयिता पूज्यपाद श्रीसोमदेव सूरि हैं। यह ग्रंथ संस्कृत साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। राजनीति ही इस ग्रंथ का प्रधान विषय है। इसमें राजा और राज्यशासन से सम्बन्ध रखने वाली प्राय सभी बातों पर विचार किया गया है। यह सम्पूर्ण ग्रंथ पद्यमय है। इसकी प्रतिपादन शैली सुलभ, सुन्दर, सरित एवं गंभीर है। वस्तुत यह ग्रंथ अपने नामानुकूल अगाध नीतिसमुद्र के मन्थन से संगृहीत सारभूत अमृत ही है। इसमें सन्नीति का अवलम्बन करने का ही आदेश है। आचार्य सोमदेव के गुरु का नाम नेमिदेव और प्रगुरु का नाम यशोदेव था। हमारे सोमदेव जी बडे भारी तार्किक कवि, धर्माचार्य एवं राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनका विचार बहुत ही उदार था। आप तृतीय राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सामन्त चालुक्यवंश के द्वितीय अरिकेशरी के सभापण्डित थे। इनका समय इस्वी सन् ६५६ है। इस सुन्दर नीतिग्रन्थ की एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। यह टीका मूल ग्रन्थ के साथ ही साथ वि० सं० १६७६ में माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला बंबई में छप चुकी है। उसमें टीकाकार का नाम नहीं मिलता है, पर टीकाकार के मंगलाचरण से ज्ञात होता है कि वह वैष्णव थे। इन्होंने अपनी टीका में प्रमाणरूप में पचासों ग्रन्थकारों के श्लोकों को उद्धृत किया है। टीकाकार ने मूल ग्रन्थ का आशय विशद करने के लिये भरसक प्रयत्न किया, बल्कि वह इस कार्य में फलीभूत भी हुए हैं। इसमें शक नहीं कि टीकाकार एक बहुश्रुत सुयोग्य विद्वान् थे।

अस्तु यह कन्नड टीका सम्पूर्ण है। इससे संस्कृत टीका का मिलान करने के लिये इस समय मेरे सामने वह कन्नडटीका समग्र मौजूद नहीं है। इसके जो अंश मेरे पास प्रस्तुत हैं इनसे संस्कृत टीका का मिलान करने पर मालूम होता है कि संस्कृत टीका का आश्रय लेकर ही यह टीका रची गया है। किन्तु भेद यही है कि इन्होंने अपनी इस टीका में संस्कृत टीका में समुद्धृत अन्यान्य शास्त्रीय प्रमाणों का उद्धरण नहीं किया है। समुपस्थित कन्नड टीका के कुछ अंशों में यह भी पता चलता है कि नेमिनाथ जी ने भावार्थ की ओर ध्यान नहीं देकर शब्दार्थ ही की ओर अधिक ध्यान दिया है। हो सकता है कि यत्र तत्र इन्होंने विस्तृत व्याख्या की हो। इसका निश्चय सूक्ष्म दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ के परिशीलन से ही हो सकता है।

अंत में मैं एक बात का और उल्लेख कर के इस लेख को समाप्त करता हूँ। कन्नड टीकाकार नेमिनाथ जी ने अपनी टीका के सर्वान्त में 'माघनन्दी' भट्टारक को प्रशंसारूप में याद किया है। पता नहीं लगता है कि माघनन्दी भट्टारक से इनका कैसा सम्बन्ध था। 'माघनन्दी' नाम के कई आचार्य हो गये हैं, अतः निर्भ्रान्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह माघनन्दी कौन से हैं। माघनन्दिविषयक बातको खुलासा करने के लिये "जैन शिलालेखसंग्रह" में संगृहीत श्रवणबेल्गोल के अन्यान्य शिलालेखों में अङ्कित माघनन्दी नाम के आचार्य, मुनि एवं कवियों का एक कोष्टक तयार कर नीचे दिये देता हूँ —:

क्रम नं०	शि० ले० नं०	नाम	गुरु नाम	शक सं०	वि० सं०
१	१०५	माघनन्दी	×	१३२०	१४५५
२	१२६	,,	कुमुदचन्द्र	१२०५	१३४०
३	४०	,,	कुलचन्द्र	१०८५	१२२०
४	४०	,,	कुलभूषण	१०८५	१२२०
५	५५	,,	चतुर्मुख	१०२२ लगभग	११५७
६	४१	,,	चारुकीर्त्ति	१२३५	१३७०
७	४२, १२४, १२८, १३०	माघनन्दी (श० सं० अ० ११०३,) (वि० सं० १२३८)	नयकीर्त्ति	१०९९	१२३४
८	४२	माघनन्दी	श्रीधरदेव	१०९९	१२३४
९	४९९	,, (भट्टारक) (श० सं० ११७० वि० सं० १३०५)	भानुकीर्ति	११७०	१३०५
१०	४९९	माघनन्दी व्रती	×	११७०	१३०५
११	१२९	माघनन्दी सि० च० (श० सं० १२०५ वि० सं० १३४०)	×	१२०५	१३४०
१२	४७१	माघनन्दी सिद्धान्तदेव	×	×	×
१३*	भूमिका	माघनन्दी	गुप्तिगुप्त	×	×

मेरा अनुमान है कि नं० ४९९ के शिलालेखाङ्कित भानुकीर्त्तिजी के शिष्य माघनन्दी भट्टारक को ही नेमिनाथ ने स्मरण किया है। कारण यह कि नेमिनाथ ने भट्टारकोपाधि-विशिष्ट ही माघनन्दी का स्मरण किया है और साथ ही साथ इस भट्टारक माघनन्दी के समकालीन भी नेमिनाथ हो जाते हैं। उल्लिखित कोष्टक से यह भी पता चल जाता है कि

*नन्दी-सन्घ की पट्टावली के आधार पर

अन्यान्य माघनन्दियो में दूसरा कोई माघनन्दी भट्टारक पदधारी है भी नहीं । अत मेरा यह अनुमान एक प्रकार से निर्विवाद सा ज्ञात होता है।

श्रवणबेलगोल के उल्लिखित ४६६ न० के शिलालेख में मेरे इन भट्टारक माघनन्दी की गुरुपरम्परा यो दी गयी है —

मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ कुदकुदान्वय में माघनन्दी सिद्धात-चक्रवर्ती हुए। इन के शिष्य भानुकीर्त्ति जी हुए। इन्हीं के शिष्य हमारे भट्टारक माघनन्दी जी हैं। इस भट्टारक माघनन्दी की प्रशसा शिलालेख में—"अखिलकलामय, उदारचरित, अतिविशद यशोधाम, मुनिपुङ्गव, वरविद्यामहित, मतीश्वर" आदि अनेक विशेषणोल्लेख द्वारा की गयी है। इनके गुरु सिद्धात चक्रवर्ती माघनन्दी 'होयसलराय' के राजगुरु थे। जैनशिलालेख के सुविज्ञ सम्पादक बाबू हीरालालजी एम० ए० का कहना है कि "सभवत ये ही उस 'शास्त्रसार' के कर्त्ता है जिन का उल्लेख प्रारभ के एक श्लोक मे आया है"



धार्म्मिक-उदारता

(ले० बाबू पूरणचंद जी नाहर एम० ए० बी० एल०)



संसार में धर्म्म ही एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी सृष्टि सब धर्म्मवाले अलौकिक बताते हैं। कोई इसको अनादि कहते हैं, कोई स्वयं ईश्वर का वचन अथवा कोई ईश्वर-तुल्य अवतार के कहे हुए उपदेश और नियमादि के पालन को ही धर्म्म कहते हैं। चतुर्द्दश रज्ज्वात्मक जीवलोक में जितने भी जीव हैं सुखप्राप्ति के लिये सब लालायित रहते हैं। जीव की मुक्ति अर्थात् निर्व्वाण के अतिरिक्त जितने प्रकार के सुख हैं सब सामयिक तथा निर्दिष्टकाल और परिमाण के होते हैं। 'धर्म्म' शब्द के अर्थ को देखिये तो यही ज्ञात होगा कि यह ऐसी वस्तु है कि जो जीव को दुःख में पड़ते हुए से बचावे। जो अपने को कष्ट से बचावे और सुख की प्राप्ति करावे ऐसी वस्तु को कौन नहीं चाहता? सारांश यह है कि किसी न किसी प्रकार का 'धर्म्म' मनुष्यमात्र को चाहिये। चाहे उनका धर्म्म सनातन हो, चाहे जैन, चाहे बौद्ध, चाहे ईसाई हो, चाहे वे मुसलमान हों, चाहे नास्तिक हों, उनको किसी न किसी धर्म्म की अथवा किसी महापुरुष के चलाये हुए मत की दुहाई देनी पड़ती है। जिस प्रकार समाज में चाहे वह गरीब हो चाहे सेठ साहूकार अथवा राजा महाराजा हो सामाजिक दृष्टि से सबों का दर्जा एक है, उनमें कोई बड़ा छोटा नहीं समझा जाता उसी प्रकार धार्म्मिक दृष्टि से भी—एक ही धर्म्म के पालनेवाले सबलोगों की गणना एक ही श्रेणी में होती है। परन्तु अपने अपने धर्म्मवाले उनको धार्म्मिक दृष्टि-कोण से दूसरे धर्म्मानुयायियों को घृणा के भाव से देखते हैं। इतिहास कहता है कि धर्म्म के नाम पर मुसलमान लोगों ने कई बार संग्राम छेड़ दिया था। मैं कुरान शरीफ से परिचित नहीं हूँ परन्तु सम्भव है उनके धर्म्म-प्रवर्त्तक महम्मद साहब का ऐसा उपदेश न होगा। दूसरों के धर्म्मका नाश करके अपने धर्म्म का प्रचार करना दूसरी बात है, परन्तु मनुष्य होकर इस प्रकार दूसरे मनुष्य को कष्ट पहुँचाना धर्म्म नहीं हो सकता। अपने धर्म्मानुयायियों की संख्या-वृद्धि करने को धर्म्म समझना स्वाभाविक है, परन्तु वे लोग इस विचार को कार्यरूप में लाने के समय सीमा के बाहर जाते थे। जैन धर्म्म के तत्व में अन्य धर्म्म का अथवा अन्य धर्म्मावलम्बियों को 'न निंदिज्जई न वँदिज्जई' यहाँ तक कि निन्दा करना मना है। धार्म्मिक विषयों में ऐसी उदारता अवश्य होनी चाहिये। हमारे तीर्थंकर जातिनिर्व्विशेष से उपदेश दिया करते थे। जैनियों के धर्म्मग्रन्थ से स्पष्ट है कि

तीर्थंकरो के 'समवसरण' में अर्थात् जिस स्थान से तीर्थंकर धर्मोपदेश देते थे वहा पर सब जीवो का—पशुपक्षियो तक का भी स्थान रहता था और देवता से लेकर तिर्यंच तक सर्व प्रकार के प्राणी अपनी अपनी भाषा में भगवान का उपदेश समझ लेते थे। इस अलौकिक शक्ति को तीर्थंकरो का 'अतिशय' बताया गया है।

जैनियो के अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी को हुए आज २५ शताब्दी हो चली तो भी जैनियो में वहा उदारता देखने में आती है। इधर कई शताब्दी तक मुसल्मान सम्राटगण भारत के शासक रहे। यहा के निवासियो ने उनलोगो का राजा प्रजा का सम्बन्ध हुआ था। वे लोग हिन्दु धर्मावलम्बियो को समय समय पर उत्पीडित करते रहे। देखिये—हिन्दुओ के प्रसिद्ध तीर्थस्थान 'सोमनाथ' जो भारत के सुदूर सौराष्ट्र प्रांत में है वहाँ महम्मद् गजनी ने जिस प्रकार मूर्ति को नष्ट किया था वह कथा भारत के समस्त इतिहास की पुस्तको में वर्णित है। शताब्दियो तक अनाचार होता रहा और रही सही लगभग १७वीं शताब्दी में 'काला पहाड' ने बिहार और वगप्रान्त के सब हिन्दू बौद्ध देवता और जैनियो की मूर्त्तिया तोड दी थीं। परन्तु धार्मिक उदारता के कारण जैनियो पर कोई विशेष अत्याचार का उल्लेख नहीं मिलता। मुझे कुछ समय पूर्व तीर्थ राजगृह के पच पहाडो में से पहिले विपुलाचल के श्रीपार्श्वनाथ मदिर की विशाल प्रशस्ति मिली थी। यह सस्कृत भाषा में गद्य पद्यमय है और इसका समय विक्रम सवत् १४१२ अर्थात् १४वीं शताब्दी है। उस समय सम्राट् फिरोज शाह राज्य करते थे। उक्त प्रशस्ति में उल्लेख है कि मुसल्मानगण भी जैनियो के धार्मिक कार्य्य में सहायता देते थे। प्रशस्ति के आदि और अत के कुछ आवश्यक अश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं —

"ॐ नम श्रीपार्श्वनाथाय। श्रेय श्रीविपुलाचलामरगिरिस्थैर्य। स्थितिस्वीकृति। पत्रश्रेणिरमाभिरामभुजगाधीशस्फुरत्सस्थिति ॥ पादासीनदिवस्पति शुभफलश्रीकीर्त्ति पुष्पो द्गम। श्रीसघाय ददातु वाञ्छितफल श्रीपार्श्वकल्पद्रुम ॥१॥ श्रीराजगृहमहातीर्थे। गजप्राकारमहापोतप्राकारश्रीविपुलगिरिविपुलचूलापीठे सकलमहीपालचक्रचूलामाणिक्य-मरीचिमजरीपिंजरितचरणसरोजे। सुरत्राणश्रीमाहिपेरोजे महीमनुशासति। तदीय नियोगात्मगधेषु मल्किवयो नाम मडलेश्वरसमये। तदीयसेवकसहणासदुरदीनसाहाय्येन इति विक्रम सवत् १४१२ आषाढ वदि ६ दिने। श्रीखरतरगच्छशृङ्गार सुगुरुश्रीजिनलब्धिसूरिपट्टालकारश्रीजिनचद्रसूरिणामुपदेशेन। ठ० वच्छराज ठ० देवराज सुश्रावकाभ्या कारित श्रीपार्श्वनाथप्रासादस्य प्रशस्ति ॥"

भावार्थ यह है कि सुल्तान फिरोज साह ने मल्कि वय को मगध प्रदेश का सूबा अर्थात् शासक नियुक्त किया था। सूबा के कार्यकर्त्ता शाह नासरुद्दीन की सहायता से मगधदेश

स्थित राजगृह तीर्थ के विपुलगिरि पर आचार्य श्रीजिनचन्द्र सूरि के उपदेश से वच्छराज देवराज ने श्रीपार्श्वनाथ का मंदिर सं० १४१२ आषाढ़ वदी ६ को बनवाया।

सम्राट् अकबर की धार्म्मिक उदारता प्रसिद्ध है। जहाँगीर, शाहजहाँ आदि बादशाहों के समय में भी जैनियों को धार्म्मिक विषयों में सहायता मिली थी। उनके पवित्र तीर्थक्षेत्रों के संरक्षण के लिये समय समय पर गुजरात, मालवा, वंगाल आदि प्रान्त के सूबों में लोगों से फरमाण आदि भी प्राप्त किये थे।

जैनियों में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। मैं दिगम्बर-साहित्य से विशेष परिचित नहीं हूँ। श्वेताम्बर-साहित्य के इतिहास को मैंने जहां तक अवलोकन किया है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर आचार्य और विद्वानों ने प्राचीन काल से अजैन विद्वानों की कृतियों को निःसंकोच से अपनाया था। उनका अभ्यास करते थे, उन पर पाण्डित्यपूर्ण टीकायें रची हैं, उनके साहित्य को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। यही धार्म्मिक उदारता है।

जैनियों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सिद्धसेन दिवाकर,* उमास्वाति वाचक* हरिभद्र अभयदेव से लेकर हेमचन्द्राचार्य आदि तथा दिगम्बर सम्प्रदाय में कुंककुंदाचार्य, समंतभद्र, अकलंकदेव, प्रभाचंद्र, विद्यानंदि, जिनसेन आदि बड़े बड़े प्रख्यात विद्वान हो गये हैं जिनकी कृतियों की पाश्चात्य विद्वानगण भी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। परन्तु सनातन-धर्म्मावलम्बी-पण्डितोंने उन्हे कहीं अपनाया हो ऐसा देखने में नहीं आता यहां तक कि वे महत्वपूर्ण जैनग्रन्थों के नामोल्लेख करने में भी हिचकते थे। यह अनुदार भाव उन लोगों की धार्म्मिक संकीर्णता है। अजैन विद्वानों के नाना विषय के ग्रन्थों को श्वेताम्बर लोगों ने किस प्रकार अपनाया है इसका कुछ दृष्टांत मैं यहां उपस्थित करूंगा। आशा है कि दिगम्बर विद्वानगण भी इस प्रकार धार्म्मिक उदारता को प्रकाशित करेंगे।

हाल ही में अमेरिका के पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक डा० नरमैन ब्राउन साहब ने 'कालिकाचार्यकथा'[१] नामक अङ्गरेजी में पुस्तक प्रकाशित की है, जिसकी भूमिका पृ० ४ में जैनाचार्यों के विषय में इस प्रकार लिखते हैं :—

"It is perhaps permissible to record here my appreciation not merely of the courtesy and scholarship of Jain monks and laymen

---

* ये तथा आगे के भी दो एक आचार्य दिगम्बर-सम्प्रदाय में भी मान्य हैं—सम्पादक।

(1) The story of 'Kalaka' by W. Norman Brown, Prof of Sans in the university of Pensylvania, Washington U. S A. 1933, Preface P. IV.

but also of their lofty ideals and noble lives They are of the greatness that is India There is a spirit of helpfulness, tolerence and sacrifice coupled with their intelligence and religious devotion that marks them as one of the world's choice communities "

अर्थात् "जैन साधुओं और गृहस्थ जनों के शिष्टाचार और विद्वत्ता के साथ साथ उनके ऊंचे आदर्श और उत्कृष्ट जीवन का यहां उल्लेख कर देना शायद उचित होगा। उनके बड़प्पन से भारत गौरवान्वित है। उन में सहायता, सहनशीलता और त्याग की शक्ति है। उनकी बुद्धि और धार्मिक लवलीनता इन सब गुणों के साथ मिलकर इन्हें संसार के आदर्श सम्प्रदायों में से एक प्रमाणित करती है।"

यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारत के किन्हीं भी धर्मावलम्बियों में जैनियों की तरह धार्मिक उदारता नहीं पाई जाती है। यदि अजैन विद्वानगण अपने २ साहित्य से ऐसे २ दृष्टांत प्रकाशित कर सकें तो मेरा यह भ्रम दूर हो जाय। अजैन साहित्य के नाना ग्रन्थों पर जैन लोगों ने किस प्रकार टीका, वृत्ति आदि की रचना की है यह निम्न लिखित तालिका से पाठकों को विदित होगा। यहां तक कि हिन्दी ग्रन्थ पर भी जैनाचार्योंने कई टीकायें रच डाली हैं।

जैनविद्वानों ने सिद्धान्त के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, काव्य, कोष, अलंकार, नीति, ज्योतिष आदि नाना विषयों पर अच्छे २ ग्रन्थ रचे हैं। केवल हेमचन्द्राचार्य के ही अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। इनके पूर्व सिद्धर्षि आचार्यने 'उपमिति भव प्रपंच-कथा' नामक ग्रन्थ लिखा था जो कि साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। इस लेख में इन सबों का उल्लेख करना अनावश्यक है। इतना ही लिखना यथेष्ट होगा कि श्रीमहावीर स्वामी के पश्चात् आज लगभग पचीस शताब्दी तक जैन लोग धार्मिक उदारता के साथ साहित्य की सेवा बजा रहे हैं। जैनाचार्यगण महत्वपूर्ण अजैन ग्रन्थों के नाम लेकर स्वयं अच्छे अच्छे काव्य रचे हैं। ११वीं शताब्दी में श्रीजिनेश्वर सूरिने "जैननैषधीय" नामका एक सुन्दर काव्य की रचना की थी। श्रीजयशेखर सूरिने "जैन कुमार सम्भव" लिखा है जो उनकी विद्वत्ता प्रकट करती है। "जैनमेघदूत" की रचना भी प्रशंसनीय है। भारतवर्ष के अन्य विद्वानों में कहीं भी इस प्रकार की उदारता का दृष्टान्त नहीं मिलेगा।

व्याकरण

कातन्त्र-सूत्र*—१ वर्द्धमान सूरिकृत 'कातंत्र विस्तार'
(कलाप) २ सोमकीर्ति सूरिकृत 'कातंत्र पंजिका' वृत्ति
३ जिनप्रभ सूरिकृत 'कातंत्रविभ्रम' वृत्ति
४ चारित्रसिंहकृत 'कातंत्रविभ्रमावचूरि'
५ मेरुतुंगसूरिकृत 'बालावबोध' वृत्ति
६ विजयनन्दनकृत 'कातंत्रता'
७ दुर्गसिंहकृत वृत्ति
८ पृथ्वीचंद्रसूरिकृत 'दौर्गसिंह'' वृत्ति
९ मुनिशेखरकृत वृत्ति
१० प्रबोध मूर्त्तिकृत 'दुर्गपदप्रबोध' वृत्ति
११ मुनिचंद्रसूरिकृत वृत्ति
१२ गौतमकृत 'कातंत्रदीपिका'
१३ विजयानंदकृत 'कातंत्रोत्तर'

पाणिनि— रामचंद्रर्षिकृत 'धातुपाठ' टीका
सिद्धांतचन्द्रिका—सदानंदकृत 'सुबोधिनी' टीका
मुग्धबोध— कुलमंडनकृत 'मुग्धावबोध उक्तिक'
काशिकान्यास—जिनेंद्रबुद्धिकृत
कविकल्पद्रुम—विजयविमलकृत अवचूरि
सारस्वत— १ सहजकीर्त्तिकृत वृत्ति
२ भानुचंद्रकृत टीका
३ दयारत्नकृत वृत्ति
४ मेघरत्नकृत 'ढुंढिका' वृत्ति
५ यतीशकृत 'सारस्वतदीपिका' वृत्ति
६ चंद्रकीर्तिकृत वृत्ति
७ नयसुंदरकृत टीका
८ श्रा० मंडनकृत सारस्वत-मण्डन टीका

---

* इसी कातन्त्र सूत्र पर दिगम्बराचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव कृत भी "कातन्त्ररूपमाला" नाम की एक प्रशस्त वृत्ति है। बल्कि कई विद्वान् कातन्त्रसूत्र के रचयिता शर्ववर्मा को जैन मानते हैं।
(सम्पादक)

वाक्यप्रकाश— १ उदयधर्मकृत टीका
२ हर्षकुलकृत टीका
३ रत्नसूरिकृत टीका

अनिट् कारिका—१ क्षमामाणिक्यकृत अवचूरि
२ हर्षकीर्त्तिकृत वृत्ति

शब्दप्रभेद— ज्ञानविमलकृत 'शब्दभेदप्रकाश' वृत्ति
(कर्त्ता महेश्वर कवि)

अलंकार

वृत्तरत्नाकर— १ सोमचन्द्रसूरिकृत टीका
२ हर्षकीर्त्तिकृत टीका
३ समयसुंदरकृत टीका

श्रुतबोध— १ हर्षराजकृत टीका
२ हर्षकीर्त्तिकृत टीका

छन्द: शास्त्र— १ वर्द्धमान सूरिकृत टीका
२ श्रीचन्द्र सूरिकृत टीका
३ पद्मप्रभसूरिकृत टीका

वागलसार— १ जिनकीर्त्तिकृत टीका

काव्यालंकार— १ नमिसाधुकृत टीका

काव्यप्रकाश— १ यशोविजयकृत टीका
२ माणिक्यचन्द्रकृत 'काव्यप्रकाशसंकेत'

गाथासप्तशती— १ भुवनपालकृत वृत्ति

विदग्धमुखमंडन— १ शिवचन्द्रकृत टीका
२ जिनप्रभसूरिकृत चूर्णि

काव्य

कादम्बरी— १ सूरचन्द्रकृत टीका
२ मदनमंत्रिकृत 'कादम्बरीदर्पण' टीका
३ भानुचन्द्रकृत टीका (पूर्व र्द्ध)
४ सिद्धिचन्द्र कृत टीका (उत्तर र्द्ध)

भट्टी काव्य—कुमुदानंदकृत "सुबोधिनी" टीका

रघुवंश—	१	चारित्रवर्द्धनकृत 'शिशुहितैषिणी' टीका
	२	धर्ममेरुकृत 'सुबोधिनी' टीका
	३	सुमतिविजयकृत 'सुगमान्वया' टीका
	४	समुद्रसूरिकृत टीका
	५	रत्नचंद्रकृत टीका
	६	विजयगणिकृत टीका
	७	समयसुन्दरकृत टीका
	८	गुणविजयकृत टीका
कुमार संभव—	१	विजयगणिकृत वृत्ति
	२	लक्ष्मीवल्लभकृत टीका
	३	चारित्रवर्द्धनकृत 'शिशु हितैषिणी' टीका
	४	मुनिमतिरत्नकृत 'अवचूरि'
	५	जिनभद्रसूरिकृत 'बालबोधिनी' टीका
मेघदूत—	१	क्षेमहंसकृत वृत्ति
	२	महीमेरुकृत 'बालावबोध' टीका
	३	सुमतिविजयकृत 'अवचूरि'
	४	मेरुतुंगसूरिकृत वृत्ति
	५	महिमसिंहकृत टीका
	६	आसड़कृत टीका
नैषध—	१	जिनराजसूरिकृत टीका
	२	श्रीनाथसूरिकृत 'नैषधप्रकाश' टीका
	३	चारित्रवर्द्धनकृत टीका
किरातार्ज्जुनीय—	१	विनयसुंदरकृत वृत्ति
	२	धर्म्मविजयकृत 'दीपिका' टीका
शिशुपालवध—	१	वल्लभदेवकृत टीका
	२	चारित्रवर्द्धनकृत टीका
नलोदय—	१	आदित्यसूरिकृत टीका
वासवदत्ता—	१	सिद्धिचंद्रकृत वृत्ति
	२	सर्वचंद्रकृत वृत्ति
	३	नरसिंहसेनकृत टीका

राघवपांडवीय— १ पद्मनन्दीकृत टीका
२ पुष्पदन्तकृत टीका
३ चारित्रवर्द्धनकृत टीका
खंडप्रशस्ति— १ गुणविनयकृत 'सुबोधिका' वृत्ति
२ जयसोमगणिकृत टीका
३ विजयगणिकृत टीका
कर्पूरमंजरी— १ प्रेमराजकृत लघु टीका
२ राजशेखरकृत टीका
३ धर्मचन्द्रकृत वृत्ति
भर्तृहरिशतक— १ धनसारसाधुकृत टीका
२ जिनसमुद्रसूरिकृत टीका
३ रूपचन्द्रकृत स्वार्थ
अमरुशतक—रूपचन्द्रकृत स्वार्थ
षट् पंचाशिका—उ० महिमोदयकृत 'बालावबोध' टीका
जगद्दामरणकाव्य—ज्ञानप्रमोदकृत टीका
घटकर्परकाव्य
वृन्दावनकाव्य
शिवभद्रकाव्य
राक्षसकाव्य
} शांतिसूरिकृत टीका

नाटक

अनर्घराघव— १ जिनहर्षकृत वृत्ति
२ नरचन्द्रकृत टिप्पण
३ देवप्रभकृत 'रहस्यादर्श' टीका
प्रबोधचन्द्रोदय— १ रत्नशेखरकृत वृत्ति
२ जिनहर्षकृत वृत्ति
३ कामदासकृत वृत्ति
राघवाभ्युदय— १ रामचन्द्रकृत टीका
दमयन्ती चम्पू— १ प्रबोधमाणिक्यकृत टिप्पन
२ चण्डपालकृत टीका
नलचम्पू—गुणविजयगणिकृत टीका

शुद्धाशुद्ध-पत्र

मेरी अनुपस्थिति मे ग्रन्थमाला के दो फर्मो का संशोधन एक ही संशोधक के दृष्टिगोचर होने से कुछ अधिक अशुद्धियाँ रह गयी है, उनका शुद्ध-रूप नीचे दिया जाता है।

(के० बी० शास्त्री)

प्रशस्ति-संग्रह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
१	२	प्रभेन्दुरचिता (?) लघुवृत्ति	प्रभेन्दुरचितालघुवृत्ति
१	११	युक्तिशस्त्रेण	युक्तिशास्त्रेण
२	७	प्रारीप्सु	प्रारिप्सु
२	१३	स्मृतश्चेति	स्मृतिश्चेति
२	१६	एतद्धिकाम्	एतद् द्धिकाम्
३	४	जैनइतिहापान्वेषी	जैनइतिहासान्वेषी
३	६	इसका	इसकी
५	१०	अघात्याराति	अघात्यराति
६	६	जंघाख्यमुनिकेवला:	जम्ब्वाख्यमुनिकेवला
६	८	पराजितमहातपा	ऽपराजितमहातपा
६	११	विशुद्ध्यस्तान्	विशुद्ध्या तान्
६	१२	सृष्टि	सृष्टे
७	२६	कालविषोपम्	कालविषोपमम्
७	१	भिलागच्छ	भिलागच्छ
७	१२	तयनतेजसा	तपनतेजसा
८	१५	ज्योत्स्ना	ज्योत्स्ना
८	१५	जिनचन्द्रजा	जिनचन्द्रजा
८	१६	वर्धयन्ति	वर्धयन्ती
८	१८	सम्यक्	सम्यग्

वैद्यसार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
१	२१	कफगंद्	कफगदं
१	२२	योगानुयानै	योगानुपानै
२	३	क्रमातू	क्रमात्
३	१०	समाछाद्य	समाच्छाद्य
४	१२	द्विवाराणि	द्विवारान्
४	२६	सुद्ध	शुद्ध
५	१६	परिणष्कौ	परिनष्कौ
५	१७	अंकोलुकं	अंकोलकं
६	८	मालकावनी	मालकांगनी
७	१३	यष्ट्यमिधामेला ?	यष्ट्यमिधामेला
७	१७	पिटकादिव्रणान्	पिटिकादिव्रणान्
७	२१	भस्म वन पर जाने पर	भस्म वन जाने पर
७	२२	औपाध	औषधि



स्याद्वादामतपाथाधिम थन मन्दराचल ।
पण्डिताचार्य ' उदितो भवनाब्जविकाशक ॥



प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—के० भुजबली शास्त्री)

---

(१) ग्रन्थ न० $\frac{१६६}{ख}$

न्याय-मणिदीपिका (कागज पर नागराक्षर में)

रचयिता—

विषय— याय

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—३ इंच   चौडाई—८ इंच   पत्रसंख्या—१६६

मगलाचरण

श्रीवर्द्धमानमकलङ्कमनन्तवीर्यमाणिक्यनन्दियतिभाषितशास्त्रवृत्तिम् ।
भक्त्या प्रभेन्दुरचिता(१)ल्घुवृत्तिदृष्ट्या नत्वा यथाविधि वृणोमि लघुप्रपञ्चम् ॥ ॥

मदज्ञानमरुणीत मल्मत यदि स्थितम् ।
तन्निष्कास्योर्मिवत्सन्त प्रवर्त्त तामिहाधिवत् ॥२॥

इह हि खलु सकलकलङ्कविकलकेवलावलोकननिर्मललोचनावलोकितलोकालोकपरम गुरुवीरजिनेश्वरवदनारविन्दसुखसरसीरुहसमुत्पन्नसरस्वतीसरसानवरतस्मरणावलोकनसल्लापदत्त चित्तवृत्ति । सकलराजाधिराजपरमेश्वरस्य हिमशीतलस्य महाराजस्य महास्थानमध्ये निष्ठुरकष्टवादसोप्तवदुष्टसौगतान् चटुलघटवादादिपटिष्ठतया तारादेवताधिष्ठितदुघटघटवाद विजयेन राज्ञा सभ्यै सभासद्भिश्च परिप्राप्तजयप्रशस्ति सकलतार्किकचूडामणिमरीचिमे चकितरुचिरुचिचकचकायमानचरणनखरो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवो विश्वविद्वन्मण्डलहृदया ह्लादियुक्तिशास्त्रेण जगत्सद्धर्मप्रभावमनूनुधत्तमाम् । तदनु बालाननुजिघृक्षुरत्नत्रयगुणोऽक्षुण्ण मोक्षलक्ष्मीकटाक्षविक्षेपनिदानपरीक्षादक्षो गुणमणिवृन्देन भव्यवृन्दमान्यमाणिक्यनन्दि मुनिवृन्दारकस्तत्प्रकाशितशास्त्रमहोदधेरुद्धृत्य तदवगाहनाय पोतोपमं परीक्षामुखनामधेय मन्वयमुद्वहत्प्रकरणमारचयन्मुदा तदनु तत्प्रकरणस्य विशिष्टतमोऽतिस्पष्ट सूक्ष्मग्राही प्रभाचन्द्रभट्टारक प्रमेयकमलमार्त्तण्डनामबृहद्वृत्तिं चरीकरीतिस्म । तद्वृत्तिग्रन्थस्य

वंशः कुलं यस्य तम्। अप्रमाणसत्वम् अप्रमाणाः प्रमाणरहिताः सत्वाः प्राणिनः यस्मिन् तं पक्षे बहुलसामर्थ्यम्। अत्युन्नतशालिनीम् अत्युन्नत्या शालिनीम्। सम्पूर्णस्थिति व्यवस्थिति पक्षे मर्यादां। दधानं धरन्तं। रुचिराकृति रुचिरा आकृतिर्यस्य तं। एकं। स्वसमानं स्वस्य समानं। नगं पर्वतं। आलुलोके ददर्श लोकृञ् दर्शने लिट्। श्लेषोपमा।

समाप्तिसूचक अन्तिम पंक्ति :—

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये अष्टादशः सर्गः समाप्तः।

चन्द्रप्रभचरित काव्य की अभीतक दो टीकायें उपलब्ध हैं। एक चारुकीर्तिकृत और दूसरी प्रभाचन्द्र भट्टारककृत। प्रभाचन्द्र भट्टारक का समय वि० सं० १३१६ है और चारुकीर्त्ति का समय शकाब्द १३२१ के बाद का ज्ञात होता है। चारुकीर्त्तिजी का यह समय तभी सम्भवपरक कहा जा सकता है,,जब;कि यही पार्श्वाभ्युदय के भी टीकाकार हों। चारुकीर्त्तिकृत चन्द्रप्रभकाव्य की टोका की श्लोकसंख्या छः हजार मानी गयी है। भवन की इस प्रति में भी लगभग छः हजार श्लोकसंख्या अनुमित होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह चारुकीर्त्ति जी की ही टीका है।

ज्ञात होता है कि टीकाकार ने इस टीका में व्याकरण, अलङ्कार एवं कोषादि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

पार्श्वाभ्युदय के टीकाकार चारुकीर्त्ति जी की निम्नलिखित कृतियों का पता लगता है:—

(१) चन्द्र प्रभ काव्य की टीका। श्लोक-संख्या—६०००
(२) आदिपुराण ३०००
(३) यशोधरचरित
(४) नेमिनिर्वाणकाव्यटीका
(५) पार्श्वाभ्युदयकाव्यटीका
(६) गीतवीतराग

(२) ग्रन्थ नं० $\frac{१६८}{ख}$

हनुमच्चरित्रम् (का० ना०)

कर्त्ता —ब्रह्माजित

विषय—चरित्र (प्रथमानुयोग)

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—११ इञ्च चौड़ाई—७ इञ्च पत्रसं०—६७

मङ्गलाचरण

सद्बोधसिन्धुचन्द्राय सुव्रताय जिनेशिने।
सुमताय नमो नित्यं धर्मशब्दार्थसिद्धये ॥१॥
वृषभाय जिनेन्द्राय वृषाय परमेष्ठिने।
नित्यं स्वान्यप्रकाशाय नमस्त्राता (?) सुतायिने ॥२॥
नमः श्रीचन्द्रनाथाय सन्नाथाय शिवालये।
अमन्दशर्मकन्दाय कन्दाय परमात्मने ॥३॥
शान्तिं कुर्यादनेकान्तबुद्धिं सिद्ध्यर्थदायिनीम्।
प्रसातत्तीरजलधिमथने मन्दराचल ॥४॥
श्रीमते वर्द्धमानाय नमः श्रेयोविधायिने।
अघात्याघातिघाताय मुक्तिमार्गप्रदायिने ॥५॥
दुर्वारापारसंसारपारावारैकतारकान्।
प्रणौमि परितो नित्यमपरान् जिननायकान् ॥६॥
सार्द्धद्वयमिते द्वीपे सर्वातकविवर्जिते।
सीमंधरादिदेवानां पादपद्मान् प्रणौम्यहम् ॥७॥
यत्तेन्ते भाविनोऽतीता त्रिदुधाधिपपूजिता।
नौमि सर्वान् जिनान् जैनमतसिन्धुविधून् सदा ॥८॥
आचाराङ्गादिभेदेन पूर्वान्ताश्च प्रकीर्णकान्।
निर्गता जिनसद्वक्त्रात् सारदां नौमि शारदाम् ॥९॥
यस्याः प्रसादतः सर्वा त्रिवीर्यं श्रुतसागरम्।

परमाप्नोति भावानां तां प्रणौमि जिनास्यजाम् ॥१०॥
त्रिहीननवकोटीनां मुनीनां पादपङ्कजान्।
स्मरामि स्मरजंतूणां त्रातॄणां भववारिधेः ॥११॥
नमामि वृषसेनादिगौतमान्तान् गणेश्वरान्।
सार्द्धांश्चतुर्दशशतान् त्र्यधिकान् श्रीसुखप्रदान् ॥१२॥
गौतमः श्रीसुधर्मा च जंबाख्यमुनि केवलाः (?)।
त्रयः केवलिनः पूज्या नो नित्यं सन्तु सिद्धये ॥१३॥
श्रीविष्णुनन्दिमित्राख्यो पराजितमहातपाः।
गोवर्द्धनो भद्रबाहुः पञ्चैतान् श्रुतसागरान् ॥१४॥
द्वादशांगश्रुताभ्यासनीरेण क्षालितं न कान्।
प्रणौम्यहं विशुद्ध्यस्तान् पञ्चपाण्डित्यहेतवे ॥१५॥
सृष्टिः समयसारस्य कर्त्ता सूरिपदेश्वरः।
श्रीमच्छ्रीकुन्दकुन्दाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम् ॥१६॥
पुराणपद्धतिर्यस्य हृदये प्रस्फुटं गता।
प्रणौमि जिनसेनस्य चरणौ शरणं सताम् ॥१७॥
जीयात्समन्तभद्रोऽसौ भव्यकैरवचन्द्रमाः।
दुर्वादिवादकण्डूनां शमनैकमहौषधिः ॥१८॥
अकलङ्कगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः ॥१९॥
शुद्धसिद्धान्तपाथोधिपारीणः परमेश्वरः।
नेमिचन्द्रश्चिदानन्दपदवीमुख्यतां गतः ॥२०॥
प्रभा गुणवती यस्य प्रभाचन्द्रस्य सूरिणः।
सोऽस्तु मे बुद्धिसिद्ध्यर्थं कारुण्यादिरसालयः ॥२१॥
पञ्चाचाररता येऽन्ये सूरयः संस्तुताः सुरैः।
ते मे दिशन्तु सन्मेधां पद्मनन्दीश्वरादयः ॥२२॥
मङ्गलादिप्रसिद्ध्यर्थं मया भावेन संस्तुताः।
श्रीहनुमत्कुमारस्य कथायाः सिद्धये पुनः ॥२३॥

मध्य-भाग (पृष्ठ ३१, श्लोक १६)

इत्युक्तं केनचित्तावत्कुमाराय जितद्विषे।
अंजनाप्रभवं वृत्तं सर्वं कालविषोपम् ॥१६॥

सिद्धागच्छ वयं यामो महेन्द्रपुरभेदने ।
अजना मे स्थिता तत्र विश्वोरणतस्करी ॥१७॥
स्वमित्रेण समं वायुरचलन् श्वशुरं पुरम् ।
स्वात्मीय गजमारुह्य वञ्चित स्वजनैस्तदा ॥१८॥
सप्राप्तो नगरीवाह्य ह्यसभृतमानस ।
प्रियाङ्कमिव संप्राप्तो दृष्ट्वा पुरवर तदा ॥१९॥
प्रभञ्जनकुमारस्यागमन श्रुत्वा महीपति ।
पुरस्द्वारमकरोत् वैजयन्त्यादितोरणं ॥२०॥

प्रशस्ति —

जैनेन्द्रशासनसुधारसपानपुष्टो देवेन्द्रकीर्तियतिनायकनैष्ठिकात्मा ।
तच्छिष्यसंयमधरेण चरित्रमेतत् सृष्ट समीरणसुतस्य महर्द्धिकस्य ॥८१॥
विशदशीलस्वर्धुनीशिलातलैकराजहंससेरसवाय क्रीडनप्रिय
स्वमतसि ध्रुववर्द्धने मृगण्यामिनीतयनतजसाद्भुतप्रभामित ।
सुरेन्द्रकीर्त्तिविद्यादिनन्दनगमजनैकपण्डित कलाधर
तदीयदेशनामवाप्य शुद्धबोधमार्थिनो नितेन्द्रियस्य भक्तित ॥८२॥
गोलाश्रृंगारवंशे नभसि दिनमणिर्वीरसिंहो विपश्चिन्
भाया वीघा प्रनीतातनुरुहविदितो ब्रह्मदीक्षाश्रितोऽभूत् ।
तेनोच्चैरेष ग्रन्थ कृत इति सुतरां शैलराजस्य सूरे
श्रीविद्यानन्दिदेशात् सुकृतविधिवशात्सर्वसिद्धिप्रसिद्ध्यै ॥८३॥
इदं श्रीशैलराजस्य चरित दुरितापहम् ।
रचित भृगुकच्छे च श्रीनेमिजिनमन्दिरे ॥८४॥
धमार्थी लभते वृषं धनयुतो बुद्धिश्च निःस्वा धनम्
पुत्रार्थी स्वकुलोचित च तनय कामाश्च कामी लभेत् (?)
मोक्षार्थी परमोत्तमाशु लभते प्रोक्तेन साक्ष्येण किम्
ह्येतत् शैलमुनीन्द्रराजचरितं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥८५॥
पठिता पाठकश्चैव वक्ता श्रोता च भावुकः ।
चिर नन्द्यादय ग्रन्थस्तेन सार्द्धं युगावधि ॥८६॥
प्रमाणमस्य ग्रन्थस्य द्विसहस्रमित बुध ।
श्लोकानामिह मन्तव्य हनुमच्चरिते शुभे ॥८७॥

इतिश्रीहनुमच्चरित्रे ब्रह्माजितविरचिते एकादश सर्गः

इसके लिपिकर्त्ता काशीनिवासी वटुक प्रसाद नाम के एक कायस्थ हैं। लिपिकाल सं० १६७८ है।

इस प्रति के अतिरिक्त भी "भवन" में एक अत्यन्त प्राचीन प्रति $\frac{१६०}{ख}$ नम्बर वाली है। खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि ये दोनों प्रतियाँ अशुद्धियों से भरी हुई हैं। बल्कि इसी प्राचीन प्रति से प्रस्तुत प्रति उतारी गयी है।

इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके कर्त्ता अजित ब्रह्मचारी देवेन्द्रकीर्त्ति जी के शिष्य थे। इनके पिता का नाम वीरसिंह और माता का वीधा था। इनके वंश का नाम गोलश्रृङ्गार है। विद्यानन्दजी की आज्ञानुसार ही इन्होंने भृगुकच्छ (भरोच) नगर में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। ग्रन्थ-रचनाकाल प्रशस्ति में नहीं दिया गया। पं० जुगलकिशोर जी की राय है कि यह अजित ब्रह्मचारी १६वीं शताब्दी में हुए हैं।

---

(४) ग्रन्थ नं० $\frac{२०४}{ख}$

विद्यानुवादांग (जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय)

कर्त्ता— (का० ना०)

विषय—प्रतिष्ठापाठ

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१४ इंच चौडाई ५॥ इंच

मंगलाचरण

लक्ष्मीं दिशतु वो यस्य ज्ञानादर्शे जगत्त्रयम्।
व्यदीपि स जिन श्रीमान्नाभेयो नौरिवाम्बुधौ ॥१॥
माङ्गल्यमुत्तमं जीयाच्छरण्यं यद्रजोहरम्।
निरहस्यमरिघ्नं तत्पञ्चब्रह्मात्मकं महः ॥२॥
दोषसन्तापशमनीर्वाग्ज्योत्स्नाः जिनचन्द्रजाः।
वर्धयन्ति श्रुताम्भोधि स्वान्तं ध्वान्तं धुनोतु नः ॥३॥
मोक्षलक्ष्म्या कृतं कण्ठहारनायकरत्नताम्।
रत्नत्रयं नमः सम्यक् दृग्ज्ञानाचारलक्षणम् ॥४॥

प्रतिमा-लेख-संग्रह*

(संपादक—बा० कामता प्रसाद जी जैन)

श्री दि० जैन-पचायती (बड़ा) मन्दिर मैनपुरी (गज)



१ ऋषभदेव—चिह्न बैल—कृष्ण पाषाण—२८ अं० उ चाइ—लेख—"सिता माघ वदी ६ सम्वत् १६१५ भार्वो मैनपुरी मुहकमगञ्ज के।"

२ ऋषभदेव—चिह्न बैल—धातु—१४ अं०—आसन में शासनदेवता गोमुखाकार गोमुख और चक्रेश्वरी तथा ७ सिंह हैं—लेख—"सम्वत् १५४५ वर्षे वैशाख सुदि १० चन्द्रदिने श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीजिनचन्द्र देवा चाहिया कुलोद्भव साहु जन्मे भार्या कुसुमा तयो पुत्र साहु मवलू तस्य भार्या हरपथा तयो पुत्र चन्द्र देव, सा० करण तत्कनिष्ट सा० छुटे तत्कनिष्ट सा० धार सिंह तत्कनिष्ठ सा अर्जुन तत्कनिष्ट सा० प्रभू तत्कनिष्ट सा० पदू तत्कनिष्ट सा० धवतू तेषां मध्ये सा० अर्जुन तस्य भार्या सता तेन अर्जुनेनेद श्रादीश्वरबिंब रच पूजनाथ कारापिता।"

३ ऋषभदेव—चिह्न बैल—भूरावर्ण पाषाण—२१ अं०—"सिता माघ वदी ६ सम्वत् १६३९ मध्ये मैनपुरी मुहकमगञ्ज के सकल पंचान के।"

समवशरण में विराजमान —

४ शान्तिनाथ—चि० हिरण—सामान्य पाषाण—आसपास यक्षयक्षिणी मध्य में आमवृक्ष युक्त सिंहलेखादिरहित—१२ अं०—यह मूर्ति प्राचीन है।

५ पार्श्वनाथ—सर्प—श्याम पा०—१० अं०—"सं० १४१६ ... मध्ये भ० विश्वसेनप्रतिष्ठापित।"

६ चन्द्रप्रभु—भूरावर्ण पा०—११ अं०—"सम्वत् १६१० मिती माघ सु० १५ शनि काष्ठासंघे लोहाचार्याम्नाये भ० राजेन्द्रकीर्ति देवास्तदाम्नाये अग्रोत्कान्वये गोयलगोत्रे साधु मासाजीजाख तत्पुत्र मुनिसुव्रतदास सकल आतृवर्ग सहितसूर्य श्रीजिनबिंब प्रतिष्ठाकारापित।"

---

*इस संग्रह में उन प्रतिमाओं का विवरण दिया जाता है जिनमें लिंग-चिह्न प्रकट नहीं हैं और जो दिगम्नाय के जैन-मन्दिरों में विराजमान हैं।

†मौलिकता लुप्त हो जाने के ख्याल से इस प्रतिमा-लेख संग्रह के लेखों की भयंकर अशुद्धियाँ ज्यों की त्यों छोड़ दी गयी हैं। —सम्पादक

७ सुपार्श्वनाथ—श्वेत०—१३ अं०—"सम्वत १६५० मिती माघ सुदी ५ काष्ठासंघे भ० मुनींद्र कीर्ति तदाम्नाये छेदीलाल बक्सर—मैन—"

८ पार्श्वनाथ—धातु—११ अं०—यक्षयक्षिणी—सहित—कमलासन—"सम्वत् १३४६ चैत्र (पंचपरमेष्ठी) सुदी १३ मूलसंघे श्री मालवंश साधु विहु ॐ राज्ये प्रतापचन्द्रदह उपसंघा।"

९ पार्श्वनाथ—धातु—१० अं०—"सं० १५२८ वर्षे वैशाष सुदी ७ श्रीमूलसंघे भ० श्रीजिनचन्द्र तत्पट्टे श्री सिंहकीर्ति देव महियवंश—साधु छं भार्या वैमा पुत्र प्रगन्या भार्या रेना पुत्र नैसी भा० तावसी पुत्र गणमैन.... ....इत्यादि"

१० चन्द्रप्रभु संघ-सहित—धातु—११ अं०—"सम्वत् १४११ वैसाख सुदी १३ श्रीमूलसंघे सा० नरवर सिंह नगरकोटेल गोत्रा।"

११ आदिनाथ समूह,छत्र, भामण्डल, यक्षयक्षिणी-सहित—१४ अं०—धातु-"सम्वत् १५२१ वर्षे माघ सुदी १५ गोलरडे एढरजू पुत्रदेव साधु जू माथेमा।"

१२ पार्श्वनाथ-धातु-८ अं०-"सम्वत् ११३२ ... मझिले साहु ... शीमकला .. ।"

१३ अजितनाथ—श्वेत-१० अं०-"सम्वत् १६८८ फाल्गुण शुक्ला ८ शनौ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भ० जगद्भूषण तदाम्नाये सा० जगदू तस्य सेवास पुत्र...... ।"

१४ शांतिनाथ पंचपरमेष्ठी—खाकी पा०—२४ अं०-भामण्डल, छत्र यक्षयक्षिणी-सहित, "सम्वत् १०१५ वर्षे माघ सुदी ५ मूलसंघे... ।"

१५ चन्द्रप्रभु—समूह-सहित—धातु-१० अं०-"सम्वत् १२०८ सा० कुंवरपाल पत्नी सुघनी नित्यं प्रणमति ।"

१६ पार्श्वनाथ-धातु-६ अं०—"सम्वत् १४१५ माघ सुदी १५ रेतक जी साहु जू।"

१७ नेमिनाथ—कृष्ण पा०—५ अं०—"सम्वत् १८५५ प्रतिष्ठोया ।"

१८ पार्श्वनाथ मन्दिर-सहित-धातु—३ अं०—"सम्वत् १७११ वर्षे माघ सुदी ५ श्री मूलसंघे भट्टारक श्रीनन्ददेव ।"

१९ पार्श्वनाथ मन्दिर-सहित—धातु-३ अं०-"सम्वत् १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदी ८ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंद० भ० श्रीजगद्भूषणदेवास्तशिष्ये वृक्ष माधव कर्मक्षयार्थं नित्यं प्रणमति ।"

२० पार्श्वनाथ—स्फटिक—१॥ अं०—लेखरहित ।

२१ पार्श्वनाथ—कृष्ण पा०-६ अं०-"माघ वदी ६ सं० १९२५माघे मैनपुरी के सकल पंचन के।"

२२ पार्श्वनाथ-धातु—२१ अं०—"श्री सम्वत् १६५५ माघ सुदी १२ शुद्धाम्नाय प्रतिष्ठितम् महापुरुष ।"

२३ पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सम्वत १४३६ श्रीमूलसंघे श्रीप्रभाचन्द्र सरिकुम्य मण्डलाचार्य श्रीधर्मचन्द्रस्तदाम्नाय खंडेलवाल सरावग पाटणी गोत्रे सा० टोकम भा० निहुरया सरितस्तत्र प्रणमति ।"

२४ चन्द्रप्रभु—७ अंगुल-धातु—"सं० १६६७ वैसाख बदी २ बनारसीदास प्रतिष्ठित मोगांव मुन्नीलाल की खोज ।"

२५ महावीर—धातु—६ अं०—"सं० १६५७ वर्षे वैसाख सुदि १४ रविवासरे श्रीमूलसंघे जैसवार सा० जैसिंह भार्या सामा पुत्र माधव कर्मक्षयार्थ निमित्तं ।"

२६ चन्द्रप्रभु—धातु—४ अं०—"सं० १६२२ प्रतिष्ठितम् गुलाबलाल चन्नमर ।"

२७ पार्श्वनाथ—धातु—२ अं०—"सं० १४७१ समेषु सालमालेन पुत्र नित्य प्रणमति ।"

२८ पार्श्वनाथ—४ अं०—धातु—लेखरहित ।

२९ पार्श्वनाथ—४ अं०—धातु—"सं० १६२४ प्रतिष्ठित ।"

३० अर्हंत—धातु—३॥ अं०—लेख व चिह्नरहित ।

३१ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १६०६ ।"

३२ अर्हंत—धातु—"सं० १६२५ ।"

३३ „ „ लेखरहित ।

३४ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अं०—"सं० १६४८"

३५ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अं०—लेखरहित ।

३६ आदिनाथ—मटीला पा०—१० अं०—लेख घिस गया है। पढ़ने में नहीं आता। प्राचीन मूर्ति है कलादार बनी है।

३७ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं० "सं० शोभाराम ।

३८ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं ११७१"

३९ पार्श्वनाथ—धातु— अं०—लेख नहीं ।

४० पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"श्रीमूलसंघ सं० १४७०"

४१ आदिनाथ—श्वेत पा०—१६ अं०—"श्री संवत् १६७२ मिती माघ सुदी ५ काष्ठासंघ दिल्ली सिंहासनाधीश भ० श्री प्रतीतिदेवाम्नायावे अग्रवाल श्राव पुरीवाल सा० चिरंजीव सा० नरोत्तम दास सा० प्रतिष्ठा करापितं करेरा नगरे ।

नोट—जिनके साथ सहुणामन लिखा है उन बिंबों को पादचत पाश पदापन है ।

श्री दि० जैन–मन्दिर कटरा मैनपुरी मे कुल १४० मूर्तियां हैं. जिन में नीचे की प्रतिमाओं में लिंग–चिह्न नहीं है।

---

१ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५१० ... ... "

१ पार्श्वनाथ— धातु—६ अं०—"सं० १५४८ वर्षे वै० सु० ५"

३ पार्श्वनाथ— „ „ "सं० १४२४ ... देव की......"

४ पार्श्वनाथ— „ —८ अं०—"सं० १५३३ ... ... "

५ अर्हंत तीन खड्गासन—धातु—५ अं०—"सं० १६५७ वै० ..."

६ पार्श्वनाथ—धातु—५ अं०—"सं० १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदि ८ श्रीभट्टारक विजय सतित साक्षी तरतमत (?)"

७ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—लेखरहित।

८ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १३३५ वैसाख सुदि ५ सा लेपंमलस्तत्पुत्र भजन सहद है.'

९ महावीर समवशरण—धातु—१० अं०—"स० १५२६ वर्षे वैसाख सुदि २ बुधे मूलसंघे भ० सिंहकीर्त्ति देवा। सा सहरद्दा पुत्र मोदिक लल्लू दिगम्बर मूर्ति जू सदा सहाई विलसी।"

१० महावीर समूह–सहित—धातु—१० अं०—लेख पूर्ववत्।

११ महावीर समूह—भामंडल—छत्र—यक्षादि—सहित—श्वेतपाषाण—१८ अं०—"विजपाल नागपाल"

१२ अर्हन्—११ अं०—हरितकृष्ण पा०—लेखरहित।

१३ अर्हन्—५ अं०—कृष्ण पा०—लेखरहित।

१४ मुनिसुव्रतनाथ—लाल-काला पा०—"सं० १२०८ वैशाप वदि ८ .. वैशाप वदि अष्टमी परतीए सधामि उपधारी......"(?)

१५ पार्श्वनाथ—स्फटिक—५ अं०—लेखरहित।

१६ अर्हत्—वाली पा०—५ अं०—लेखरहित।

१७ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"स० १५४१ मूलसंघे इत्यादि"

१८ पार्श्वनाथ—धातु—८ अं०—"सं० १५३० माघ सुदि ११ भ० देवचन्द्र सा० तेऊ पुत्र भोजादेव प्रतिष्ठापितं।"

१९ महावीर—धातु—७ अं०—"सं० १८०२ ... .. ।"

२० अरहनाथ समूह—धातु—६ अं०—"सं० १५४५ वैसाप सुदि ७ श्री काष्ठासंघे भ० कमलकीर्ति साहसुरू ... पुत्र वीधा . "

२१ महावीर समवशरण—धातु—१४ अं०—"सं० १५३७ वर्षे वैसाख सुदि १० गुरौ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्राम्नाये मंडलाचार्य विद्यानन्दी तदुपदेश गोलाराराचये पितृ पुत्र ।"

२२ महावीर समूह—धातु—१४ अं०—सं १५१० वर्षे माघ सुदि ८ सोमे काष्टासंघे भट्टारक कमलकीर्ति देव अग्रोत्कान्वये गर्गगोत्रे सा० रन भा० देहो पुत्र सदय भा० वारु पुत्र पेमचन्द् प्रणमति ।

२३ सुमतिनाथ समूह—धातु—११ अं०—"सं० १५५१ वर्ष वैसाख सुदि १३ गुरौ वरहदास गोत्रे श्रीश्रीमाल ज्ञातीय सा० शिवाभार्या सिंगार सुत देपति भार्या देहलणदे सुत रावया तत्मभयोर्थमी श्रीसुमतिनाथबिंब कारित प्रतिष्ठित त वा श्रीहेमविमल सूरिभि ॥" नागुर ग्रामे ॥

२४ पार्श्वनाथ—स्फटिक—४ अं०—लेखरहित ।

२५ अर्हत्—धातु—५ अं०—"सं० १४१२ वर्षे वैसाख सुदी १३ बुध श्रीमूलसंघे प्रतिष्ठाचार्य श्री प्रभाचन्द्रदेव लम्बकञ्चुक सा० चाहड़ भार्या साथ पुत्र साल्हा भार्या महादेवी वारवार प्रणमति ।"

२६ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—लेखरहित ।

२७ श्रेयांसनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १५२५ चैत्र शुक्ल ३ बुधे श्रीमूलसंघे श्रीसिंहकीर्ति प० ह० पु० लम्बकंचुकान्वये साथे मियदे भार्या सोना पुत्र सा अल्हू भार्या मना प्रणमन्ति ।"

२८ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं—"सं० १५४६ ज्येष्ठ वदी ८ भ० श्री हेमचन्द्राम्नाये गोयलगोत्रे सा० उदा भार्या पोवाही पुत्र मोमनसिंह ।"

२९ चौबीसीपट—धातु—७ अं०—"सं० १५१६ वर्षे चैत्रवदी ४ श्रीमूलसंघे भट्टारक दयचन्द्रकीर्ति "

३० पार्श्वनाथ—धातु—५ अं—"सं० १४०१ वैसाख १४ सुदी समेधू सा० रमू ।"

३१ आदिनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १५३२ वर्षे वैसाख वदी १४ स० महिपत पुं० सपा सुपुध प्रसि।"?

३२ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"श्री मूलसंघे भ० श्री विमलेन्द्रकीर्ति सा वीरपाल भार्या वरथी बाइ तेसुं" ।

३३ पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सं० १६६६ चैत सुदी १५ रवौ भ० ललितकीर्ति भ० धर्मकीर्ति तदुपदेशात् सा० पदारथ भार्या जिया पुत्र दो भमकरण पमारना नित्य नमति ।"

३४ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"श्री मूलसंघे भ० जिनचन्द्र उपदेशात

३५ अर्हत्—धातु—६ —"सम्वत् १५२५ फाल्गुण ।"

३६ अर्हत्—धातु—३ अं०—"सं १५७५ ।"

३७ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं० "सं० १५०५ वैसाख सुदी २ शुभमस्तु ।"

३८ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—लेखरहित ।

३९ नेमिनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १६८६ वर्ष ।"

४० पार्श्वनाथ—धातु—४॥ अं०—"सं० १५३१ मूलसंघे सा०......।"

४१ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १७०६ ....."

४२ आदिनाथ—धातु—३॥ अं०—"सं० १५२२..... "

४३ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"श्री भट्टारक रामसेन"

४४ चन्द्रप्रभ—धातु—४ अं०—"सं० १६०१ फाल्गुन सुदि ६ मूलसंघे धर्मकीर्ति आचार्य सा० महन् भार्या भानुमती पुत्र सर्वन... ."

४५ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अं०—लेख लुप्त।

४६ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १६८५ वैसाख सुदी ३"

४७ पार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५२१ वैसाख सावन सुदी ५ बुधे श्रीमूलसंघे"।

४८ अर्हत् मन्दिर-सहित—धातु—१ अं०—"सं० १६८६......"

४९ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १५१४ चैतसुदी १ बुधे"

५० पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १५१४"

५१ पार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १४३८ वर्षे......"

५२ पार्श्वनाथ मन्दिर—धातु—१ अं०—"सं० १७४६ माह सुदी...श्रीमूल संघे भ० श्रीजगतकीर्ति संघई श्रीकृष्णदास"

५३ अरिहंत—धातु—४ अं०—"श्री मूलसंघे बाई करया"

५४ पार्श्वनाथ—धातु—५ अं०—लेखरहित।

५५ आदिनाथ—धातु—४॥ अं०—"सं० १५७५ वर्षे चैत सुदी १५ श्रीमूलसंघे भ० सिंहकीर्तिदेव गोलाराडान्वये साधु मठयार . "

५६ अर्हत्—खड्गासन—धातु—५ अं०—"सं० १४७३ श्रावण वदी १ श्रीकाष्ठासंघे भ० श्रीगुणकीर्ति सा० जिनदास"।

५७ अर्हत्—धातु—५ अं०—"सं० १४१२ वर्षे वैसाख सुदी १२ बुधे श्रीमूलसंघे प्रतिष्ठाचार्य श्री जिनचन्द्रदेव लम्बकञ्चुक साहु सहदेव भार्या चम्पा पुत्र दोतदेव भार्या मूला। पुत्र लखनदेव पद्मदेव धर्मदेव प्रणमन्ति नित्यं।"

५८ चंद्रप्रभ—धातु—४ अं०—"सं० १६०१ फागुन सुदी ६ भ० धर्मकीर्त्याचार्य जसपालदासु भार्या "राजमति करायिता।"

५९ पार्श्वनाथ—धातु—५ अं०—"सं० १७४२ ...."

६० अर्हत्—धातु—४ अं०—"सं० १५१४ वैसाख सुदी १५ श्री काष्ठासंघे सा० रयह पुत्र नानिग।"

६१ विमलनाथ—धातु—३॥ अं०—"श्री अम्ब० सा० लूणा सुत सा० रन्ना विमलनाथ।"

६२ अर्हत्—धातु—४ अं०—"सं० १५५७ वर्षे फाल्गुण वदी २ मूलसंघे।"

६३ पार्श्वनाथ—कृष्ण पाषाण—४ अं०—"सं० १५६२ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्रदेव......।"

६४ अर्हन्त तीन (खड्गासन)—धातु—७ अ०—"सं० १५२५ वर्षे चैत्रवदी १ बुधे मूलसंघे भ० सिंहकीर्ति बाई महासिरि सा० नजू भार्या सूरा पुत्र घहेरु भार्या घघी।"

६५ अर्हंत्—धातु—६ अ०—"सं० १५७० वर्षे आसाढ़ सुदी ७ श्रीमूलसंघ खंडेलवालान्वये सा० हरिदास प्रणमंति।"

६६ पार्श्वनाथ—धातु—५॥ अ०—"श्रीशुभ "

६७ पार्श्वनाथ—धातु—६ अ०—"सं० १५४० वैसाष सुदी १ मूलसंघ।"

६८ पार्श्वनाथ—धातु—६ अ०—"सं० १६६२ माघ वदी १ मूलसंघ संघई अहिमनि"

६९ पार्श्वनाथ—धातु—६ अ०—"सं० १५५२

७० अर्हंत्—धातु—५ अ०—"सं० १५१३ वर्षे वै० सु० १३ बुधे "

७१ अर्हंत्—धातु—४ अ०—लेख पढ़ने में नहीं आता।

७२ पार्श्वनाथ—धातु—६ अ०—"सं० १५१२ माघ वदी ५ श्रीमूलसंघ सा० महया भार्या हरिदेवि।"

७३ पार्श्वनाथ—धातु—६ अ०—"सं० १५४५ वर्षे "

७४ पार्श्वनाथ—धातु—६ अ०—"सं० १५५५ वैसाष सुदी चन्द्रे सा० सुनू भार्या भरमो "

७५ पार्श्वनाथ—धातु—६ अ०—लेख पढ़ा नहीं जाता।

७६ पार्श्वनाथ—धातु—४ अ०—लेखरहित।

७७ अर्हंत्—धातु—२॥ अ०—"सं० १५२५"

७८ पार्श्वनाथ—धातु—५ अ०—"सं० १५०३ "

७९ पार्श्वनाथ—धातु—३ अ०—"सं० १४६०"

८० पार्श्वनाथ—धातु—७ अ०—"सं० १६६१ चैत्र सुदी १ मूलसंघे भ० ललितकीर्ति भ० धर्मकीर्ति उपदेशात् सरूपचन्द्र प्रतिष्ठापितम् पौरपदेनापरिकु पुत्र मायने ?।"

८१ अजितनाथ—धातु—७ अ०—"सं० १५११ श्रीमूलसंघे ब्र० जिनदास उपदेशात् पौरवाड़ जाति सा० रहुणा भार्या गोलसिरि पुत्र गजू मोक्षराज प्रणमंति।"

८२ पार्श्वनाथ—धातु—७ अ०—"सं० १५३७ "

८३ आदिनाथसमवशरण—मयवधियों सहित—धातु—१६ अ०—"सं० १५३० वर्षे माघ सुदी ६ "

८४ पार्श्वनाथ—धातु—३ अ०—"सं० १५१० सा० पनालाल"

८५ पार्श्वनाथ—धातु—४ अ०—लेखरहित।

८६ पार्श्वनाथ—धातु—१॥ अ०—"श्रीमूलसंघे"

८७ पार्श्वनाथ—धातु—३॥ अ०—"सं० १५३४ वैसाष सुदी १० "

८८ अर्हंत्—मयबधियों-सहित समवशरण—धातु १६ अ० बीच में खड्गासन और १२ पद्मासन चहुंओर चिह्न तथा लेखरहित।

८९ पार्श्वनाथ—धातु—८ अं०—"सं० १५३४ वर्षे फाल्गुण सुदी ८ भौमे श्रीमूलसंघे सा० वड भार्या व्रह्मदेवी... "

९० पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सं० १५४८ श्रीमूलसंघे श्रीभुवनकीर्ति श्रीहिता गोजसिंगारी भार्या ज्ञानश्री नित्यं प्रणमंति।"

९१ आदिनाथ समवशरण यक्षयक्षिणी-सहित—धातु—२५—अं०—"ॐ संवत् १४५० वर्षे वैशाख सुदी १२ गुरौ श्री चाहुवानवंशहु गोपय प्रकाशनमार्तंण्ड मारवै विक्रमस्य श्रीमत् सरुप भूपस्वान्वय कुंदरदेवात्मजस्य भूवतुजस्य श्रीसुवर नृपतेः राज्ये वर्तमान श्रीमूलसंघ भ० श्री प्रभाचंद्रदेव तत्पट्टे श्रीपद्मनन्दि देव तदुपदेशे गोलाराडान्वये ......इत्यादि"।

९२ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १५०१ वैसाख सुदी १।"

९३ " " " " "

९४ " " " " "

९५ " " " " "

९६ पार्श्वनाथ—धातु—८ अं०—"स० १५१५ वर्षे माघ सुदी ५ भौमे श्री मूलसंघ सरस्वती गच्छे भ० जिनचन्द्रदेव गोलाराडान्वये सा० अभू भार्या हरो......"

९७ पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—लेख लुप्त हो या।

९८ पार्श्वनाथ—धा०—८ अं०—"सं० १५२१ फाल्गुण सुदी ५......।"

९९ आदिनाथ समवशरण यक्षयक्षिणी सहित—धातु—१९ अं०—"सं० १५२९ वै० सुदी ७ बुधे श्रीकाष्ठासंघे भ० श्री मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये मित्तल गोत्र आदि'।

१०० संभवनाथ—धातु—१६ अं०—समवशरण—लेख नहीं।

१०१ आदिनाथ समवशरण यक्ष०—धातु—१८ अं०—"सं० १५३१ फाल्गुण सुदी ५ शुक्रे श्री काष्ठासंघे भ० गुणभद्राम्नाये जैसवाल सा० काल्हा भार्या जयश्री आदि।"

१०२ नेमिनाथ—धातु—३ अं०—लेख पढा नहीं गया।

१०३ पार्श्वनाथ—धातु—३ अं०—"सं० १५०४"

१०४ अर्हत् तीन खड्गासन—धातु—२ अं०—"सं० १५१५......

१०५ पार्श्वनाथ—धातु—११ अं०—"सं० १६५७ वै० सुदी १२ सोमवासरे...मूलसंघे दिगम्बराम्नाए श्रीकुंदकुंदाचार्योपदेशात् भोगांवनगरे वढेलवाल वंशोद्भवे गिरधारीलाल बनारसी दास प्रतिष्ठितम् नित्यं प्रणमंति कटरा पञ्चीलाल"।

१०६ अजितनाथ—श्वेत पा०—२८ अं०—"श्रीशुभ संवत्सरे नृपति विक्रमादित्य राज्यस्य सं० १७०५ शाके १५६२ फाल्गुन सुदी ८ सोमवासरे श्रीमत्पणपुरि पातिसाह श्री मत्साहजहां राज्ये प्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे गच्छे भ० श्रीमज्जिनप्रभसूरि तेतो भ० श्री जिनमान......"

वैद्य-सार

(अनुवादक—प० सत्यधर जैन, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

१—त्रिदोष पर महारस सिन्दूर

शुद्धं पारदषड्गुणोक्तसुरभि जीर्णाढ्यं तद्रसं
पुष्पस्योक्त नवसारकं मणिशिला पञ्चाशकं टङ्कणं ।
यवक्षारकलाशकैर्विमिलितं गन्धार्धभागं क्रमात्
सर्वं खल्वतले विमर्द्य शुभगं योगादिसृष्टे दिने ॥१॥
कन्याभास्करहंसपादनलकैर्नवीरनारार्जुनी
गोजिह्वानलरंजित फणिलतापार्थैश्च सम्मर्दितं ।
तत्कल्कातपशोषितं च सर्वं सकथ्यं कृत्या तथा
यत्नेऽत्युष्णबालुकास्थितयुतं तत्पूरितं भाजनं ॥२॥
पक्वं द्वादशयामकं क्रमगतं चोद्धृत्य सूतं गतं
खल्वे पूर्ववत् विधाय निरिहल्द्रयान्वितं मर्दयेत् ।
प्राग्वत् कूपिकसंस्थितं दिनयुगं पक्त्वा क्रमाग्निं शनैः
पश्चादागतसिद्धसूतमखिलं समन्येत् तद्द्रवैः ॥३॥
अत्रोक्तक्रमसिद्धके कृतचतुर्विंशानुयामं क्रमात्
सूतं पक्वमिति क्रियाऽमुचितं सिद्धं रसेन्द्रं बुधैः ।
एकं द्वि त्रि यथाक्रमं त्वशताधिक्यात् सहस्राद् गुणैः
तस्मात् सप्तगुणानुयोगमधिकं युक्त्या क्रियां पचेत् ॥४॥
पक्त्वाऽऽदाय सुसिद्धमंगलमिदं प्रोपचारैः क्रमम्
उद्यद्भास्करसन्निभं च विमलं तत्सूयमारंजितं ।
सिद्धं सूतरसायनं गदहरं धर्मार्थकामप्रदं
तत्सूतं मरिचाज्ययुक्तमनिलं हन्यात् सिताज्यजयेत् ॥५॥
पित्तं सोद्रकणान्वितं कफगणं योगाकृतारेण सह
मन्दाग्निं स च सन्निपातमकृत् योगानुपानैर्जयेत्
श्वासं कासमरोचकं नयहरं कामाग्निसंदीपनं
तुष्टिं पुष्टिबलावहं सुखकरं लावण्यहेमप्रभं ॥६॥

नित्यं सेवितशाश्वतं रसवरं योगोत्तरं सर्वदा
रोगात् सज्जनरक्षणार्थभिषज कीर्तिं करोति सदा
सर्वं लोकहितंकरं विरचितं शास्त्रानुसारैः क्रमात्
विख्यातं करुणाकरं रसवरं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥७॥

टीका—दोषरहित तथा छह गुणों से सहित स्वच्छ शुद्ध तथा शोधन मारण करने वाले द्रव्यों से जीर्ण अर्थात् आठ संस्कार अथवा अट्ठारह संस्कार से शुद्ध किया हुआ पारा तथा शुद्ध नवसादर तथा शुद्ध मैनशिला ये तीनों समान भाग तथा पारे से पांचवे भाग सुहागा, पारे से १६ वां भाग शातलाक्षार (थूहर) तथा पारे से आधा शुद्ध गंधक (आंवला सार गंधक) सबको मिला कर शुभ दिन, शुभ नक्षत्र शुभमूहूर्त मे खरल में मर्दन करके घीकुमारी, (गंवार पाठा) आक का दूध, हंसराज (तिपतिया), चित्रक, जंबीरी नींबू को रस, तथा नत्रिक, गोभी, नखरंजित (एक सुगंधित पदार्थ) नागर वेल (पान) कोहा, इनके स्वरस में एक २ दिन अलग २ खूब मर्दन करके घाम में सुखा करके कांच की शीशी में बंद करे तथा बालुकायंत्र में शीशी के नीचे ३ अङ्गुल वालुका रहे फिर शीशी के मुंह तक बालुका भर देवे और उसको क्रम से मन्द, मध्य, खर आँच १२ प्रहर तक देवे फिर उस शीशी में से वह पारा निकाल कर उसे उपर्युक्त सब औषधियों के स्वरस में अलग २ मर्दन करे तथा दो दिन तक फिर वालुकायंत्र में पकावे, पाक होने पर पारा निकाल कर उन्हीं द्रव्यों के स्वरस में घोंट एवं सुखा कर वालुकायंत्र में पकावे तथा २४ प्रहर तक बराबर आँच दे। इस प्रकार तीन बार पाक करे तो यह योग सहस्र गुणों से युक्त होता है इसलिये इसको युक्तिपूर्वक तीन बार अवश्य ही पकावे। यह पका हुआ पारा सिद्ध होने पर मंगलमय है तथा इसको इष्टदेव की पूजा करके सेवन करे। यह उदय हुए सूर्य के रङ्ग के समान स्वच्छ, उत्कृष्ट सूर्य की आभा-सहित सिद्ध पारद रसायन (महारस सिन्दूर) अनेक रोगों को हरनेवाला धर्म, अर्थ, काम को देनेवाला होता है। काली मिर्च तथा घी के साथ खाने से वायु-रोग शान्त होते हैं तथा पीपल और मधु के साथ सेवन करने से कफ-जन्य रोग शान्त होते है, सोंठ, मिर्च, पीपल और अर्कक्षार (अकौने के क्षार) के साथ सेवन करने से मंदाग्नि शान्त होती है। तथा अनेक अनुपान के योग से सम्पूर्ण सन्निपातों को और श्वास, कास अरोचक, क्षय को जीतता है, कामाग्नि को दीपन करनेवाला, शरीर को हृष्ट-पुष्ट करनेवाला, बल को देनेवाला, सुखप्रद, सुन्दरता को देनेवाला यह सुवर्ण के समान कान्तिवाला योग नित्य ही सेवन करना चाहिये। यह योग सज्जनों की रक्षा करने एवं वैद्यों को कीर्त्ति का देनेवाला तथा सम्पूर्ण लोक का हित करनेवाला शास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है जो प्रसिद्ध है और श्रेष्ठ रस है।

२—प्रमेह पर वंग-भस्म

शरावे निक्षिपेत् शुद्धं वंग पलचतुष्टयम्।
दीप्यकं तु चतुःप्रस्थं छिद्रस्य रजनीरजः ॥१॥
विलीनवंगं तच्चूर्णं गालयेत्स्मयत्नतः।
विदारीकंदो मुसली गोक्षुरो भूमिशर्करा ॥२॥
सुरवल्ली भारकं साम्यमेतेषां द्विगुणा सिता।
वंगभस्म पणैकं तु योगायितं तु भक्षयेत् ॥३॥
शुल्क सितादकं पानं छिद्रं शीघ्रमाम्लवर्जितम्।
सर्वप्रमेहविध्वंसि पूज्यपादनिरूपितम् ॥४॥

टीका—एक मिट्टी के गहरे सराये में यथा छटो मं शुद्ध वंग (रांगा) को १६ तोला लेकर डाल देवे और उसके नीचे आगी जलावे जब वह गल जावे तब उसमें ४० छटाक आर का चूर्ण पीस कर डाले तथा ३२ छटाक हल्दी का चूर्ण डालता जावे इस प्रकार डालते रहने से रांगे का भस्म तैयार हो जायगा। जब उग भस्म वारितर हो जाय (जल में तैर जाये अर्थात् नीचे नहीं डूबे) तब नीचे लिखे अनुपान में सेवन करे। यथा विदारीकंद, मूसली, गोखुरू, भूमिशर्करा, गुच का सत ये पांचों तीन तीन माशे लेकर सब का चूर्ण करे तथा सबके बराबर उत्तम मिश्री मिलाकर चूर्ण तैयार करले और फिर १ पण (४ रत्ती) वंग भस्म लेकर उसमें मिलावे तथा प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायंकाल मिश्री की चासनी से सेवन करे तथा उसके ऊपर एक तुच्छ मिश्री का पानी पावे तथा खटाई और दाल की बनी चीज नहीं सेवन करे। प्रमेहों का नाश करनेवाला यह योग श्रीपूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

३—प्रमेहादि पर कर्पूररस

शुद्धं सूतं पलमितं समादाय पुनस्ततः।
सैंधवं स्फाटिकं सम्यक् शुद्धं द्विचतुः पलं ॥१॥
चूर्णयित्वाथ अजीररसेन परिमर्दयेत्।
तस्योपरि रसं क्षिप्त्वा समालोड्य विमीलयेत् ॥२॥
हंडिकायां च तत्कल्कं क्षिप्त्वोपरि शरावकं।
निरुध्य संधिं बध्नीयात् दृढं ॥३॥
रवियाम पचेद्यत्नात् ऊर्ध्वं

तच्चूर्णं रूपिणं सूतं समादाय पुनस्ततः ॥४॥
नवसारं क्षिपेत् सार्धनिष्कमात्रं ततः पुनः ।
प्रथमं नवसारं तु चूर्णयित्वाथ भस्मकं ॥५॥
विचूर्ण्य मेलनं कृत्वा काचकूप्यां प्रपूरयेत् ।
कूपीद्वारं तु वध्नीयात् खट्या सूत्रेण बंधयेत् ॥६॥
द्वारं विहाय संपूर्य मृदा सम्यक् प्रलेपयेत् ।
हंड्यामथ च वालुकया चतुरङ्गुलमात्रकम् ॥७॥
प्रपूर्य कूपिमूर्धानमूर्ध्वं कृत्वा क्षिपेदथ ।
शेषं वालुकयापूर्य चतुरङ्गुलसंमितं ॥८॥
ऊर्ध्वदेशं शरावेण समाच्छाद्याथ लेपयेत् ।
संधिं मृदा दृढ़ं यत्नाच्चुल्ल्यामारोप्य यंत्रकम् ॥९॥
दिवारात्रि पचेद्धीमान् चाग्निं तत्क्रमवृद्धिना ? ।
ज्वालयेन्निर्निमेषेण पारदं च परीक्षयेत् ॥१०॥
दृढ़ं कर्पूररूपेण रसः कर्पूरतां व्रजेत् ।
मेहानां विंशतिं हन्यात् चतुराशीतिवातजान् ॥११॥
स्फोटं श्वासं च कासं च पांडुं प्लीहं हलीमकम् ।
संधिशोफे क्षीणबले संधिवाते कफग्रहे ॥१२॥
अर्दिते पक्षघाते च हनुवाते गलग्रहे ।
चित्तभ्रमे भग्नकामे निःप्रतीते तुनीहते ॥१३॥
श्वेतकुष्टे दद्रुरोगे प्रदातव्यं भिषग्वरैः ।
गुंजामात्रमिदं खादेत्—शर्करामधुनाथवा ॥१४॥
दुग्धं सेव्यं दिने तस्मात् द्राक्षाखर्जूरकं तथा ।
नारंगं नारिकेलं च कदलीफलकं तथा ॥१५॥
तक्रसारः प्रदातव्यः रसे च कुपिते तथा ।
योगोऽयं प्रयुक्तः स्यात् पूज्यपादेन स्वामिना ॥१६॥

टीका—शुद्ध पारा ८ तोला लेकर तैयार रक्खे, फिर सेंधा नमक और फिटकरी दोनों के शुद्ध कर क्रम से ८ तोला और १६ तोला लेकर दोनों चूर्ण कर जंबीरी नींबू के रस में मर्दन कर लुगदी बनावे और फिर उस लुगदी में उस पारे के मिला देवे फिर एक पक्का हंडी में कपड़मिट्टी करके उसके भीतर उस लुगदी के रख कर ऊपर एक सरावा ढाँक कर पक्की कपड़मिट्टी करे और उसके १२ प्रहर तक आँच देवे और ठंढा होने पर ऊपर लगा

हुआ जो सफेद रंग का हो उसको यत्नपूर्वक निकाल लेवे, और फिर उस निकाले हुए द्रव्य में ४॥ मासा (६ आने भर) नोसादर मिलावे दोनों को खूब पीसकर काच की शीशी में बंद करे कूपी का मुख खड़िया मिट्टी से अच्छी तरह बंद करे, और फिर हंडी में शीशी का औंधा मुख करके बालू भर देवे परन्तु बालू इतनी भरे कि शीशी की तली ४ अंगुल खाली रहे। ऊपर से एक सरावा ढांक देवे और कपड़मिट्टी कर देवे तथा चूल्हे पर चढ़ा देवे तथा एक दिनरात पकावे किंतु आंच क्रम से हीन, मध्यम, तीखी देवे और जब स्वांग शीतल हो जाय तब खोलकर कपूर के समान जमा हुआ जो पारा है वह निकाल लेवे बस इसी का नाम रस कपूर है। यह रस कपूर २० प्रकार के प्रमेह चौरासी प्रकार के वातरोग, फोड़ा, श्वास, खांसी, पांडुरोग, प्लीहा—हलीमक, सर्वशोथ, क्षीणता, सन्धियों की जकड़ाहट, कफ की जकड़ाहट, अर्दित रोग, पक्षाघात, हनुवात, गलग्रह, चित्तभ्रम, ध्वजभंग (नपुंसकता) इत्यादि रोगों में वैद्यवर्य को देना चाहिये। इसकी मात्रा एक रत्ती है। इसको मिश्री तथा शहद के साथ देना चाहिये। इसके ऊपर दूध का सेवन अवश्य करना चाहिये तथा इसके पथ्य में मुनक्का, खजूर, नारङ्गी, नारियल, केला अवश्य देना चाहिये। रसधातु के कुपित होने पर तक्र देना चाहिये। यह उत्तम योग पूज्यपाद स्वामी ने कहा है

४—क्षयरोग पर वज्रेश्वर रस

कर्षं खर्परसत्त्वं च पयमासे हेमविद्रुते
निक्षिपेच्चूर्णयेत् खल्वे पचिताख्यो सुगन्धकौ ॥१॥
अ कालुक कुष्ठीनीन तुल्यांश तालकाभ्रकं ।
मुक्ताप्रवालचूर्णं तु प्रतिनिष्काष्टकं क्षिपेत् ॥२॥
मृतलोहस्य निष्कौ द्वौ टंकणस्यार्धनिष्कक ।
द्वौ निष्कौ नीलकट्वयो वराटाना च विंशति ॥३॥
नीस निष्कत्रय योज्य सर्वं खल्वे विमर्दयेत।
चांगेर्यम्लेन यामकं जंबीराम्ले दिनद्वयम् ॥४॥
स्नुह्या पुटाष्टकं देयं हस्तमात्र तुषाग्निना।
जंबीरोत्थद्रवैश्च पिष्ट्वा पिष्ट्वा पुटे पचेत् ॥५॥
ततो वनोत्पलैश्च दद्यं गजपुटं महत्।
आदाय चूर्णयेत् श्लक्ष्णं चूर्णार्धं शुद्धगंधकं ॥६॥

गंधार्धं मरिचं चूर्णमेकीकृत्य छिमापकं।
लेहयेन्मधुना सार्धं नागवल्लीरसेन सह ॥७॥
पथ्यं तु प्रतियामं स्याद्भुक्ते विषवद्भवेत्।
रसो वज्रेश्वरः ख्यातः क्षयपर्वतभेदकः ॥८॥
उत्तमो राजयोगोऽयं पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—एक तोला खपरिया का सत्व लेकर छह माशे शुद्ध सोने को गला कर उस में डाल दे फिर दोनों का चूर्ण कर छह निष्क (१॥ तोला) पारा गंधक तथा अंकोलक १॥ तोला मालकांगनी १॥ तोला शुद्ध तबकिया हरताल तथा अभ्रकभस्म, कांत लौहभस्म, ताम्र-भस्म चार २ निष्क (१ तोला) तथा शुद्ध मोती और शुद्ध प्रवाल आठ आठ निष्क (२ तोला) लेकर तथा लौहभस्म २ निष्क एवं सुहागा शुद्ध आठ निष्क (२ तोला) नील और कुटकी २ तोला २ शुद्ध पीली गठोली कौड़ी २० तोला, शुद्ध शीसा भस्म तीन निष्क लेकर सबको एकत्रित कर चांगेरी के रस में १ पहर तक घोंटे फिर सबको टिकिया बनाकर संपुट में बंदकर १ हाथ का गड्ढा करके तुष की अग्नि के द्वारा पुट देवे और फिर जंबीरी नींबू के रस की भावना देवे इस प्रकार आठ पुट देवे फिर आठ पुट के बाद जंबीरी नींबू के रस की भावना देकर जंगली कंडों से १ गजपुट देवे फिर सबको चूर्ण करके चूर्ण से आधा शुद्ध आँवलासार गंधक लेवे तथा गंधक से आधी काली मिर्च लेकर सबको एकत्रित कर तीन तीन माशे शहद और पान के रस के साथ प्रातःकाल एक बार सेवन करे एवं इस दवाई के सेवन करने पर प्रत्येक पहर के बाद पथ्यपूर्वक भोजन करे यदि इस औषधि के सेवन करने पर पथ्य सेवन न किया जायगा तो यह औषधि विष के समान काम करेगी। यह बज्रेश्वर रस क्षय अर्थात् राजयक्ष्मा-रूप पर्वत के नाश करने के लिये बज्र के समान है। यह उत्तम राजयोग पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ बहुत उत्तम है।

———

५—शीतज्वर पर शीतांकुश रस

तुल्यमेकं त्रयं तालं शिलाचैव चतुर्गुणं
धत्तूरस्य रसैर्मर्द्यः कुक्कुटीपुटपाचितः ॥१॥
शीतांकुशरसो नाम शीतज्वरनिवारणः
शीतज्वरविपघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—१ भाग शुद्ध तूतिया ३ भाग शुद्ध तबकिया हरताल, ४ भाग शुद्ध मेनशिला, ४ भाग जवाखार सबको एकत्रित कर धतूरे के रस मे मर्दन कर कुक्कुट पुट में पका कर रत्तिया के प्रमाण में सेवन कर तो इससे शीतज्वर दूर होता है—यह शीत ज्वररूपी विष को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

६—मुत्रकृच्छ्र पर कृच्छ्रातक रस

पारदाभ्रकवैक्रान्तहेमकान्तनिगंधकम्।
मौक्तिकं विद्रुमं चैव प्रत्येकं स्यात् पृथक् पृथक् ॥१॥
सम निंबूरसैर्मर्द्यं मूषाया सनिरोधयेत्।
पचविंशतिपुटान् दद्यात् ततः सर्वं विचूर्णयेत् ॥२॥
माषमात्ररसं दद्यान्नवनीतसितायुत।
विदारी तुलसी रंभा जाती बिल्व शतावरी ॥३॥
मुस्ता निदिग्धिका धात्री धात्री छिन्नोद्भवा कुशा।
पाषाणभेदी सपाक्षी चतुरूष्णा त्रिकंटक ॥४॥
त्रपुसबीजयष्ट्यमिधामेरा (?) चन्दनबालुकं।
सर्वं संचूर्ण्य यत्नेन क्वाथयित्वा पिबेदनु ॥५॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहवातपित्तकफामयान्।
तथान्याखिलरोगांश्च नाशयेदात्र संशय ॥६॥
रसः कृच्छ्रातको नाम पिटकादिमयान् जयेत् ॥

टीका—शुद्ध पारा, अभ्रक भस्म, वैक्रांत मणिभस्म, सुवर्णभस्म, कान्तलोहभस्म शुद्ध गंधक, शुद्ध मोती, शुद्ध मूगा, ये सब चीज अलग अलग बराबर बराबर लेकर नींबू के स्वरस में मर्दन कर मूषा में बंद कर पचीस पुट देवे। प्रत्येक पुट में नींबू के रस की भावना देवे इस प्रकार सब का भस्म बन कर आने पर सबको चूर्ण कर एक माशा प्रतिदिन मक्खन और मिसरी के साथ खाय तथा औषध के खाने के बाद ही नीचे लिखा काढ़ा पीये। विदारीकंद, तुलसी, केला कंद, चमेली पत्ता, बेल की छाल, शतावर, नागरमोथा, छोटी कटेरी, अडूसा, आवला, गुरवेल, कुश की जड़, पाषाणभेद, सपाक्षी, गया, पीपल, गोखरू, ककडी के बीज, मुलहठा, छोटी इलायची, सुगन्धवाला, सफेद चन्दन इन सब इकीस चीजों को कूटकर काढ़ा बनाकर पीये। यह ऊपर की दवा का अनुपान है। इसके सेवन करने से मूत्र कृच्छ्र, पथरी, प्रमेह, वात पित्त, कफ के रोग तथा क्षय वगैरह संपूर्ण रोगों को नाश करता है। यह मुत्रकृच्छ्रातक रस उत्तम है।

७—विबन्ध (कोष्ठबद्धता) पर विरेचक तैल

रसगंधकनेपालदंतिवीजानि टंकणं ।
एरंडं तुंबिवीजानि राजवृक्षाभयात्रिवृत् ॥१॥
पलाशवीजमेकैकं वृद्धिभागोत्तरेण च ।
स्नुहीक्षीरेण संयुक्तं मर्दयेत्त्रिदिनान्तरम् ॥२॥
नारिकेलफले क्षिप्त्वा महागाढातपे स्थितम् ।
तत्तैलं जायते शीघ्रं लेपोऽयं नाभिमध्यतः ॥३॥
अणुमात्रविलेपेन सप्तवारं विरेचयेत् ।
तद्गन्धाघ्राणमात्रेण पंचवारं विरेचयेत् ॥४॥
गुंजावत्पादलेपेन दशवारं विरेचयेत् ।
वैरेचकप्रयोगोऽयं पूज्यपादेन भाषित' ॥५॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध जमाल गोटा, शुद्ध सुहागा, शुद्ध अंडीबीज शुद्ध कड़ू तोमर के बीज, अमलतास, बड़ी हर्रे का छिलका, निशोथ छिवले (पलाश) के बीज ये ६ चीजे एक एक भाग क्रम से बढ़ती लेकर सबको एकत्रित कर थूहर के दूध से ३ दिन तक बराबर मर्दन कर नारियल के फल में भर कर खूब तेज घाम में रख दे। सब दवाइयां घुलकर तैलरूप हो जायँ तब जानो यह विरेचक तैल तैयार हो गया। यह तैल थोड़ा सा नाभी पर लगाने से ७ वार दस्त होता है तथा १ रत्ती पाँव के तल भाग में लेप करने से दस बार दस्त होता है। और इस तैलको सूंघने से ५ बार दस्त होता है। विरेचन का यह प्रयोग पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

८—प्रमेह पर राजमृगांक रस

सुवर्णं रजतं कांतं त्रपुषं चैव शीसकं ।
भस्मीकृत्य च तत्सर्वं क्रमवृद्धया क्रमांशकं ॥१॥
व्योमसत्त्वभवं भस्म सर्वैस्तुल्यं प्रकल्पयेत् ।
कज्जलीं सूतराजस्य सर्वैरेतैः समांशकम् ॥२॥
प्रदाय लौहभस्मानि पूर्वभस्मानि निक्षिपेत् ।
काष्ठेनालोड्य तत्सर्वं दिनमेकं–समाचरेत् ॥३॥
ततो विचूर्ण्य तत्सर्वं सप्तधा परिभावयेत् ।
आकुलीबीजसंजातक्वाथेनैवं हि यत्नतः ॥४॥

ॐ

THE JAIN ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol I] June 1935 [No I

Editors

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 4 Foreign Rs 6-8 Single Copy Rs 1-4



Om

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol I } No 1 } ARRAH, (INDIA) { June, 1935

MESSAGE

I welcome the '*Jain Antiquary*' and wish it all success I know Jainology will fully reveal the Truth and antiquity of Jainism by cogent evidence My own researches in mythology have shown how far and wide has been the acceptance of its principles in the world, The same I feel sure will be found to be the result of investigation in the other departments of Research Let me again wish the Jain Antiquary full unqualified success

CHAMPAT RAI JAIN
London

APPRECIATIONS

1 O E A W Oldham Esqr., C S I writes from London —

"I wish this new Antiquary every success in its career and trust the Editorial Board will also exert their influence towards the

publication of the many Jaina texts not yet available to the public, or even for the use of research workers, as these are likely to contain valuable material for the history, both religious and secular, of India."

2 Prof E. J. Rapson writes from Cambridge (England) :—

"I heartily wish your Quarterly all possible success."

3. Rao Bahadur Sirdar M. V Kibe, M.A, Minister of Commerce, Indore remarks .—

"I am delighted to hear, you had now undertaken to publish a quarterly devoted to the study of Jainism Although its followers are few, yet its Philosophy and its History are of great interest possessing many problems which require a close study in the interest of Humanity."

4 Late Rai Bahadur Babu Hira Lal, B.A, Retd Dy. Commissioner, Katni wrote ·—

"I congratulate you and your colleagues on the excellent idea of starting the Jain Antiquary, devoted to the study of Jainology, which has not been thoroughly studied upto this time. The vast literature, which the Jaina records contain are extremely important not only from the Jaina religious point of view, but they are a storehouse of historical information and linguistic morphology which are so interesting to present day scholars of the East and the West I wish every success to the new Quarterly and to the laudable efforts of its promoters."

5. Prākatana-Vimarsa-Vichaksana, Rao Bahadur R Narasimhacharya M.A., M.R A S writes :—

"I am very happy to hear that an Anglo-Hindi Quarterly is proposed to be published to promote the cause of Jainlogy and to foster the study of the subject . I am greatly interested in the study of Jainism and shall be immensely happy for any steps that may be taken for developing Jain Research . . Wishing you every success in your efforts"

6. Prof W Schubring, Ph. D. Hamburg ·—

"I was glad to learn from you that you are about to start, under the title of 'The Jaina Antiquary' a new Anglo-Hindi Quarterly devoted to Jaina Studies As our own studies, as you know, are devoted to the same object, I am eagerly looking forward to the first number. You would oblige me very much by sending me one or several copies in order that I may obtain an idea of the line on which your journal is started and from which the character of any future contribution will depend. With my best wishes"

7. Dr. Hermann Goetz of the Kern Institute, Leyden (Holland) writes ·—

"The Kern Institute of Indian Archæology is of course very much interested in your useful and promising undertaking. We therefore shall be very glad to co-operate with you .."

EDITORIAL

Our Venture

A fully correct and comprehensive history of India has not yet been written and can not be written unless and until single historical facts from age to age and period to period province to province and movement to movement are studied and examined in all their aspects It is now well known at least in scholarly circles that Jainism is one of the most ancient religions of India and that it has influenced the religion philo sophy moral and social out look of the people to a remarkable extent But the details of these influences how, why and when Jainism made its contributions to the cultural development of the Indian people are even now a matter of vague speculation and even scholars are not very clear about them The Jaina idea of God and eternity of life has been woefully misunderstood and the system has been denounced as *Nastika* or *atheistic* The principle of *Ahimsa* or non violence which is the *sine qua non* of the faith has been misrepresented as the factory in which the shackles of slavery were forged The philosophy of *Anekanta* or multifold view points with which Jainism has tried to reconcile seemingly opposite opinions and beliefs has been derided and held up to ridicule as a jumble of contradictions The fine arts such as architecture sculpture painting music and poetry as developed by the Jainas have been neglected or their importance minimised and the Jaina literature inspite of its fullness and versatality has not been considered worthy of serious study This state of affairs was first due to the fact that the spirit of Jaina religion and its followers was very much misunderstood by the followers of the Hindu religion but the position was continued and even aggravated by the apathy of the Jainas themselves who made no efforts to make their attitude clear and did not give sufficient publi city to their literature With the changing times however the condi tions are now fast changing On he one hand the scholars all over the world are becoming increasingly interested in the study of Jainism and on the other the Jainas themselves have become keen about clearing their position and attitude both by propaganda and by throwing open their literary treasures to the world

The present venture is a modest attempt to facilitate and encourage the growth of this new spirit All Jaina and non Jaina scholars are invited to express themselves freely about Jaina religion philosophy history art and literature through the pages of the Jaina Antiquary Our forum shall be open to all those and only to those who wish to present facts without any passion or acrimony Our aim is to elicit

truth, to remove prevailing doubts and suspicions to re-examine known facts impartially, to discover unknown events of history and fit them in with the known facts and to bring to light the vast ancient literature that yet remains hidden from the public view. All this we mean to accomplish by cool and patient study without distorting facts and without forcing conclusions We are fully conscious of the difficulties which lie in our way but we also know that nothing good and great has ever been accomplished without great risks We will do our best and we feel confident of the co-operation not only of the Jainas of all denominations, Digambaras, Svetambaras and Sthanakavasis, but also of all those belonging to India or outside, who are interested in the study of Indology. We are sure of our efforts but the measure of our achievements will depend upon the measure of co-operation that we receive. And thus only our humble venture shall crown with success, which no doubt shall be a thing of pride for the Jaina Oriental Library, Arrah and of satisfaction for that departed great soul Shrīmān Babū Devakumāraji, of Arrah, who founded the Library and the "Jaina Siddhanta Bhāskara," the Hindi quarterly which is being published again by his illustrious sons Messrs. Nirmal Kumarjî and Chakreswar Kumarji B. Sc., B.L., and of which the "*Jaina Antiquary*" forms a part, simply to promote the cause of Jaina Research. May the Shāsana Devas help us and the Victory be of the Great Jinas!

HIRA LAL JAIN.
KAMTA PRASAD JAIN.

Ancient South Indian Jainism

BY

Prof B Seshagiri Rao M A Ph D
Bharatithirtha Pradhani Vizianagram

Jitam bhagwatā Srimad dharma tirtha vidhāyinā
Varddhamānena samprāpta siddhi saukhamritatmanā
Bhadrabalu Ins of srawana Balgola

(जितभगवता श्रीमद्धमतीर्त्थविधायिना ।
वर्धमानेन सप्राप्तसिद्धि सौख्यामृतात्मना ॥)

Namas Kriya

My grateful thanks are due to the Editorial Committee of the *Jain Antiquary* for the honour they have done me in inviting me to join their present literary enterprise I gladly respond to their kind invitation and say something about Ancient South Indian Jainism with the history of which I made myself familiar to some extent

Spiritual religion and Ritualism

To day institutional religion in India of whatever denomination has become so grossly and so largely identified with mechanical formalistic ritualism that religion as spiritual aspiration and spiritual achievement through moral perfection has almost completely lost ground In such circumstances a peep into the antiquities of any faith or system of religion in India is bound to have very chastening and ennobling reactions I trust the labours of *Jain Antiquary* will in time bring about this new life in that ancient system of Jainism which for at least twelve centuries if not more exercised great power and influence over the south and needless to say north—Indian peoples

A Religion of Strength.

It appears to me that Jainism is a religion of strength, believing that man in spirit and that his supreme goal in life or *Uttama Purushartha* is the attainment of Godhood or Arhathood i e that *Jivatma* is destined to become *Paramatma* its original source The obligation to and effort at this transformation it throws on man s efforts more than on God s Grace (or Paramēsvarasya Nirhētuka jiyamāna kataksha) It is a worker s and not an idler s faith It looks upon *Samsara* or life experience as a sea of troubles" an entangling snare—Samsara or experience where it is mostly as ordinarily a life of the impulses or the senses That the ideal of man is

the culture of the spirit and not of the body, that it is the spirit that abides, and it is the body that at some time or other has to be given up. That such a faith appealed to ancient South Indian peoples, thus wise, is clear from the following extracts from the Inscriptions of Sravana Belgola,[1] the greatest and most ancient centre of Jainism in South India :—

(*a*) " The dense smoke of inequity spreading wide and filling space like the huge mountain of ignorance, the fool who is entangled in the great and delusive troubles of family falling under the power of kings, goes to ruin "[2].

(*b*) " An ignorant man, manifestly corrupting his mind with passion and enemity may fail in devotion to the Spirit, the form of all wisdom, the ever peaceful , but how can a wise man for a moment strive for any other end ? "[3]

(*c*) Thou having fixed thy mind unshaken on the indwelling spirit, love and all the desires of sense have fled away, the happiness of perfect spiritual knowledge increases, and by the complete destruction of sin, thou hast attained the state of final beatitude, Gommata deva, and unending happiness '[4]

(*d*) He to whom all actions are directed, removed above all opposition, highly exalted, free from ignorance, without an equal, free from desire, of a glory beyond expression or thought, having subdued the power of the world, the highest,—may his glory dwell in my mind "[5].

These extracts emphasise the cardinal duty and principle of self-perfective effort through the conquest of sense desire and the self-exaltation about the distractions of *samsāra* as the highest goal of religion. Jainism is thus not only a religion of strength, but of " *knowledge*" (*jnana*) and self-discipline (*sikshā*).

---

1 A large village situated in 12°51′ north latitude and 76°33′ east longitude in the Chennarayapatna Taluq of the Hassan District of the Mysore State

2 Epigraphia Carnatica Vol II Sravana Balgola Insns No 3, (one of the earliest on the Hill.)

3 Ibid No 54, dated 1128 A D

4 Ibid No 85, dated 1180 A D

5 Ibid No 108, dated 1433 A D

Doubts may arise as to whether such a faith were not too intellectual too rigid or ascetic to be practical whether like *adwaita* it does not tend to withdraw man from the material arts of life and civilisation and whether after all it were not too difficult or too esoteric for the masses to follow It is however, the most pitiable and even contemptible aspect of Indian life to day that we mistake the indulgence in the luxuries of life to be the raising of its standard and keep the mass mind in perpetual ignorance of the vital issues of life and its ennobling disciplines and even nourish it on the religion of formalistic ritualism on the theory of salvation by actions *karma* or on ecstatic emotionalism on the theory of salvation by grace or *Bhakti* and *Prapannata* To my mind ancient South Indian Jainism in its prestive purity and essence seems to have been a living protest against these forms of religious practice and had *successfully trained even the lowest minds* in the knowing understanding and appreciating pursuit of religion as the culture of the Spirit and the conquest of the flesh as distinguished from ritualism or ecstatic sentimentalism

A practical religion and discipline for all

And *first* that it is deliberately intended for all and sundry and that the great Jaina *rishis* of old acquired their great spiritual gifts to share them with their pupils both lay and clerical to train them to become as spiritually great as themselves there is ample evidence in the Sravana Belgola Inscriptions on which the present paper is based A few instances will suffice —

(a) That learned *muni* of great acumen obtained many celebrated disciples whom he taught *in order to purify the world and diffuse merit in all parts* — who putting faith in their *guru* imbibed from him all learning as a calf sucking milk from the cow of plenty and growing strong with that nourishment became celebrated everywhere "[1]

The outlook of Jaina Siddhant Charyas

(b) a fire to the forest of family cares a summit of uplifted honour the cow of plenty in bestowing wealth the *remover of the sorrows of those in the power of the enemies of sin and ignorance* was *Srutamuni* the chief *Suri* pure in morals untouched by women [2]

(c) He to whom Shree *Matisagara* was guru that creator of moon like fame he to whom the worshipped *Vadi Raja* head of the *gana* was fellow student that *Dayapala Vrati* was

1 Ibid No. 103, dated A D 1433

2 Ibid No 10, dated [illegible] 1398

the only fortunate one *in whose mind was the desire to impart to others a portion of his own form.*" (N B. Herein is the ancient ideal of *guru-sishya nyaya* defined as "*acharanh purva rupam-antevas-y-uttara rupam.*" [1]

And, *Secondly* in all such intellectual pursuit of spiritual culture under gurus who are themselves adepts or *siddhas*, two practical principles played the greatest part viz *diksha* or concentration and *Siksha* or discipline It will not do to take a vow or pledge, it will have to be made an operative force in the daily round of life, and the constant and unfaltering pursuit of a pledge as an active force in life is *siksha* or discipline. The Jain faith in ancient times invited the south Indian *masses* to concentrate on the culture of the spirit, to live the life of the spirit and not of the senses, so that by such culture they may not only sanctify their bodies and minds, but make of themselves centres of radiating spiritual influence. It was not mere theory, nor mere gospel-preaching, not doctrinaire hair-splitting, but downright, real, practical, demonstrable life lived from hour to hour *in the eye of the masses*, as a living example of a possible ideal. On this head also there is ample evidence in the *Sravana-Belgola* Epigraphs. In all religious controversy a stage would arrive when the final appeal would be made from disputations and theories, from *raddhantas* and *Siddhantas* to the arbitrament of *life* The *life* is the thing, the most appealing *pratyaksha Pramana* or occular authority, to catch the conscience of the devotee; to overcome the hesetancy of the novitiate. That is why one of these most ancient Jaina Acāryas and disputants said —

Dikshā and Sikshā

"Why vainly strive, O" Jewelcrown of the wanton populace to prove the true Tathagata faith to be false? Escape quickly, for the proverb says—" *living shall see good*' and leave your love of dispute" [2]

And here below are a few characterisations of such ancient Jaina *Risis* who *lived* their faith and promulgated it by action even more effectively than by disputation, great as they were at the latter also —

(*a*) " Unruffled by accusers, of a form like the beautiful placid moon, and a place of fortune, having attained the path of learning and the path of victory—such was the *mahā muni Hāma sana* " [3]

Some great Jaina Siddhantā caryas

1 Ibid No 54, dated A. D 1128.

2 Ibid No 105, dated 1398 A D.

3 Ibid No 54, dated 1128 A D

(b) ' He by whom the desired form of siddhi was with worthy words ensured to friendly men the *Dayapala Muni* do ye with words revere " [1]

(c) In whom equal patience rejoices in whom kindness has no limit whom impartiality loves whom absence of desire desires through love loving salvation though in his own esteem low yet the head of yogis by his character an *Achari* Sri *Mallishena muni*—him let us revere [2]

(d) The ignorant and the wise the poor and the rich the lowly and the honourable, the evil and the good the sorrowing and the happy the proud and the virtuous he caused to become *samantabhadra* (ever fortunate) may *Sri Charukriti* prosper in the world ' In order *that his own merit*—the destroyer of the enemy of sin the bestower of highest happiness difficult to obtain and an object of desire—which he had acquired by the supreme path highly prized by the worthy of a sanyansi *might accure to all people* he poured forth the nectar of his eloquence so that they all forsaking their bodies and praising the feet of Jina attained to the state of the Gods [3]

Very naturally such g eat Rishis of Belgola the great examples of the higher life in time came to be worshipped even by kings and in time became Rajagurus Mahamandalacharyas and Jagad gurus Of such Rishis who thus worked their way to power and influence through their learning character and other attainments there are also references in the Sravana Belgola Inscriptions A few examples are given here under —

(a) *Siddhanta yogi* whom though his lotus feet were ever tinted with the rays from the crowns of bending kings no sub tance and no woman no clothing and no youthful pride, no strength and wealth could tempt [4]

(b) After him *Hulla* the minister of King Narasimha his guru was the *Jagadguru Kukkutasana Maladhari Deva* [5]

(c) Maghanandi Siddhanta Chakravarti *Rajaguru* to the Hoysala king " [6]

(d) Mahamandalacharya *Deva Kirti Pandita Deva* " [7]

(e) The moons of the nails of his feet illumined as with the hues of evening from the jewels in the crown of the Ganga

1 Ibid No 54 dated 1199 A D
2
3 Ibid No 10 dated 1399 A D
4 Ibid No 109 dated A D 1432
5 Ibid No 15 dated A D 1160
6 Ibid No. 119 dated A D 1 3
7 Ibid No 89 dated A D 1 3

King, was he whose name was first the word Sri followed by the famous *vijaya*, learned, of superhuman qualities, of glory dispensing ignorance " [1]

(*f*) " He whose pair of pure lotus feet the Poysala king Vinayaditya having served was brought into the possession of great fortune, the place of implicit commands that *Santi Deva muni's* ability who is worthy to describe as this much or that much, are they not rare, the possessors of such surpassing glory " [2]

Jaina Influence on Conquerors

I shall close this paper by giving just one illustration of how the Vitaraga doctrine of Jaina Sampradāya and the Vitarāgi Rishis that lived it and by doing so wielded even such political power, had worked over persons high placed in life *i e*, over conquerors of kingdoms and embattled hosts :—

" This auspicious great minister and dandanāyaka . . *Ganga Raja*, when the army of the Chalukyan emperor . was left in camp at *Kannegala* , saying " Let go " and springing on to his horse, caring not for its being a fight by night, went with speed and with the sword in his arm carried terror into the panick stricken army "

Thus as if it were sport, having defeated all the feudatories, he brought the whole collection of their stores and vehicles and presented them to his own lord , who saying I am delighted, delighted with the prowess of your own arm Ask, what you will

Having gained supreme favour he asked not at all for kingdom or wealth, but his mind fixed on the worship of Arhat, he asked for *Paramo*.

And having so asked—

He presented it for the worship of the Jinālaya which his mother Pôchala Dêvi had made and the Jinālaya which his wife Lakshmi Dêvi had made " [3]. Such was the piety and contempt for mere wealth which the Jaina faith had engendered in the minds of the greatest " men of action."

Such was ancient South Indian Jainism , such was its vogue and such its influence. This is but the barest of a bare outline of its cultural history which deserves a volume by itself. If Jainism and Jaina Culture should again influence Indian life in our time, it should worthily concentrate, as did its ancient Rsis in South India, on the *practical teaching of* its *spiritual discipline*, its *dikshas* and its *sikshas to one and all*, men, women and children, high and low, rich and poor,—*preferably even low and poor* in order that whereby the mass mind may be illumined and the mass life ennobled and freed from the bondage to ignorance and the thraldom to sense desire Will the Jainacharyas take the leadership of the coming democracy in India ?

1 Ibid No 54 dated A D. 1128
2 " " "
3 Epigraphica Carnatice Vol II Sravana Belgola Insns No 45, dated A D 1117.

NĀYAKUMĀRACARIU

An Apabhramśa work of the 10th century

(By Prof Hīrā Lal Jain M A LL B)

1 DISCOVERY OF THE WORK

It was in the year 1924 that I first discovered the NĀYAKUMĀRA CARIU of Puṣpadanta from the manuscript stores at *Karanja* in Berar The notes that I made on that occasion were included in the Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C P and Berar published by the Local Government in 1926 The *Apabhramsa* works discovered there proved very interesting and I contributed an article on *Apabhramsa* Literature to the Allahabad University Studies Vol I and determined the date of *Puspadanta* who was the chief of the authors first in the notes contributed to the Catalogue and then in an article contributed to the Hindi Quarterly *Jain Sahitya Samsodhak* Vol II

2 THE AUTHOR

The author of the work is Pupphaxanta SK *Puspadanta* Of this author three works have so far come to light *Mahapurana* or *Tisatthi purisa gunalamkaru* in 102 chapters Jasaharacariu in 4 chapters and *Nayakumaracariu* in 9 chapters From these works the following information about the poet can be gathered —

1 *Puspadanta* was the son of *Kesava Bhatta* and *Mugdhadevi* Brahmins of *Kasyapa* Gotra

2 He travelled to *Manyakheta* from somewhere and was patronised by Bharata and later by his son Nanna both ministers of *Krsnaraja* alias *Vallabharja* who may be identified with *Krsnaraja* III of the *Rastrakuta* dynasty of *Manyakheta*

3 He began his *Mahapurana* in *Siddhartha* Samvatsara and completed it in Krodhana Samvatsara on *Asadha Sukla* 10 which is found to correspond with Sunday the 11th June 965 A D

4 He describes himself as tender in costitution and ugly in appearance homeless dressed in rags and barks bathing in rivers and pools and sleeping on bare ground Never the less he was equanimous towards the rich and the poor and friendly to all He had a high sense of self respect and was excessively fond of poetry for which he earned the titles of *Ahimana meru* and Kavva pisalla

5 He mentions the following three historical events of his time —

(i) The king of *Manyakheta* here called Tudigu, killed the

Cauda king. The latter may be identified with *Rajaditya* Cola who was killed by *Krsna* III in 949 A D.

(ii) The king of *Dhara* burnt *Manyakheta.* This king may be identified with the *Parmar* prince *Harsadeva.*

(iii) A severe famine razed over *Manyakheta* This may have followed the raid of the capital by Harsadeva.

I shall now confine myself to what the poet says about himself in the present work and the circumstances that led him to compose it. In the colophon of each Sandhi we are told that it is the work of *Mahakai* Pupphayanta. At the beginning of the work the poet introduces himself as the son of *Muddhai* (*Mugdhadevi*) and *Kesavabhatta* of Kāśyapa Gotra He was residing in the house of Nanna in the city of *Manyakheta* when two persons, Nailla and *Silaiya,* pupils of one Mahodadhi, approached him, eulogised his talents and expressed their desire to hear from him the story of *Nagakumara,* illustrating the fruit of observing the fast of Sri-Pancami He was also requested to the same effect by Nanna, the minister of *Vallabharaya,* and Nailla and Sīlaiyā urged him to associate the work with the name of Nanna The poet acceded to the request and began the story. In the *praśasti* that we find at the end of the work, besides the usual information about his parentage the poet records something that has not been told anywhere else. He tells us here that his parents were at first devotees of Siva, but "they had their ears filled by the ambrosia of the teacher's words and so they died by the Jaina form of renunciation" We have here, no doubt, the mention of the conversion of Puspadanta's parents from Saivism to Jainism.

3 THE POET'S PATRONS

Puspadanta has, in all his works, profusely eulogised his patrons. In the *Mahapurāna* he tells us that when he reached *Manyakheta* he was received with great honour by Bharata, the king's minister who kept him in his own house aud induced him to write poetry. The *Mahapurāna* is dedicated to him as in the colophon of each Sandhi we are told that the work was Mahābhavva-Bharaha-anumannia, approved by the noble Bharata. Bharata was a Brahmin of *Kaundinya* Gotra. His father's name was Aiyana or Annaiya, mother's Sridevi and wife's Kundavva or Kanakadevi. He had seven sons, Devalla, Bhogalla, Nanna, Sohana, Gunavarma, *Dangaiya* and *Santaiya.* Of these Nanna succeeded his father in office either because his elder brothers died premature or because of his superior talents Two works, Jasaharacariu and *Nayakumarcariu* are dedicated to him, the former being called Nanna-kannaharana, an ornament to the ears of Nanna, and the latter 'Nanna

nāmānkita stamped with the name of Nanna He has been highly eulogised at the beginning of the work and in the ending praśasti One of ois adjectives Vicchinna Sarāsai bandhava seems to me to suggest that Nanna took particular interest in the revival of Prakrit poetry which was going out of use as we know that almost all of the Jaina authors who flourished immediately before Puspadanta for example Jinasena Gunabhadra and Somadeva wrote in Sanskrit Of the other brothers of Nanna Sohana and Gunavarma or Gunadharma while yet young had a hand in inducing the poet to compose the Nayakumara cariu, and Dangaiya is mentioned in the *praśasti* The office of minister ship was hereditory in the family but there seems to have been an interruption just before Bharata who is said to have restored the family to the position which it had lost In the verse prefixed to the second chapter of Jasaharacariu mention is made of Nanna s sons Thus in Puspadanta s works we find mention of the four generations of this illustrious family associated with the ruling dynasty of *Manyakheta* during the tenth century

4 THE STORY IN BRIEF

The story of *Nagakumara* is briefly as follows —

Jayandhara was the king of Kanakapura in the Magadha country From his first wife *Visalanetra* he had a son named Sridhara He later on married *Prthvidevi*, the princess of Girinagara from whom he got another son While yet a baby he inadvertantly fell into a well where he was protected by a *Naga* who adopted him gave him the name of *Nagakumara* and educated him He then returned to his father and married two dancing girls *Kinnari* and *Manohari* He subdued a vicious horse and a ferocious elephant which had defied the attempts of his elder brother at subjugation His growing power made his elder brother jealous of him and he tried to remove him out of his way altogether The attempt made by *Sridhara* on his life fortunately failed owing to the presence as his body guard of *Vyala* a prince of Mathura who had become his friend and attendant In order to avoid a fratricidal war between his sons Jayandhara ordered *Nagakumara* to go out of the realm and come back only when called in So *Nagakumara* quited the realm accompanied by his two wives and his friend Vyāla

The period of exile was full of adventures and unfailing good luck for *Nagakumara* He went to Mathura and compelled the king regent to release the princess of *Kanyakubja* whom he had imprisoned He went to *Kasmira* and won the hand of the princess by his skill in lute playing He went to the Ramyaka forest where he acquired many

Vidyās and a great fortune from the Asura settlements. He then went to *Girisihhara* and married the daughter of the chief called *Vanaraja.* He restored the latter to his parental throne of Pundravardhana from where his anscestors had been ousted by the coparcenars Proceeding to the Urjayanta mountain he contracted the friendship of the king of Antarapura with whom he then went to Girinagara to help the king against the attack of Candapradyota, king of Sindhu He exhibited extraordinary valour in the battle that followed and the king of Girinagara, recognising in him his sister's son, married his daughter to him. He then worshipped the Jina on the Urjayanta mountain.

At this stage, his help was solicited by Abhicandra, king of Gajapura against *Vidyadhara* Sukantha who had killed his elder brother Subhachndra of *Kausambi* and captured his seven daughters. Chivalrously responding to the call, *Nagakumara* immediately went to Alamghanagara and rescued the princesses by slaying the *Vidygdhara.* He then went to Gajapura where he married the seven princesses as well as the daughter of Abhicandra While staying here, *Mahavyala*, the elder brother of *Vyala* brought to him the news that the princess of Ujjaini did not like any man. He proceeded to Ujjaini and won the heart and the hand of the princess He then went to *Kiskhinda*-Malaya and won the hand of the Meghapura princess by exhibiting his skill in the art of playing upon the *Mudanga.* He then heard about some wonders in the Toyāvali island where *Vidyadhara* Pavanavega had murdered the king of Bhūmitilaka and had captured his five hundred daughters whom he was harrassing because they would not marry their father's murderer. *Nagakumara* went to the island along with his comrades by the help of the Vidya and slew Pavanavega, rescued the princesses and married them all.

He then came to the *Pandya* capital, thence to Dantipura in the Āndhra country where he married the daughter of king Candragupta, and then to Tribhuvanatilaka where he married Lakshmimati the daughter of the chief Vijayandhara His latest bride won his affections so deeply that he inquired of sage Pihitāśrava as to its cause. The latter narrated the events of his past life when he was the son of a merchant in Vitasokapura and died in the observance of the fast of *Sri-Panchmi* All his personal charms and prowess in the present life were pointed out by the sage to be due to that religious fast and that his wife Lakshamimati was no other than his wife of the former birth.

At this stage minister Nayandhara arrived from home and Nāgakumāra returned to Kanakapura where he was crowned king by his own father.

Sridhara became a recluse through sheer disgust and his parents also retired for ascetic life *Nagakumara* ruled the earth for a long time He then handed down the throne to his son Devakumara and himself devoting to the religious life of a Digambara ultimately attained salvation

5 THE POETRY OF NĀYAKUMĀRACARIU

In the introductory part of his *Mahapurāna Puspadant* says that he had seen nothing of the works of Akalanka Kapila *Kanacara Patanjali* Vyāsa Bhāsa Kālidāsa Svayambhū Sri Harsa Bāṇa Rudrata Nyāsakāra Piṅgala and many others But he has completely belied himself in his works I shall here confine myself to the present work alone to show that its author was familiar not only with the Hindu Buddhist and Jaina *religion philosophy and mythology but with also all those branches of* technical literature a knowledge of which formed a necessary part of the equipment of an accomplished poet in ancient India

As might be expected the poet shows a thorough grasp of the tenets of the Jaina faith to which he turns frequently but which he has particularly expounded twice (IV 2 4 IX 12 14) Once (IX 5 5) we find mention of the two questions namely wearing clothes and eating food during the stage of omniscience round which ranges a long controversy between the Digambaras and the Svetambaras Various doctrines and beliefs of the Hindu and Buddhist religions have been mentioned and commented upon in seven passages (5 to 11) of chapter nine Systems of philosophy such as *Samkhya Mimamsa Kanikavada Sunyavada* and *Isvaravada* and some of their founders such as Kapila *Aksapada Kanacara* and Sugata are named Even the materialist school of Brhaspati has not been overlooked

For poetic embellishment the author has drawn considerably upon Hindu mythology contained in the *Purānas* Brahmā has been called the lotus born and Rudra or Siva figures with his consort Parvati his three eyes his trident his bowl and his garland of skulls The stories of his burning of cupid and cutting off the head Brahmā also come in for review Similarly *Visnu* appears with his consort *Lakshmi* and the cowherd maids (Gopi) and his lifting of the Govardhana mountain and slaying of Madhu and Sisupala are familiar events to the poet The lifting of the earth by the boar the churning of the ocean by the gods and the earth being supported on the hood of a serpent are also within his knowledge Other gods such as Indra and his consort Paulomi Yama Vaivasvata and Kubera or *Dhanapala* find frequent mention while Brhaspati s learning and his defeat by his rival *Rambhas* personal charms and Cupid s flower arrows have received the poet s recognition

For the same purpose, the *Mahabhārat* and the *Ramayana* have been freely drawn upon The five fiery *Pandavas* and their destruction of the Kaurava forces, Arjuna's going to Drona for instructions and his enmity with *Karna*, the liberality of the latter and his fight against his own brothers, the purity of the character of Bhisma and his turning away from the battlefield, the righteousness of Yudhiṣthira and his troubles of exile, and Vrkodara with his mace serve the poet in his similes and metaphors He mentions Arjuna as Nara and Karna as Ravinandana which shows that he was not deriving his knowledge of the Bharata story exclusively from the Jaina books He mentions Rama and Sītā as ideal man and woman, Sugrīva and Hanumat as waiting upon Rām and Hanumat's loyalty for his master though he was a monkey, and Rāvana's fight with the armies of gods His allusion to the death of Ravana at the hands of *Laksamana* is clearly derived from the Jaina *Padma Purana*, but his probable reference to Vasistha's falling in to trouble for his hospitality to *Visvamitra* can be from no where else than *Valmiki's Ramayana*.

The poet's reference to three buddhis, three saktis, *pancanga* mantra, arisadvarga, seven vyasanas and seven *rajyangas* shows his knowledge of works on state-craft such as Kamandakīya *Nitisāra* and Kautiliya *Arthasastra*

Some of the poet's similes are derived from the stellar region, for example, his pun on kumbha as a water jar and the constellation aquarius or the elephant's temple and the constellation in union with Saturn, on *hasta* as the elephant's trunk and the constellation carvus in union with the moon He also speaks of the sun being eclipsed by Rahu and of yuti, that is, confluence of planets, as auspicious

The description of the limbs of *Nagakumara's* body is in accordance with Varahamihira's description of *Mahapurusalaksana*, and the mention of the various fine and useful arts and the handling of amorous situations in various parts of the book presuppose a knowledge of works on erotics such as Vatsayana's Kamasutra

Turning now to the poetic qualities of the work, we find that it is full of beautiful similes and metaphors drawn from the whole range of Aryan mythology and history, and frequently and more effectively from the poet's own observation of nature and human experience The description of the Magadha country and the town of *Rajagrha*, of *Prthvidevi* as a bride, of the march of armies, their encampment and battle scenes, is atonce beautiful and fascinating The poet is particularly fond of *yamaka* and slesa some striking examples of which are found in the description of the women of *Rajagrha* going to worship the Jina, of the

vicious horse of the feast given by Vanaraja of the resolve of Arivarma s warriors of the arrows of Sukantha and those of Nagakumara of the bunyan tree and of the water jars used for the coronation These and many other passages exercise the mind as well as entertain it by exhibit ing all the elegance and ornamentation of artificial poetry In fact the work as a whole is teeming with sweet alliterations appropriate and striking paronomasia and delightful fancies These the poet has well succeeded in combining with swift and easy narrative The story is meant to illustrate the fruit of a religious fast but it has been told in the grand manner of a kāvya The poet has rightly invoked the goddess Speech ' Moving in the mention of a mahākāvya resplendent with her double ornaments taking soft sportive padas with multifold blandishments and feelings giving delight by commendable sense combining all arts and sciences and exalted characterstics moving by the broad metre road bearing the ten qualities sprinkled over with the nine sentiments and beautified by the three vigrahas By mentioning the ten *prānu* the poet has revealed his acquaintence with the works of Bhamaha and Dandi In the body of the work the poet by means of some stray similes has told us what he considered to be the essentials of good poetry A great poet would compose a sentimental kavya in mātrā metre a good kāvya requires a choice of brilliant forms and phrases a good poet pays attention to the style of language a poet graces himself by means of a story well told and shorn of ornamentation is the story of a quack poet

The conclusion to which we are led by these references is that the poet s statement that he knew nothing of the works of the prominent writers of yore is a mere modesty as also his statement in the present work that he was unable to describe things being a dull poet and that his titles of mahākavi vagesvarī devī niketa and kāvya pisaca stand amply justified

* This work has been publi hed with an exhaustive introduction gl ary and ccs and notes a the first volume of the Devendrakirti Jaina Series Karanja

श्रीजैनसिद्धान्त-भास्कर के नियम।



१ यह पत्र तीन तीन महीने पर प्रकाशित हुआ करेगा।

२ सर्वसाधारण के लिये डाक व्यय-सहित इसका भारत में वार्षिक मूल्य ४) रुपया और विदेश के लिये ४॥) रुपया है, किन्तु राजा महाराजाओं के सम्मानार्थ १००) रुपया रहेगा। प्रतिकिरण का मूल्य १।) रुपया है। बिना अग्रिम मूल्य के प्राय यह पत्र नहीं भेजा जा सकता। इसकी पुरानी प्रतियां देने के लिये "भवन" बाध्य नहीं होगा। यदि पुरानी प्रति मिलेगी भी तो उसका मूल्य कुछ अधिक लिया जायगा।

३ यदि किसी को पता बदलवाना हो तो वे सम्पादक जैनसिद्धान्त भवन आरा से पत्र व्यवहार कर ठीक कर लेवें।

४ यदि नियमित तिथि पर पाठकों के यहां "भास्कर" नहीं पहुँचे तो वे अपने यहां के डाकखाने में तलाश कर हमें सूचना दें। बाद हम डाकखाने में इसकी पूरी खोज कर के ठीक कर देंगे।

५ लेख, समालोचना के लिये पुस्तकें, बदले के पत्र, मूल्य और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र सम्पादक "श्रीजैन सिद्धान्त भास्कर" आरा के पते से आना चाहिये।

६ किसी लेख के प्रकाशित करने या न करने तथा लौटाने या नहीं लौटाने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है। यदि कोई लेख सम्पादक लौटाना चाहें तो उनका डाक व्यय और रजिष्टरी का खर्च लेखक को देना पड़ेगा। अन्यथा लौटाने के लिये सम्पादक बाध्य नहीं होगा।

७ अधूरे लेख नहीं लिये जायेंगे। स्थान के अनुसार लेख एक या अधिक किरणों में भी प्रकाशित होते रहेंगे।

८ इस पत्र में ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी लेखों के सिवा राजनैतिक आदि विषयों की चर्चा तक भी नहीं रहेगी।

९ पत्र व्यवहार "जैन सिद्धान्त भवन आरा" के पते से करना चाहिये।

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

---

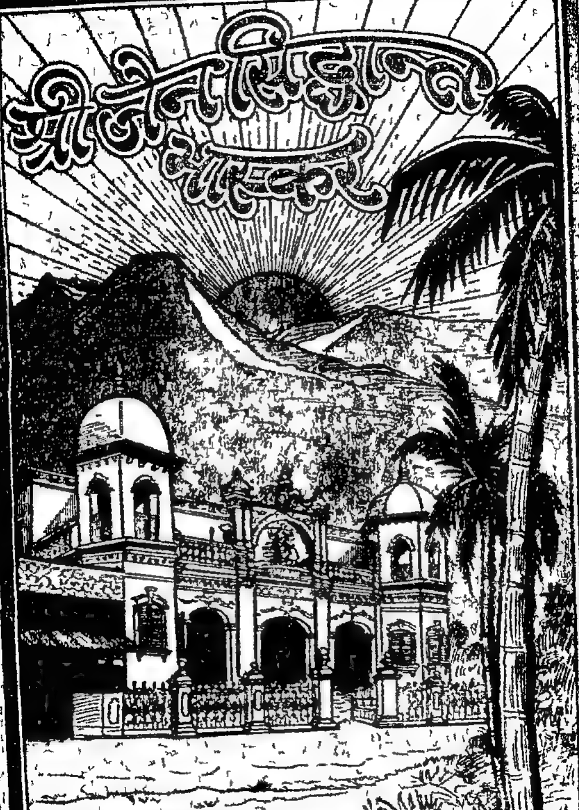
(१)	मुनिसुव्रतचरित, संस्कृत भाषा-टीका-सहित . .	२।)
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भा० स० . .	१)
(३)	जैन-सिद्धान्तभास्कर १म भाग की १म किरण	१)
	„ २य तथा ३य सम्मिलित किरण	१।)
(४)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी शास्त्रों की पुरानी सूची	॥)
(५)	भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	॥)

प्राप्ति-स्थान —

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)।

प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,

श्रीसरस्वती प्रिण्टिङ्ग वर्क्स, आरा।



The Jain Antiquary

An Anglo-Hindi Quarterly Journal.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २] [किरण ३

सम्पादक-मण्डल
प्रोफेसर हीरालाल, एम० ए०, एल एल० बी०
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०
बाबू कामता प्रसाद एम० आर० ए० एस०
पण्डित के० भुजबली शास्त्री



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १)

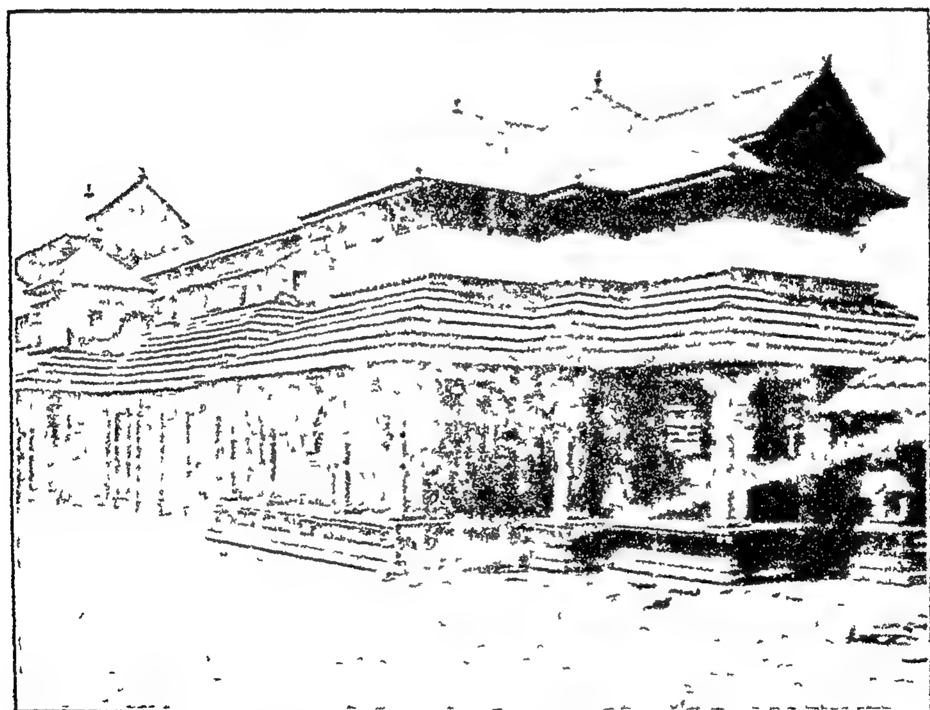
विक्रम-सम्वत् १९९२

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—



मूडबिद्री का होसबसदि (चन्द्रनाथ-चैत्यालय)

ॐ

॥ श्रीजिनाय नमः ॥



THE JAINA ANTIQUARY.

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २ | दिसम्बर १९३५ । मार्गशीर्ष वीर नि० २४६२ | किरण ३

जय स्याद्-वाद !

(र० —श्रीयुत कल्याण कुमार जैन 'शशि')

तू ऊर्द्धोन्नत मस्तक विशाल
जैनत्व तत्त्व का स्फटिक भाल
अपहृत मिथ्या भ्रमतिमिर जाल
तू जैनधर्म का शंखनाद !

तव युक्तायुक्त विचार सार !
नित अनेकान्त का सिद्ध द्वार !
करते आये तेरा प्रसार !
अतुलित तीर्थंकर पूज्यपाद !

तीर्थंकर पदकी निधि ललाम;
सिद्धान्तवाद का सत् विराम,
भारत संस्कृति का अमरधाम
तू संस्कृति का निरुपम प्रसाद !

तू पक्षापक्ष विरूप रूप
जय विनिमय का सयान रूप
तुझसे तुमसे पण्डित अनूप
गौतम-गणधर जैमिनि कणाद !

जय स्याद्वाद जय स्याद्वाद

× × ×

अमरकीर्तिगणि और उनका षट्कर्मोपदेश

(ले०—श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल एम.ए., एल.एल.बी.)



१ पोथी-परिचय

'जैनमित्र' की पुरानी फाइलों के पन्ने पलटते समय एक जगह मुझे मोती कटरा आगरा, के दिगम्बर जैन मन्दिर के कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची देख पड़ी। इनमें अमरकीर्तिकृत षट्कर्मोपदेश का भी उल्लेख था। सूचीकार ने इसे केवल प्राकृत ग्रन्थ कहा है, पर जो थोड़ा सा अवतरण वहां उद्धृत किया गया था उससे मुझे निश्चय होगया कि वह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में है। यह भाषा बड़ी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह प्राचीन संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि देशी भाषाओं के बीच की एक कड़ी है। इस भाषा के ग्रन्थ अभीतक,बहुत कम मिलते थे। जो मिले हैं उनको संशोधन-पूर्वक। प्रकाशित कराने का मैं कई वर्षों से प्रयत्न कर रहा हूँ। अतएव उक्त प्रति को देखने की मुझे इच्छा हुई। निदान, महावीर प्रेस, आगरा, के मालिक श्रीयुक्त महेन्द्र जी की कृपा से वह प्रति मुझे अवलोकनार्थ प्राप्त हो गई।

यह प्रति ११'×५" इंच लम्बे चौड़े देशी कागज के १०२ पत्रों पर है। पत्रों में दांये बाँये १॥ इंच, तथा ऊपर नीचे १ इंच हाँसिया छूटा हुआ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ११ पंक्तियां, व प्रतिपंक्ति में लगभग ३५ अक्षर हैं। पुरानी प्रतियों के प्रथानुसार पत्रों के बीच में स्थान छूटा हुआ है। ७० पत्र पुराने और शेष उससे पीछे के दूसरे हाथ से लिखे हुए प्रतीत होते हैं। पुराने पत्रों में भी नं० २ का पत्र गायब हो जाने से किसी तीसरे हाथ का लिखा हुआ पत्र उसके स्थान पर जोड़ दिया गया है। कई पत्र आधे, चौथाई, फट गये थे, उनको जोड़कर और त्रुटित अंश पुनः लिख कर मरम्मत की गई है। इस तरह इस प्रति ने बहुत जमाना देखा है और कागज ने शत्रुओं से काफी युद्ध किया है। अन्त में जो लिपि का समय दिया गया है वह उस शेष अंश के लिखे जाने का है। लेख इस प्रकार है:—

"संवत् १८८४ का भादवा माशे शुक्ल पक्षे तिथौ २ शुक्रवासरे लीपकृतं महातमा पनालाल वासी सवाई जयपुरक लीपी आगरा मध्ये॥ शुभंगमस्तु ॥छ॥छ॥छ॥"

मूल प्रति इससे कई सौ वर्ष की पुरानी ज्ञात होती है। अनुमान होता है कि आगरा की पुरानी प्रति खंडित होगई थी, उसकी पूर्ति सवाई जयपुर-निवासी महात्मा पन्नालाल-द्वारा कराई गई थी, सम्भवतः या तो मूल प्रति के जीर्ण अंश पर से ही या जयपुर की किसी

प्रति पर से। उक्त 'महात्मा' का लिखा हुआ अंश शुद्ध तो नहीं है पर इतना अशुद्ध भी नहीं है जितना उक्त वाक्य की अशुद्धता पर से अनुमान किया जा सकता है।

२ कवि-परिचय

कवि ने अपने ग्रंथ के आदि और अन्त में अपना कुछ परिचय देने की कृपा की है जिससे उनके विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बात विदित हो जाती है। उनका नाम अमरकीर्ति था। उन्होंने अपनी 'मुनि', 'गणि' और 'सूरि' उपाधियाँ भी जाहिर की हैं जिससे ज्ञात होता है कि वे गृहस्थाश्रम त्याग कर दीक्षित होगये थे और उन्होंने बहुत विद्वत्ता प्राप्त की थी। उन्होंने अपनी गुरु परम्परा भी दी है जिससे वे माथुर संघी और चन्द्रकीर्ति मुनीन्द्र के शिष्य सिद्ध होते हैं। उनकी पूरी गुरुपरम्परा इस प्रकार पाई जाती है*—

अमियगइ (अमितगति)
|
शांतिसेन
|
अमरसेन
|
श्रीषेण
|
चन्द्रकीर्ति
|
अमरकीर्ति

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस परम्परा के आदि पुरुष 'अमियगइ' कौन थे। हमारे कवि ने उनको 'महामुनि' 'मुनि चूडामणि', 'शम शील धन', 'कीर्तिसमय', 'बहुत से शास्त्रों के रचयिता' तथा 'अपने गुणों द्वारा नृपति के मन को आनन्दित करनेवाले' इन विशेषणों से विभूषित किया है। विचार करने से ये अमियगइ महामुनि आचार्य अमितगति ही विदित होते हैं जिनके बनाये हुए तीन ग्रंथ, धर्मपरीक्षा, सुभाषित रत्नसंदोह और भावनाद्वात्रिंशिका जैन समाज में सुविख्यात हैं। उनके श्रावकाचार, पंचसंग्रह और योगसार प्राभृत नामक ग्रंथ भी प्रसिद्ध हो चुके हैं। उनके बनाये हुए जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीप प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति इन चार ग्रन्थों के नाम भी पाये जाते हैं। इस तरह ये बहुत से शास्त्रों के रचयिता सिद्ध हैं। अमितगति ने अपने सुभाषित रत्न संदोह में अपने को 'शम-दम-यम मूर्ति' 'चन्द्रशुभ्रोरुकीर्ति' तथा धर्म परीक्षा में 'प्रथितविशदकीर्ति' विशेषण लगाये हैं जिनसे अमरकीर्ति के 'शमशीलधन' और 'कीर्तिसमय' विशेषणों की सार्थकता सिद्ध होती है। यद्यपि अमितगति के ग्रन्थों में उनके

* देखो परिशिष्ट १ (१, ४, ६ आदि)

किसी राजा को प्रसन्न करने का उल्लेख नहीं पाया जाता, किन्तु वे जिस राजा के समय में हुए हैं वह उज्जैनी का राजा मुंज बड़ा गुणग्राही और साहित्य-प्रेमी था। आश्चर्य नहीं वे ही अमितगति के काव्यों, विशेषतः उनके सुभाषितों की गंध पाकर प्रसन्न हुए हों। अमितगति सच्चे दिगम्बर मुनि थे। वे राज-महाराजाओं की कृपाकटाक्ष के भूखे नहीं थे और न उनके रुष्ट-तुष्ट होने का उन्हें कोई हर्ष-विषाद था। इसीसे उन्होंने मुंज की उस प्रसन्नता का अपने काव्यों में उल्लेख करने की परवाह नहीं की। इन अमितगति ने भी अपने को 'माथुरसंघी कहा है। इससे अमरकीर्ति की गुरुपरम्परा वाले 'अमियगइ' और इनके अभिन्न होने में कोई शंका नहीं रहती[१]। अमितगति आचार्य के ग्रन्थों में उनका समय वि० सं० १०५० से १०७३ तक पाया जाता है। उनसे पौने दो सौ वर्ष पश्चात् पाँचवी पीढ़ी में अमरकीर्ति हुए। इस तरह इन दोनों के समय का भी सामञ्जस्य बैठ जाता है। पूर्वोक्त परम्परा के शान्तिसेनगणी के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि महीश भी उनके चरण-कमलों को नमन करते थे श्रीषेण सूरि वादिरूपी वन के लिये अग्नि ही थे, और उसी तरह चन्द्रकीर्ति वादिरूपी हस्तियों के लिये सिंह थे। इससे जान पड़ता है कि इस परम्परा में बड़े विद्वान् मुनि होते रहे हैं। (माथुरसंघ काष्टासंघ की एक शाखा थी। इसके सम्बन्ध में मैं एक स्वतन्त्र लेख लिख रहा हूँ।)

अमरकीर्ति जी को वर्तमान ग्रन्थ की रचना के लिये प्रेरित करनेवाले सद्गृहस्थ का नाम अम्बाप्रसाद था। वे नागरकुल में उत्पन्न हुए थे और उनके माता-पिता के नाम क्रमशः चर्चिणी और गुणपाल थे। यह ग्रन्थ उन्हीं को समर्पित किया गया है। प्रत्येक संधि के समाप्ति-सूचक वाक्य में उनका नाम स्मरण किया गया है। इस काव्य को कवि ने उनकी अनुमति से बनाया ऐसा कहा गया है। कहीं कहीं इन्हीं अम्बाप्रसाद को कवि ने अपना 'लघुबन्धु'[२] और 'अनुज बन्धु'[३] कहा है जिससे अनुमान होता है कि हमारे कवि भी इसी कुल में उत्पन्न हुए थे और अम्बाप्रसाद के बड़े भाई थे। अपनी गुरुपरम्परा में अमरकीर्ति ने अपने को चन्द्रकीर्ति मुनि के 'अनुज सहोदर' और शिष्य कहा है, इससे उनके ये गुरु भी सगे बड़े भाई सिद्ध होते हैं।

इस ग्रन्थ की रचना कवि ने 'गुज्जर' विषय के मध्य 'महीयड' देश के 'गोदहय' नामक नगर के आदीश्वर चैत्यालय मे बैठकर की थी[३]। स्पष्टतः गुर्ज्जर विषय गुजरात प्रान्त का

१ अमितगति आचार्य के विषय में विशेष जानने के लिये देखो पं० नाथूराम-कृत 'विद्वद्रत्नमाला पृष्ठ ११५ आदि।

२ देखो परिशिष्ट २ (१४, १८, १६ णादउ अंबपसाउ वियक्खणु-। अमरसूरि-लहुवंधु सुलक्खणु)

३ देखो परिशिष्ट १ (१, ६, १० बंधवेण अणुजायइं - अंबपसायइं)

४ देखो परिशिष्ट १ (१, ९, ४ आदि)

बोधक है। विचार करने से महीयड देश वर्तमान 'महीकांठा' तथा गोद्दहय नगर वर्तमान 'गोधा' नगर के बोधक प्रतीत होते हैं। महीकांठा एजेन्सी की वर्तमान सीमा सकुचित कर दी गई है जिससे गोधा नगर पंचमहल जिले में पडता है। कवि के समय में वह महीकांठा प्रदेश म ही सम्मिलित था। सम्भवत अम्बाप्रसाद यहीं के निवासी थे। एक जगह कवि ने उन्हें कृष्णपुर वंश विजयध्वज'[1] कहा है। यह कृष्णपुर (कण्हपुर) वंश या तो नागर कुल का ही बोधक है या नागर कुल उसके अन्तर्गत था। सम्भव है यह वंश पहले किसी कृष्णपुर से यहा आकर बसा हो इसी से यह कृष्णपुरवंश कहलाया।

३ रचना-काल

कवि ने अपने ग्रन्थ की रचना का समय भी लिख दिया है। उन्होंने अपना यह काव्य विक्रम सवत् १२४७, भाद्रपद मास के दूसरे (शुक्ल) पक्ष की चतुर्दशी दिन गुरुवार को समाप्त किया था[2]। कवि के समय में गोधा में चालुक्यवंशी नृप वन्दिग्गदेव के पुत्र कण्ह (कृष्ण) नरेन्द्र का राज्य था[3]। इतिहास से प्रसिद्ध है कि इस समय गुजरात में चालुक्य अर्थात् सोलंकी वंश का राज्य था जिसकी राजधानी अनहिलवाड़ा थी। पर उस वंश में वन्दिग्गदेव और उनके पुत्र कृष्ण का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। पूर्वोक्त समय में अनहिल्वाडा के सिंहासन पर भीम द्वितीय प्रतिष्ठित थे जिन्होंने विक्रम सवत् १२३६ से १२९९ तक राज्य किया। उनसे पूर्व वहाँ कुमारपाल ने संवत् १२०० से १२३१ तक, अजयपाल ने १२३१ से १२३४ तक और मूलराज द्वितीय ने १२३४ से १२३६ तक राज्य किया था। भीम द्वितीय के पश्चात् वहा सोलंकी वंश की एक शाखा वाघेल या वाघेर वंश की प्रतिष्ठा हुई जिसके प्रथम नरेश विशालदेव ने १३०० से १३१८ तक राज्य किया, पर अनहिल्वाडा म इस वंश का बल सवत् १२२७ से ही बढ़ना प्रारम्भ होगया था। इस वंश में कुमारपाल की माता की बहिन के पुत्र अर्णोराज ने अनहिल्वाडा के निकट वाघेला ग्राम का अधिकार पाया था[4]। जान पडता है कि चालुक्य वंश की एक शाखा या तो पहले से ही महीकांठा प्रदेश में प्रतिष्ठित थी और गोधा म अपनी राजधानी रखती थी या अणहिलवाडा म वाघेल वंश का बल बढते ही वहा प्रतिष्ठित हो गई थी। कवि ने वहा के कृष्ण नरेन्द्र की कीर्ति का खूब वर्णन किया है। वे नीति के पूरे जानकार थे, भीतरी और बाहिरी शत्रुओं के विनाशक थे तथा षड्दर्शन का मान में

---

१ देखो परिशिष्ट १ (१, ८, ७ सुणि कण्हपुर वंस विजयद्धय)

२ देखो परिशिष्ट २ (१४, १८, ८ १०)

३ देखो परिशिष्ट १ (१, ४ १ आदि)

४ History of Gujrat in Bombay Gazeteer Vol I

सन्मान करते थे, मानो क्षात्रधर्म ने ही शरीर धारण कर लिया हो। धर्म, परोपकार और दान में उनकी प्रवृत्ति थी। उनके राज्य में दुःख, दुर्भिक्ष व रोग कोई जानता ही न था, इत्यादि।

४ कवि की रचनाएँ

कवि ने ग्रन्थ के इसी प्रस्तावना भाग में अपने बनाये हुए अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख कर दिया है जिसमें निम्न ग्रन्थों के नाम पाये जाते हैं[1]—

१ णेमिणाह-चरिउ (नेमिनाथ चरित्र)
२ महावीर-चरिउ
३ जसहर-चरिउ (यशोधरचरित)
४ धर्मचरित्र-टिप्पण
५ सुभाषित-रत्न-निधि
६ धर्मोपदेश-चूडामणि
७ ध्यान-प्रदीप (झाणपईव)
८ छक्कम्मुवएस (षट्कर्मोपदेश)

इनमें से जसहर-चरिउ के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उसे उन्होंने पद्धडिया बंध में रचा था जिससे उसकी रचना का अपभ्रंश में होना सिद्ध है। सुभाषित-रत्ननिधि के सम्बन्ध में कहा है कि उसमें उन्होंने संस्कृत के सुन्दर श्लोकों का संग्रह किया था। ध्यानप्रदीप के विषय में कहा है कि उसमें ध्यान की शिक्षा दी गई है। धर्मचरित्र-टिप्पण को उन्होंने ऐसा रचा था कि जड़ भी उसे अच्छी तरह समझ जाय। नहीं कहा जा सकता यह सुन्दर टिप्पण उन्होंने कौन से धर्मचरित्र पर बनाया। कहीं धर्मचरित्र से उनका तात्पर्य उनकी परम्परा के पूर्व आचार्य अमितगति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा से तो नहीं है? जसहर-चरिउ और सुभाषितरत्न-निधि को छोड़ कर शेष ग्रन्थों की भाषा क्या थी यह कवि ने प्रकट नहीं किया। उनका टिप्पणग्रन्थ तो संस्कृत में ही रहा होगा, किन्तु बहुत सम्भव है कि शेष सब ग्रन्थ, और विशेषतः णेमिणाह-चरिउ और महावीर-चरिउ, अपभ्रंश में ही रचे गये हों। कवि ने कहा है कि इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत से काव्य संस्कृत और प्राकृत में रचे थे जिनसे लोगों को आनन्द मिले। अत्यन्त खेद की बात है कि इनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ को छोड़ कर अन्य किसी भी ग्रन्थ का हमें अभीतक कुछ भी पता नहीं है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि अमरकीर्तिजी की गणि और सूरि उपाधियों से उनकी विद्वत्ता प्रकट होती है। प्रस्तुत काव्य की संधियों की पुष्पिकाओं में उन्होंने इस रचना को महाकाव्य और अपने को महाकवि कहा है।

१ देखो परिशिष्ट १ (१, ७, ९ आदि)

उन्होंने यह भी कहा है कि उनमें प्रमाद बिल्कुल नहीं था और वे दिन रात सुन्दर काव्यों के अवलोकन में तल्लीन रहा करते थे। प्रस्तुत ग्रंथ १४ संधियों में समाप्त हुआ है, उसमें कुल २१५ कडवक हैं और सम्पूर्ण ग्रंथ २९०० श्लोक प्रमाण है। इस भारी ग्रंथ को कवि ने केवल एक माह के समय में ही रच डाला था[1]। इसमें सन्देह नहीं कि कवि प्रतिभाशाली, विद्वान् और अभ्यासज्ञ थे। अम्बाप्रसाद जी ने कहा था "आपने अपने सुकवित्व द्वारा अपने गुरुकुल और तातकुल दोनों को पवित्र, शाश्वत और महान् बना दिया है"[2]। क्या हम आशा करें कि इस प्रशंसा के आधारभूत कवि के उन सब या उनमें से बहुत से ग्रंथों के हम कभी दर्शन प्राप्त हो सकेंगे?

षट्कर्मोपदेश के जिन अंशों के आधार पर पूर्वोक्त वृत्तान्त लिखा गया है उन्हें परिशिष्ट में देखिये। इस ग्रंथ के विषय और काव्य का परिचय अगले लेख में कराया जायगा।

परिशिष्ट

१

षट्कर्मोपदेश की पूर्वपीठिका

प्रारम्भ—

परमप्पय भावणु सुह (गइ) पावणु णिहणिय जम्म जरा मरणु।
भासय सिरि सुंदरु पणय पुरंदरु रिसहु णवेवि तिहुयण सरणु॥

× × × × ×

(संधि १, कडवक ४—८)

अह गुज्जर विसयहं मज्झि देसु णामेण महीयडु बहु पएसु।
णयरायर वर गामहि णिरुद्धु णाणा पयार संपय समिद्धु। ५

---

* परमात्म पद के भाजन, शुभगति को प्राप्त करानेवाले, जन्म, जरा और मरण के विनाशक, शाश्वत लक्ष्मी से शोभायमान, इन्द्रों द्वारा पूज्य और त्रिभुवन के शरण ऋषभदेव भगवान् को नमस्कार करके (मैं काव्य रचना करता हूं)।

× × × ×

अथ गुजर (गुजरात) विषय के मध्य में महीयड (महीकांठा) नामका देश है जिसके अन्तर्गत बहुत से प्रदेश हैं। वह बहुत बड़े नगरों और उत्तम ग्रामों से भरा हुआ तथा नाना प्रकार की सम्पत्ति से

---

१ देखो परिशिष्ट २ (१४, १८, १० इसके मासें हुइ सम्मत्तिउ)
२ देखो परिशिष्ट १ (१, ७, ९ पइं गुरुकुलु तायहो कुलु पवित्तु। सुकइत्तें सासउ किउ महंतु)।

तहिं णयरु अत्थि गोवद्दय-णामु णं सग्गु विचित्तु सुरेस-धामु।
पासायहं पंतिउ जहिं सहंति सरयब्भहु सोहा णं वहंति।
धय-किंकिणि कलरावहि सगिद्धि णं कहइ सुरहं पाविय पसिद्धि।

घत्ता—देसागय-लोयहिं जाय-पमोयहिं जं णियवि मणि मणिणयउ।
एयहिं संकासउ लच्छि-पयासउ णयरु ण अण्णु पवणिणयउ॥४॥ १०

तं चालुक्क-वंसि णय-जाणउ पालइ कण्ह-णरिंदु पहाणउ।
जो वज्झंतरारि-विद्धंसणु भत्तिय सम्माणिय-छद्दंसणु।
णिव-वंदिगदेव-तणु-जायउ खत्तधम्मु णं दरिसिय-कायउ।
सयल-काल भाविय-णिव-विज्जउ पुहविहिं...वि णत्थि तहो विज्जउ।
धम्म-परोवयार-सुह-दाणइं णिच्च-महूसव वुद्धि-समाणइं। ५
जासु रज्जि जणु एयहं माणइ दुक्खु दुहिक्खु रोउ ण वियाणइं।
रिसह-जिणेस हो तहिं चेईहरु तुंगु सुहा-सोहिउ णं ससहरु।
दंसणेण जसु दुरिउ विलिज्जइ पुण्ण-हेउ जं जणि मणिणज्जइ।

घत्ता—अमियगइ महामुणि, मुणिचूड़ामणि, आसि तित्थु समसीलधणु।
विरइय-बहु-सत्थउ, कित्ति-समत्थउ, सगुणाणंदिय-णिवइ-मणु॥५॥ १०

समृद्धिशाली है। वहाँ गोदहय (गोध्रा) नाम का एक नगर है मानो वह सुरेश का निवास स्थान विचित्र स्वर्ग ही हो। जहां प्रासादों की पंक्तियां विराज रही हैं मानो शरत्काल के मेघों की ही शोभा को धारण किये हों। ध्वजा-किंकिणिओं के कलरव द्वारा मानो वह कह रही थी कि उसने देवों की समृद्धिशाली प्रसिद्धि प्राप्त करली। उसे देखकर नाना देशों से आये हुए लोग प्रमुदित होकर अपने मन में विचारने लगते थे कि इसके समान लक्ष्मीवान् नगर तो अन्य कोई नहीं वर्णन किया गया।

उस नगर का पालन नीतिकुशल, चालुक्यवंश में प्रधान कृष्णनरेन्द्र करते थे। वे बाह्य और अभ्यन्तर शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले थे तथा षड्दर्शन का भक्ति-सहित सन्मान करते थे। वे नृप वंदिगदेव के तनुज (पुत्र) थे, मानो क्षत्रिय धर्म ने ही शरीर धारण कर लिया हो। वे सदा काल राजविद्याओं का अभ्यास किया करते थे। पृथ्वीभर में उनकी तुलना करनेवाला कोई नहीं था (?)। धर्म, परोपकार, सुख, दान और नित्य-महोत्सव इन्हें ही लोग उनके राज्य में अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार मानते थे, पर दुःख, दुर्भिक्ष या रोग का उन्हें कोई अनुभव नहीं था। उसी नगर में ऋषभदेव तीर्थंकर का चैत्यालय था जो ऊँचा और सुधा (चूनेकी पुताई) से शोभायमान था मानो चन्द्र ही हो। उसके दर्शन से पाप विलीन हो जाते थे। वह लोगों में पुण्य का हेतु माना जाता था। वहाँ मुनि-चूडामणि, शम और शील को ही अपना धन समझनेवाले, अनेक शास्त्रों के रचयिता, कीर्ति में समर्थ तथा अपने गुणों द्वारा नृपति के मन को आनन्दित करनेवाले महामुनि अमितगति हुए।

उनके शिष्य शान्तिषेण गणि हुए जिन्होंने अपने चरणकमलों पर महीश को भी नमा दिया था।

गणि संतिसेणु तहो जाउ सीसु णिय चरण-कमल णामिय महीसु।
माहुर संघाहिउ अमरसेणु तहो हुउ विणेउ-पुणु हय दुरेणु।
सिरिसेणुसूरि पंडिय पहाणु तहो सीसु वाइ काणण किसाणु।
पुणु दिक्खिउ तहो तवसिरि णिवासु अत्थियण संघ पुरिय पूरियासु।
परवाइ कुंभि दारण मइंदु सिरि चंदकित्ति जायउ मुणिंदु। ५
तहो अणुउ सहोयरु सीसु जाउ गणि अमरकित्ति णिहणिय पमाउ।
अहणिसु सुकव्व विलोय-लीणु जामच्छइ बहुविह सुय पवीणु।
तामण्णहि दिणि विहियायरेण णायर कुल गयण दिवेसरेण।
चच्चिणि गुणपालह णंदणेण अजविण्ण दाण पेरिय मणेण।

घत्ता—भव्वयण पहाणें, बुहगुणजाणें, बंधवेण अणुणायइ।
सो सूरि पवित्तउ, लहु विण्णत्तउ, भत्तिए अ बयसायइ॥१॥ १०

परमेसर पइ णवरस भरिउ विरइयउ णेमिणाहहो चरिउ।
अण्णु वि चरित्तु सव्वत्थ सहिउ पयडत्थु महावीरहो विहिउ।
तीयउ चरित्तु जसहर णिवासु पद्धडिया बंधे किउ पयासु।
टिप्पणउ धम्मचरियहो पयडु तिह विरइउ जिह बुज्झेइ जडु।
सक्कय सिलोय विहि जणियदिहि गंफियउ सुहासिय रयण णिहि। ५

उनके शिष्य फिर पापों का नाश करनेवाले, माथुरसंघ के अधिप अमरसेन हुए। उनके शिष्य श्रीषेण सूरि हुए जो पण्डितों में प्रधान और वादिरूपी वन के लिए कृशानु (अग्नि) थे (अर्थात् उन्होंने सब वादियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था। फिर उनके दीक्षित शिष्य श्री चन्द्रकीर्ति मुनीन्द्र हुए जो तपरूपी लक्ष्मी के निवास, अर्थिजनसमूह की आशा को पूरी करनेवाले तथा दूसरे वादिरूपी हाथियों के लिये मृगेन्द्र थे। उन्हीं छोटे सहोदर गणि अमरकीर्ति उनके शिष्य हुए। इन्होंने प्रमाद का सर्वनाश कर डाला था, वे अहर्निश सत्काव्यों के अवलोकन में लीन रहते थे और नाना प्रकार के शास्त्रों में प्रवीण थे।

एक दिन नागरकुल रूपी आकाश के सूर्य चच्चिणी और गुणपाल के नन्दन, भव्यजनों में प्रधान, विद्वानों के गुणों को पहचाननेवाले तथा अमरकीर्ति के अनुज बन्धु अम्बाप्रसाद ने अपने दिये हुए दान की मन में प्रेरणा से, भक्तिसहित और आदर करके सूरि जी से सहज ही प्रार्थना की— "हे परमेश्वर! आपने नवरसों से भरा हुआ नेमिनाथ-चरित्र रचा। दूसरा सब अर्थ-सहित महावीर का चरित्र बनाया जिसकी कथा प्रसिद्ध ही है। तीसरा चरित्र यशोधर नृप का पद्धडिया बंध में प्रकाशित किया। धर्मचरित्र का टिप्पण आपने ऐसा स्पष्ट रचा कि जड़बुद्धि भी उससे बोध लाभ करले। आपने संस्कृत श्लोकों की विधि द्वारा आनन्द उत्पन्न करनेवाले सुभाषित रत्न निधि का संग्रह किया। धर्मोपदेश चूड़ामणि नामक, तथा ध्यान की शिक्षा देनेवाले ध्यानप्रदीप और

धम्मोवएस-चूड़ामणिक्खु तह झाण-पईउ जि झाणसिक्खु।
छक्कम्मुवएसें सहुं पबंध किय अट्ठ संख सइं सच्चसंध।
सक्कय-पाइय कव्वय घणाइं अवराइं कियइं रंजिय-जणाइं।
पइं गुरुकुलु तायहो कुलु पवित्तु सुकइत्तें सासउ किउ महंतु।
कइयण-वयणामउ जे पियंति अजरामर होइवि ते णियंति। १०
जिह राम-पमुह सुयकित्तिवंत कइमुह-सुहाइ पेच्छहिं जियंत।
कइ तुट्ठउ अप्पापरु समणु अक्खयतणु करइ पसिद्धिगणु।
घत्ता—मंतोसहि-देवहं, किय-चिरसेवहं, धुउ पहाउ ण हु सीसइं।
परकाय-पवेसणु, किय-सासयतणु तिह जिह कइहिं पदीसइ ॥७॥

महु आहासहि पयणिय सम्मइ अइकारुण्णें गिहि-छक्कम्मइं।
जाइं करंतउ भवियणु संचइ दिणि दिणि सुहु दुक्कयहिं विमुच्चइ।
तेहिं विवज्जिउ णरभउ भव्वहं छगा-गल-थण-समु गय-गव्वहं।
मइं मइमूढें किं पि ण चिंतिउ पुण्णकम्मु इय कम्मु पवित्तउ।
भव काणणि भुल्लहो महु अक्खहि सम्म-मग्गु सामिय मा वेक्खहि। ५
अमरसूरि तव्वयणाणंतरु पयडइ गिहिछक्कम्महं वित्थरु।

उन्हीं के साथ साथ षट्कर्मोपदेश* इस प्रकार आठ प्रबन्ध, हे सत्यसंध, आपने रच डाले। संस्कृत-प्राकृत के और भी बहुत से काव्य आपने बनाये जिनसे लोगों का मनोरञ्जन होता है। आपने अपने सुकवित्व-द्वारा गुरुकुल और तातकुल दोनों कुलों को पवित्र, शाश्वत और महान बना दिया है। कविजनों के वचनरूपी अमृत को जो पी लेते हैं वे अजर अमर हो कर (सब कुछ) देखते हैं। जैसे राम आदि प्रसिद्धकीर्ति महापुरुष कवि के मुख की महिमा से जीते हुए दिखते हैं। यदि कवि प्रसन्न हो जाय तो अपने को और दूसरे को समानरूप से अक्षयतन और सुप्रसिद्ध कर सकता है। मंत्र, औषधि व देवों की चिरकाल तक सेवा करने पर भी शिष्य को परकाय-प्रवेश करने व अमरशरीर होने का वह प्रभाव नहीं मिला जो एक कवि की सेवा करने में प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥७॥

अब दया करके आप मुझे गृहस्थ के छह कर्मों का उपदेश दीजिये जिनके पालने से भव्य प्राणी प्रतिदिन पुण्य का संचय करता और पापों से छूटता है। इनके बिना निरहंकार भव्य प्राणियों का नरजन्म अजागलस्तन के समान निष्फल है। मैं बुद्धिहीन ने अभीतक पुण्य और पवित्र कर्म कुछ भी नहीं सोचा। अतएव इस भव-कानन में भूले हुए को सन्मार्ग का उपदेश दीजिये। हे स्वामी! अब विलम्ब न कीजिये।"

उनके ऐसे वचन सुनकर अमरसूरि ने तत्काल ही षट्कर्मों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना

*यहां प्रस्तुत ग्रन्थ का उल्लेख करना उचित नहीं था क्योंकि इसके रचने की प्रार्थना तो अम्बाप्रसाद ने आगे चलकर की है। किन्तु कवि इस समय तक अपने बनाये हुए कुल ग्रन्थों का उल्लेख करने के आवेग में इस प्रसंग को भूल कर कदाचित् यहाँ यह लिख गये।

मुणि कण्हपुर वंस निजयद्धय णियरूवोहामिय मयरद्धय।
पूयय देवह सुह गुरु वासणा समय सुद्ध सज्झाय पयासणा।
सजम-तव दाणह सजुत्तइ जिणदंसणि छक्कम्मइ वुत्तइ।
घत्ता—रयणत्तय जुत्तउ, सलहिं चत्तउ गुण सील तउ-हणियमलु। १०
जो दिणि दिणि पयइ, करइ विहेयइ, मणुयजम्मु तहो पर सहलु ॥८॥

२

षट्कर्मोपदेश की अन्तिम प्रशस्ति

(संधि १४ कडवक १८)

विहियाइ सुगुणेय पयाइं मए गिहत्थ कम्माइ।
अमुणंतेण सुत्त्थ जिणणाइ पयासिय सम्म ॥६॥

ताइं मुणिवि सोहेवि णिरुत्तउ हीणाहिउ निरुद्धु णिहियकलउ।
फेडेउ ममत्तु भावंतिहि अहह उप्परि बुद्धि महंतिहि।
छक्कम्मोवएसु इहु भवियहो वक्खाणि उ भणिउ णवियहो। ५
अ बपसायइ चच्चियपुत्तें गिह छक्कम्म पवित्त पवित्त
गुणपालहु सुएण विरयाविउ अवरहिं मि णियमणि सभाविउ।
बारह सयइ ससत्त चयालिहिं विक्कम सवच्छरहु विसालहि।
गयहि मि भद्दवयहु पक्खंतरि गुरुवारम्मि चउद्दसि वासरि।
इक्कें मासें इहु सम्मत्तिउ सइं लिहियउ आलसु अवहत्थिउ। १०

प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कहा "अपने रूप से मकरध्वज को भी लजानेवाले, हे कृष्णपुरवंश के विजयध्वज! सुनो। देवों का पूजा, सद्गुरु की उपासना, शुद्ध आम्नाय के शास्त्रों का स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये ही मिलकर जैनदर्शन में षट् कर्म कहे गये हैं। रत्नत्रय से युक्त होकर, शल्यों का त्याग करके, गुण, शील तथा तप द्वारा पापों का नाश करता हुआ जो कोई प्रतिदिन इन सत्कर्मों को करेगा उसका मनुष्य जन्म पूर्णरूप से सफल है।

२

यद्यपि जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्रकाशित श्रुति के अर्थ का मुझे अच्छी तरह ज्ञान नहीं है तथापि इन गृहस्थ-कर्मों का मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्यान किया है। इसमें जो कुछ हीन, अधिक या विरुद्ध शब्द आगये हों उन्हें बुद्धिमान मेरे ऊपर ममत्व भाव रखकर विचारपूर्वक शोध लेवें और इस षट्कर्मोपदेश का व्याख्यान नये भव्य पुरुष को सुनावें। इसकी रचना पद्मम द्वारा पवित्र हुए, चच्चिणी के पुत्र, गुणपाल के सुत अम्बाप्रसाद ने कराई है और दूसरे सज्जनों ने भी अपने हृदय में इसका सम्मान किया है।

णंदउ परसासण-णिण्णासणु सयलकाल जिणणाहहु सासणु।
णंदउ तह वि देवि वाएसरि जिणमुह-कमलुब्भव परमेसरि।
णंदउ धम्मु जिणिंदें भासिउ णंदउ संघु सुसीलें भूसिउ।
णंदउ महिवइ धम्मासत्तउ पय परिपालण-णाय महंतउ।
णंदउ भवियणु णिम्मल-दंसणु छक्कम्महिं पावियजिणसंसणु। १५
णंदउ अंबपसाउ वियक्खणु अमरसूरि लहु-बंधु सुलक्खणु।
णंदउ अवरु वि जिण-पय-भत्तउ विबुह-वग्गु भाविय-रयणत्तउ।
घत्ता—णंदउ णिरु तावहिं सत्थु इहु अमरकित्ति-मुणि-विहिउ पयत्तें।
जावहि महि मारुव-मेरु-गिरि-णहयलु अंबपसायणिमित्तें॥१८॥

इय छक्कम्मोवएसे महाकइसिरि-अमरकित्ति-विरइए महाकव्वे महाभव्व-अंबपसायाणु-मण्णिए तव-दाण-वण्णणोणाम चउद्दसमो संधी परिच्छेओ समत्तो॥ छ॥ संधि॥ छ॥ १४॥

विशाल विक्रमसंवत्सर के १२४७ वर्ष बीतने पर भाद्रपद मास के द्वितीय पक्ष की चतुर्दशी तिथि गुरुवार को एक मास में यह ग्रंथ समाप्त हुआ। मैंने आलस छोड़ कर स्वयं इसे लिखा है।

विरोधी शासन का नाश करनेवाला जिनशासन सदा काल आनन्द करे। उसी प्रकार तीर्थंकर के मुखकमल से उत्पन्न परमेश्वरी वागीश्वरी देवी आनन्द करे। जिनेन्द्र-द्वारा भाषित धर्म्म आनन्द करे। सच्छील से भूषित संघ आनन्द करे। धर्म में आसक्त, प्रजा के परिपालन और न्याय में बढ़ा-चढ़ा महीपति आनन्द करे। निर्मल दर्शन का स्मारक तथा षट्कर्मों द्वारा जिनशासन का पालक भव्य आनन्द करे। अमरसूरि के लघुबन्धु, शुभलक्षणों से सयुक्त और बुद्धिमान अम्बाप्रसाद आनन्द करे। और भी जिनपद-भक्त तथा रत्नत्रय का धारक बुद्धिमान-वर्ग आनन्द करे। यह अम्बाप्रसाद के निमित्त अमरकीर्ति मुनि-द्वारा प्रयत्नपूर्वक बनाया हुआ शास्त्र इस लोक में तबतक आनन्द करे जबतक यह पृथ्वी है, पवन है, मेरुगिरि है और आकाश है।

इति महाभव्य-अम्बाप्रसादानुमत, महाकवि अमरकीर्ति-विरचित षट्कर्मोपदेश महाकाव्य का तप-दान-वर्णन नामक चतुर्दश संधि परिच्छेद समाप्त॥ संधि १४॥

२

षट्कर्मोपदेश के म संधिपद जिनमें कवि व उनके प्रेरक के नाम आये हैं।

संधि घत्ता

१, १३ सो लोइ थुणिज्जइ साहु भणिज्जइ अमरकित्ति पयणिहिय मणु।
धज्जिय दुरियपड हय कदप्पड अम्बपसाय-सु(कु सीलहणु ।

२, ११, परकालि वि सो चिरु दुच्चरिउ भवकोडीहिं समज्जिउ।
एहु अम्बपसाएं लहइ सुहु अमरकित्तिगणि पुज्जिउ ॥

३, १, जिणग विलेपण पुण्ण समिद्ध। कहा सुणि अम्बपसाय पसिद्ध।

३, २३, जो गधहिं अचिणु सुयघहि अमरकित्ति समलहइ जिणु।
सासय सुहु सो पावइ लहु अम्बपसाय विसुद्धमणु ॥

४, २६, तइयइ भवि होएवि णरवरा। पालियरज्जु धरिवि सजमधरा।
अमरकित्ति अक्खय सुह भायणा। अम्बपसाय हवेसहिं पावण ॥

५, १४, ते पाविवि सासयणयरि पउ अमरकित्ति होइवि अच्छसहि।
सिद्ध सहावियणाणतणु अम्बपसाय सयलु पिच्छेसहि ॥

६ १, जिण धोरज्ज कहा आयण्णहि। अम्बपसाय भविय मणि मण्णहि।

६, १४, सत्त भव वि होएविणु णिवइ अमरकित्ति सो सुरयरु।
मणि भावहि अम्बपसाय तुहुं पावेसइ थिर पुरयरु ॥

७, १, णिसुणि महासइ चच्चिणि णवग्ण। निरइय अमरसूरि गुरु वंदण।

७ ८ पारजम्मु लहेविणु कयतवहि अमरकित्तिगणि ससिया।
ते होसहि अम्बपसाय पुणु, सिद्ध तिलोय णमंसिया ॥

८, १८, भरहु वि जो भत्तउ, थिरसम्मत्तउ, अमरकित्ति जिणु पुज्जइ।
धुवं सो सिवसुहु णिहणिय भवदुहु, अम्बपसाय समज्जइ ॥

९, १, ताहं कहा पञ्चमि पयर्त्ते। अम्बपसाय णिसुणि सहियत्तें।

९, ११, भट्टविहु वि पूयाहि फलु अमरकित्ति सुहजच्छि पयासणु।
अम्बपसाय सुणंताहं जं कुणइ जीवहं भव णासणु ॥

१०, १, णिसुणि कहा तहो पवरविहाणहो। अम्बपसाय सुपुण्णणिहाणहो।

१०, १२, जिण पूय पुरन्दर विहि करइ इयगार जा इत्थु णरु।
सो अम्बपसाय हवेइ लहु अमरकित्ति तियसेसरु ॥

११, १, थणिसु करिज्जइ सुगुरुवासणा। अंबपसाय दुरियणिण्णासणा।

११, ११, सज्झायहु सण्णिहु णत्थि परु अमरकित्ति सुइठाणु वरिट्ठउ।
अंबपसाय करंतु णिरु जं णरु पावइ णाणु मणिट्ठिउ॥

१४, ५, पंचिंदियसंजमु भणिउ संखेवें अवरु वि आयण्णहि।
गुणवाल-सुय णयणय गुरु (?) पालिय संजमु बहुगुण मण्णहि॥

१२, १८, सम्मत्तसुद्धि इय मइं कहिय अमरकित्ति-जिणदेसिय।
भाविज्जसु अंबपसाय तुहुं णियमणम्मि सविसेसिय॥

१३, १७, वयवंतु मरइ सल्लेहणइं अमरकित्ति सुहु पावइ।
सुणि अंबपसाय विसुद्धमणु भवसम्मुहउ ण आवइ॥



कविवर श्रीजिनसेनाचार्य्य और पार्श्वाभ्युदय

(ले०—त्रिपाठी भैरव दयालु शास्त्री, बी० ए० साहित्योपाध्याय)



(गतांक से आगे)

इस चरण से यह व्यक्त होता है कि कालिदास का यक्ष मदनाग्नि से इस प्रकार व्यथित है कि उसे चेतन अचेतन का ज्ञान लॉक भी नहीं रह गया है। परन्तु, यहा—

"योगिंस्तस्मिन जलदसमये प्रस्खलेर्नाऽमधैर्य्यात्।
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥"

जिनसेन जी की निराली चतुरता चमक रही है। जो 'कामार्त्ता' विशेषण मेघदूत में यक्ष की प्रकृष्ट कामिता का प्रद्योतक है, वही विशेषण यहा योगी पार्श्वनाथ जी को दिया गया है। किन्तु योगी काम से पीडित नहीं, बल्कि अपने काङ्क्षित लक्ष्य की ओर व्यग्र भाव से दौड़नेवाला बताया गया है। इस प्रकार अपने तीर्थङ्कर के 'कामार्त्ता' इस विशेषण से उत्कृष्ट गुण को दिखा कर जिनसेन जी ने अपनी धर्मप्रियता का उज्ज्वल परिचय दिया है। गौर से देखिये, क्रोधाभिभूत, खून का प्यासा शत्रु यक्ष योगी की तपस्या से किस प्रकार प्रभावित होता है और अपने शिकार का "योगिन्" ऐसे शब्द से सम्बोधित करता है।

थोड़ा आगे बढ़कर देखने से जिनसेन जी की निपुणता का और भी पता चलता है। वहाँ तो कालिदास का यक्ष मेघ को अपना छोटा भाई कल्पित कर भ्रातृजाया यानी अपनी पत्नी को देखने का अधिकारी बनाता है। परन्तु यहाँ जिनसेन जी के यक्ष की कल्पना नहीं करनी है। योगी तो उसका छोटा भाइ है ही। इसलिये भ्रातृजाया के दर्शन का अधिकार उसे स्वत प्राप्त है। कालिदास ने मेघ के सम्बन्ध में जो जो बात कही हैं, उन का समावेश करने के लिये जिनसेन जी ने मेघ की कल्पना कर ली है। मेघ के ऊपर जाने की शक्ति रहती है, इसलिये अलकापुरी का जाना उसके लिये सुगम था। जिनसेन का दूत भौतिक शरीर छोड़ कर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है, और इस प्रकार अलकापुरी जाने में समर्थ बताया गया है। यों अनेकों कल्पनायें कर जिनसेनाचार्य ने अपना रास्ता सुगम बनाया है।

"उपमा कालिदासस्य" यह उक्ति जगत् प्रसिद्ध है। अब देखना चाहिये कि हमारे कवि ने उन उपमाओं को लेकर कैसी रचना की है।

"येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते।
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥"

कालिदास की उपमा तो उपमा ही है, पर हमारा कवि भी पीछे नहीं पड़ा है। वहाँ तो

बहुरंगी धनुष और बिजली की चमक से मेघ मयूरपिच्छधारी पीताम्बर कृष्ण की शोभा पाता है, और पार्श्वाभ्युदय में—

"खड्गस्यैकं कथमपि दृढं मे सहस्व प्रहारम्
वक्षोभागे कुलिशकठिने प्रोच्छलद्रक्तधारम्
विद्युद्दण्डस्फुरितरुचिना वारिदस्येव भूयः।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते॥"
"शङ्कोरेवं प्रहृतमथवा धत्स्व शूराग्रणी मे।
पिच्छोपाग्रप्रततिरुचिरं येन शोभाधिका ते
क्रीड़ाहेतोर्विरचिततनोरिन्द्रनीलत्विषः स्या—
द्बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥"

खड्ग बिजली का काम करता है और बाण का पिच्छ सप्तरंगों को धारण करता है। योगी के शरीर को यक्ष ने काला बताया ही है। इस प्रकार कवि जिनसेन जी की उपमा स्वभाविकता में शोभ रही है और कालिदास की उपमा तक पहुँचने का प्रयास कर रही है। इतनी सामग्रियों को एकत्रित कर कवि समस्यापूर्त्ति के दुर्वह भार को वहन करता है, अतः वह अवश्य ही प्रशंसा का पात्र है।

जब कालिदास के श्रृङ्गार रस की अविरल धाराये चारों ओर से सिर पर गिरती दीखने लगती है, तो अपने योगी को योगभ्रंश के भय से बचाने के लिये जिनसेन जी झटिति उन्हे योगबल से मेघ का रूप धारण करने का आदेश देकर उन्हे कामुकता के गोरख-धन्धे से बचा लेते हैं। कैसी चतुराई है। ऐसा हो जाने पर सारी की सारी समस्यायें सीधी हो जाती हैं, रास्ता सरल हो जाता है और

"ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।"

के दोष से योगी बरी हो जाता है। कवि की कल्पना ने अद्भुत छटा दिखायी है।

"मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीन्तनोति।"

कलाधर की कलङ्ककालिमा उनकी कांति को और भी कमनीय बनाती है। कविगण अपने काव्यों को उत्कृष्ट बनाने के लिये भगीरथ प्रयास करते है। रचना रसमय हो, गुणों का आगार हो, रीति रमणीय हो, भाव अनूठे हों, शैली सुन्दर हो, शब्द गम्भीर हो, भाषा मनोहर हो, यही उनके लक्ष्य रहते हैं। इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिये उन्हें जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है। परिस्थिति में जिस प्रकार अवसर पा मनुष्य को असावधान देख रोग के अप्रिय अवाञ्छित कीड़े शरीर में घुस जाते हैं, उसी प्रकार कवियों की रचनाओं में श्रुतिदुष्टादि दोष चुपके से प्रविष्ट हो जाते है। इसीलिये साहित्य-दर्पणकार को पड़ा कि सर्वथा निर्दोष काव्य सदा असम्भव है। परन्तु ये दोष चन्द्रकिरण के गुणों के प्रद्योतक ही होते हैं। अस्तु,

प्रिय पाठक ! आप जान ही चुके हैं कि हमारे कवि को दूसरे की बन्दरी को नचाना पड़ा है। उस पर आफत यह कि जो नाच बन्दरी को अभ्यस्त है, वह नाच नहीं, बल्कि, बिल्कुल विपरीत और निरा नवीन। ऐसी कठिनाइ का सामना कवि को करना पड़ा है। अब यदि कुछ अपकर्ष बलात्कार आ घुसे हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

" शुष्कवैराग्यहेतो ।
स्तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी ॥"

इत्यादि के द्वारा कामी कमठ में वैराग्य का प्रदर्शन प्रथम दृष्टि में विरुद्ध ही जान पड़ता परन्तु वैराग्य का यह एक 'शुष्क' विशेषण विरोध का भाजन कर कमठ के वैराग्य की निष्फलता काव्य को परिपुष्ट कर देता है।

"मेघैस्तावत्स्तनितमुखरैः प्रियुद्योतहासैः
चित्तक्षोभान् क्षिरदसदृशैरस्य कुर्वे निगुर्वन्

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः"

इस पद्य में मेघ गर्जन से योगी के हृदय में चित्त क्षोभ पैदा करने का प्रयास कमठ कर रहा है। क्योंकि वह समझता है कि योगी वियुक्त है, और वियुक्त के हृदय में मेघ दर्शन से विकार का होना स्वाभाविक है। यदि ऐसी बात सम्भव होती तो योगी की तपस्या ही कलुषित हो जाती और काव्य में महान दोष लग जाता। परन्तु यह कल्पना क्रोधान्ध कमठ की है, अतः दोष के बदले यह उत्कर्ष ही लाती है।

"कि ते वरिद्विरदनखदाकुम्भसम्भेदनेषु
प्रातःश्रेमा समरविजया वारलक्ष्म्या करोऽयम्।
नास्मत्सङ्ग घ तिपथमगाद्रक्तपातोत्सवानाम्
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसम्वाहनानाम् ॥

कालिदास के "सम्भोगान्ते" इत्यादि इस चरण से शृङ्गार रस अविराम प्रवाहित होता है। ऐसे भाव को भी कवि ने समस्यापूर्ति के साँचे में ढाल कर शृङ्गार रस से हटा पूर्णतया वीर रस में पहुंचा दिया है। यद्यपि इसके लिये उन्हें 'सम्भोग' इस पद के प्रसिद्धार्थ का परित्याग करना पड़ा है और 'अनुभव' यह अर्थ ग्रहण करना पड़ा है, तथापि इतने महान् परिवर्त्तन के अद्भुत चमत्कार के सामने प्रसिद्धार्थ परित्यागदोष ठहर नहीं सकता। हां,

"इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघम्
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम्।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कम्
भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः" ॥

काव्य का यह अन्तिम श्लोक आत्म-प्रशंसा से गूंज रहा है। यह पाठकों की आँखों में आत्माभिमान सा खटकता है। परन्तु, जिनसेन जी ने इसमें ऐसी युक्ति निकाली है कि "बहुगुणामपदोषं, मलिनितपरकाव्यम्" इत्यादि विशेषण मेघदूत के भी हो सकते हैं, और इस तरह आत्मश्लाघा के दोष से अपने को बचा लिया है।

अस्तु, प्रिय पाठक वृन्द! श्रीजिनसेनाचार्य्य ने रौद्र वीर, शान्त इत्यादि प्रायेण शृङ्गार-विरोधी रसों में शृङ्गार की सजीव मूर्त्ति को परिवर्त्तित कर के अपनी बुद्धि की चमत्कारिता का परिचय दिया है। मैंने यथासाध्य समयानुकूल इस काव्य के गुणदोषों का विवेचन तो किया है, परन्तु पग-पग पर कवि की अम्बरविहारिणी कल्पना हृदयग्राहिणी भावपरम्परा, रमणीय रचना उनके उत्कर्ष को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करने को बाध्य कर ही देती है। इच्छा थी कि अपने प्रेमी पाठकों के सम्मुख इस अनुपम काव्य के सर्वाङ्ग का स्वरूप रक्खूं। पर, समयाभाव और लेख के वृहदाकार हो जाने के भय से मैंने इस काव्य के केवल कुछ ही अंश की छानबीन की है। यदि मेरे इस लेख से पाठकों का कुछ भी मनोविनोद हुआ तो समय पर फिर भी मैं अपने तुच्छ उपहारों को लेकर उनके सामने उपस्थित हूंगा।

सं० नोट—प्रात:स्मरणीय महाकवि जिनसेनाचार्यरचित पार्श्वाभ्युदय के विषय में इस समय मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिखकर "हिन्दीविश्वकोष" भाग ८, पृष्ठ ३१७ की ही कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत किये देता हूं —

"यह ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों का एक खण्ड काव्य है। संस्कृतसाहित्य में यह अपने ढंग का एक ही काव्य है। इसमें महाकवि कालिदास के सुप्रसिद्ध 'मेघदूत' काव्य में जितने श्लोक हैं और उन श्लोकों के जितने चरण हैं वे सब एक एक वा दो-दो कर के इसके प्रत्येक श्लोक में प्रविष्ट कर दिये गये हैं, अर्थात् मेघदूत के प्रत्येक चरण को समस्यापूर्त्ति कर के यह कौतुकावह ग्रन्थ रचा गया है। इसमें पार्श्वनाथ स्वामी की पूर्व जन्म से लेकर मोक्षप्राप्ति तक विस्तृत जीवनी वर्णित है। मेघदूत और पार्श्वचरित्र के कथानक में आकाश-पाताल का पार्थक्य है, तथापि मेघदूत के चरणों को लेकर पार्श्वनाथ का चरित्र लिखना कितना कठिन है, इसका अनुमान काव्यरचना के मर्मज्ञ ही कर सकते हैं। ऐसी रचनाओं में क्लिष्टता और नीरसता का होना स्वाभाविक है, किन्तु 'पार्श्वाभ्युदय' इन दोनों दोषोंसे साफ़ बच गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी रचना कविकुलगुरु कालिदास की कविता के जोड़ की है। अध्यापक के० वी० पाठक का कहना है—

."The first place among Indian poets is alloted to Kalidas by consent of all, Jinasena, however claims to be considered a higher genius than the author of cloud Messenger (Meghaduta)"

अर्थात् "यद्यपि सर्वसाधारण की सम्मति से भारतीय कवियो में कालिदास को पहला स्थान दिया गया है, तथापि जिनसेन मेघदूत के कर्त्ता की अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जाने के अधिकारी हैं।"

के० बी० शास्त्री

महाराज जीवन्धर का हेमांगद देश और क्षेमपुरी

(ले०—श्रीयुत प० के० भुजबली शास्त्री)

महाराज जीवन्धर श्रीमहावीर स्वामी के समकालीन तद्भव मोक्षगामी कर्त्तानिष्ठ एक प्रतापी जैन राजा थे। श्रेणिकादि समकालीन अन्यान्य कतिपय जैन राजाओं के समान इन्हें भी ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये। महाराज जीवन्धर हेमाङ्गद देश के शासक रहे। हेमांगद की राजधानी राजपुरी थी। इस लेख में सर्वप्रथम मुझे हेमाङ्गद देश ही पर कुछ प्रकाश डालना है। कनिंगहम साहब के "अनशेंट जागरफी ऑफ् इण्डिया" के आधार पर बाबू कामता प्रसादजी ने अपने "संक्षिप्त जैन इतिहास" २य भाग १म खण्ड आदि में वर्तमान मैसूर या उसके निकटवर्ती भूभाग को जीवन्धर का हेमाङ्गद देश बतलाया है। उनसे पूछताछ करने पर मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि कनिंगहम साहब के उक्त कथन में हेमाङ्गद के पास सुवर्ण की खान, मलय पर्वत आदि का होना ही एकमात्र कारण है। परन्तु जीवन्धर के जीवनी विषयक स्वतन्त्र रूप से रचित जीवन्धर चरित्र, जीवन्धर चम्पू, क्षत्रचूडामणि, गद्य चिन्तामणि, जीवन्धरचरिते (कन्नड) इन ग्रन्थों से हेमाङ्गद के पास सुवर्ण की खान, समुद्र, मलय पर्वत आदि का होना सिद्ध नहीं होता। पता नहीं कि कनिंगहम साहब ने किस आधार पर हेमाङ्गद के निकट मलय पर्वत आदि उल्लिखित वस्तुओं का अस्तित्व माना है। संभव है कि कनिंगहम साहब के कथनानुसार किसी ग्रन्थ में मलय पर्वतादि हेमांगद के विशेषण रूप में मिलते हों। पर मेरा निजी अनुमान है कि जीवन्धर का हेमाङ्गद दक्षिण भारत में न हो कर उत्तर भारत में ही था। क्योंकि मुनि के पूर्व कथनानुसार जिस समय गन्धोत्कट सद्योजात जीवन्धर को श्मशान से घर लेगया उसी समय धात्री वेशधारिणी देवी, रानी विजया को दण्डकारण्य में तपस्वियों के समीप छोड़ कर स्वयं किसी बहाने से चली गयी थी।[1] यह दण्डकारण्य प्राचीन काल में विन्ध्यपर्वत से लेकर गोदावरी के किनारे तक विस्तृत था। इसी वन में श्रीरामचन्द्र ने वनवास काल में १४ वर्ष बिताये थे। इस वन का बहुत अंश आज भी वर्तमान है।[2] इस घटना से एक प्रकार से निश्चित सा हो जाता है कि राजपुरी इस दण्डकारण्य से अधिक दूर पर न रह कर इसी के आसपास में कहीं थी।

---

१ "क्षत्रचूडामणि" प्रथम लम्ब देखो।

२ हिन्दी विश्वकोष भाग १० पृष्ठ १४४।

दूसरा कारण यह है कि जीवन्धर, यक्ष की अनुमति से उनसे विदा ले एवं चलकर पल्लवदेशस्थ चन्द्राभा नगरी में पहुँचते हैं और मन्त्रप्रभाव से सर्पविष से मरणोन्मुखी राजा धनपति की पुत्री पद्मा को जीवनदान देकर पीछे राजा के एकान्त आग्रह से इसी पद्मा का अग्निसाक्षिपूर्वक स्वीकार करते हैं। बाद जीवन्धर स्वामी कुछ दिन वहीं रहकर वहाँ से विना किसी से कुछ कहे सुने चुपचाप चलकर मार्ग में अनेक तीर्थ-स्थानों की वन्दना करते हुए—दक्षिणदेश[1] की क्षेमपुरी या क्षेमपुर के सहस्रकूट चैत्यालय में पहुँचते हैं[2]। अगर जीवन्धर का हेमाङ्गद दक्षिण भारत में होता तो जीवन्धर की दक्षिणयात्रा का यह उल्लेख नहीं मिलता।

तीसरा कारण यह है कि जीवन्धर क्षेमपुरी में भी कुछ ही दिन रहकर जब हेमाभा नगरी में पहुचे और वहां राजकुमारी कनकमाला से विवाह कर अपने शालों के आग्रह से वहीं रहने लगे तब भाई नन्दाढ्य और पद्मास्य आदि उनके मित्र भी वहीं पहुँचे। वहाँ पर जीवन्धर से पद्मास्य इस प्रकार कहता है—"आपके विरह से दुःखित हमलोग आपकी सेवा में आते हुए कुछ समय के लिये दण्डकारण्य में ठहरे। वहाँ तपस्वियों के आश्रम

---

१ (१) ततस्तस्माद्विनिर्गत्य देशे दक्षिणनामके। सहस्रकूटमाश्रित्य श्रीविमानं नुनाव स. ॥

(क्षत्रचूडामणि लम्ब ६ श्लोक ३२)

(२) × × × तद्वनान्निर्गत्य निसर्गरुचिरं नगरमुख्यैः सेवितमपि नरोचितं सर्वोत्तरमपि नाम्ना दक्षिणदेशमासाद्य × × × ×

(जीवन्धरचम्पू लम्ब ६ष्ठ, पृष्ठ-६६-६७)

(३) × × × अन्तुपरतरणदक्षस्य विडम्बितशोणोपतटे दक्षिणदेशस्य मणिमुकुटायमान-विकटशिखरचुम्बिताम्बरं जाम्बूनदोपपादितस्थूलस्थूणामहस्रसमाधमण्डितमण्डपमकाण्ड-भवद्राखण्डलधनुः काण्डशंकानिष्पादनशौण्डनैकपुष्पोपहारमहरहरभिवर्धमानसपर्यमचल-यं कमपि श्रीजिनालयमद्राक्षीत्।

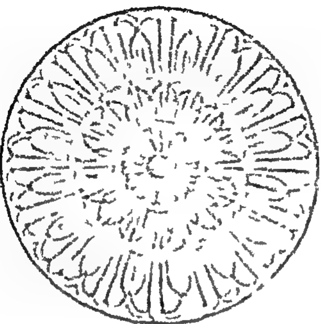
(गद्यचिन्तामणि लम्ब ६ष्ठ पृष्ठ १५२)

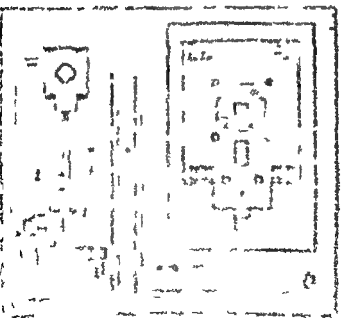
(४) मेरेव दक्षिणदिक्किनलि यं। धुरद विषयदि विमलपुरवर। करसु नरपति यापुरदि गुणभद्रनेदेव॥ परदनिहनातन कुमारिति। वरसतिय माणिक्यवेने वि। स्तरदोलेसेदलु मदनमोहनमूर्तियन्दर्दाल॥

(जीवन्धरचरिते सन्धि १२ पद्य ८)

नोट—इस पद्य में क्षेमपुर के स्थान में 'विमलपुर' मिलता है। ज्ञात होता है कि कवि ने विमल-पुर को क्षेमपुर का पर्यायवाची शब्द मानकर ही यह लिखा है। क्योंकि उन्होंने सन्धिसार-सूचक प्रारम्भिक पद्य में उसे क्षेमपुर ही स्पष्ट लिख दिया है।

२ देखो—क्षत्रचूडामणि लम्ब ५, ६।





को देखने के लिये इधर उधर घूमते हुए हम सबों ने एक स्थान पर किसी एक पुण्य माता—आपकी माता को देखा। उन्होंने हमलोगों से पूछा कि तुमलोग कहाँ के रहने वाले हो और कहाँ जा रहे हो। फिर हमने आपकी घटना की सारी बातें उन माननीय माता को सुनाई। यह सुनकर उन्हें दारुण दुःख हुआ। बाद उन्हें बारबार आश्वासन दे एवं उन से आज्ञा लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।[1] पद्मास्य द्वारा की हुई उल्लिखित दण्डकारण्य की चर्चा से भी यही ज्ञात होता है कि हेमाङ्गद देश विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में नहीं था; किन्तु उससे उत्तर। क्योंकि उस समय जीवंधर दक्षिण में ही थे।

अब लीजिये चौथा कारण। जीवंधर स्वामी मित्रश्रेष्ठ पद्मास्य के मुख से पूज्यमाता की चर्चा सुनकर उनके दर्शनों के लिये विशेष उत्कण्ठित हुए। श्वशुर आदि से आज्ञा लेकर उन्होंने वहां से चल तथा दण्डकारण्य में पहुँच कर अपनी माता का दर्शन किया। फिर उसी समय वह अपनी माता को मामा के पास भेजकर स्वयं राजपुरी को चल पड़े[2]। इनके मामा गोविन्द विदेह (मिथिला) के धरणी तिलक नगरी के राजा थे। पीछे जीवंधर ने इन्हीं अपने मामा की सहायता से काष्ठाङ्गार को परास्त किया था। स्वामिद्रोही काष्ठाङ्गार को परास्त करने के लिये गोविन्द राजा जीवंधर कुमार के साथ विदेह से कुछ ही दिनों में राजपुरी पहुँचे थे[3]। अगर हेमाङ्गद देश दक्षिण भारत में होता तो कुछ ही प्रयाण। (पड़ावों) में गोविन्दराज का विदेह से राजपुरी पहुंचना सम्भवपरक नहीं था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विदेह से हेमाङ्गद की राजधानी अधिक दूर पर नहीं थी। साथ ही साथ यह भी संभव नहीं है कि गोविन्दराज अपनी बहन विजया को विदेह से अधिक दूरवर्ती दक्षिण भारतीय राजपुरी में ब्याह देता। प्राचीन मिथिला (वर्तमान तिरहुत) को विदेह कहने में मैं समझता हूँ कि किसी को मतभेद नहीं हो सकता।

---

१ देखो—"क्षत्र चूड़ामणि" लम्ब ७, ८। २ देखो "क्षत्रचूड़ामणि" लम्ब ८।

३ (१) अथ राजपुरीं प्राप्य राजा कतिप्रयाणकैः।
निकषा तत्पुरीं द्रागपि निषसाद महाबलः॥
(क्षत्रचूड़ामणि लम्ब १० श्लोक २०)

(२) ××× मायूरातपत्रमहसा पीकृताष्टदिङ्मुखमनीकैः पुरोधाय, कैश्चित्प्रयाणैर्गोविन्दराजः ध्यान राजपुरीं निकषा निषसाद।
(जीवंधरचम्पू लम्ब १० पृष्ठ १०१)

(३) ××× चलिउ गोविंदराउ जीवधर। हलयु पयाणेहिंतनुज सहिता। ××××
(जीवंधरचरिते सन्धि १९, पद्य १)

पाँचवा कारण यह है कि महाराज जीवन्धर की मुक्ति भी वर्तमान पटना जिलान्तर्गत राजगृह के विपुलाचल पर्वतपर ही हुई है[1]। ऐसी दशा में महाराज जीवन्धर के हेमाङ्गद को दक्षिण भारत में खींच ले जाना मुझे तो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। उल्लिखित कारणों से मेरा अनुमान है कि हेमाङ्गद विन्ध्यपर्वत के उत्तर का ही कोई प्रदेश होना चाहिये। इस विषय पर अन्यान्य विद्वान् भी अवश्य विचार करेंगे।

मैं अब जीवन्धर की क्षेमपुरी या क्षेमपुर के सम्बन्ध में भी अपना विचार प्रकट कर देना चाहता हूँ। वर्तमान बंबई प्रान्तान्तर्गत उत्तर कन्नड जिला का गेरुसोप्पे ही प्राचीन क्षेमपुरी या क्षेमपुर था[2]। गेरुसोप्पे का दूसरा नाम भल्लातकीपुर है। यह होन्नावर से पूरब अठारह मील दूर पर अवस्थित है। गेरुसोप्पे में शासन करनेवाले सालुवशासकों का विस्तृत विवरण एपिग्राफिका कर्नाटिका भाग VIII एवं इसी के अन्यान्य भागों में भी मिलता है। मूड़बिद्री के त्रिभुवन-तिलक-चैत्यालय (होसबस्ति) के पाँचवे शिलालेख से ज्ञात होता है कि सालुववंशी नारणाङ्क स्थानीय (मूड़बिद्री) मठाधीश श्रीचारुकीर्त्ति जी का परम भक्त था[3]। इस शिलालेख में उक्त नारणांक के वंश का विस्तृत परिचय भी उपलब्ध होता है।

गेरुसोप्पे चिरकालतक जैनसाम्राज्य-शासन में रहा। आज भी इसके आस ही पास डेढ़ मील की दूरी पर "नगरबस्ति केरी" में कई प्राचीन जैनमन्दिर भग्नावस्था में मौजूद हैं जो इस बात को प्रकट कर रहे हैं कि यह एक समृद्धशाली पुरातन नगर था। स्थानीय लोगों का अनुमान एवं विश्वास है कि अपने महत्त्व के दिनों में यहां पर एक लाख घर तथा चौरासी मन्दिर विद्यमान थे। यहां के मन्दिरों में सबसे बड़े महत्त्व का एक चौमुखा जैनमन्दिर है। इसके चार द्वार हैं तथा इसमें चार प्रतिमायें विराजमान हैं। पाँच और

---

१ × × × × विपुलाद्रौ हुताशेषकर्मा शर्माग्रयमेष्यति।
इष्टाष्टगुणसम्पूर्णो निष्ठितात्मा निरञ्जन ॥

(गुणभद्राचार्यकृत उत्तर-पुराणान्तर्गत जीवन्धरचरित पृष्ठ ५१ श्लोक २०५—शास्त्री कुप्पुस्वामिद्वारा तांजोर में प्रकाशित)।

२ देखो—B L. Rice's, Mysore and Coorg Inscriptions p. 152.

नोट—इस बात की सूचना मिस्टर एम० गोविन्द पै ने मुझे दी है, तदर्थं वे धन्यवाद के पात्र हैं।

३ "क्षेमपुरद श्रीचण्डोग्रपार्श्वतीर्थेश्वरचरणकिंकररं श्रीमच्चारुकीर्त्तिपण्डिताचार्यवर्य्यपदपद्मभृंगायमान(स) रुलप्प सालुवनाराणांकन्"।

जीर्ण जैन मन्दिर हैं, जिनमें भिन्न भिन्न तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ और कई शिलालेख भी मौजूद हैं¹।

यह एक किम्वदन्ती है कि विजयनगर के राजाओं ने ही गेरुसोप्पे के जैनवंश को कन्नड प्रदेश में हस्तावलम्बन दे उन्नत बनाया। किन्तु पता नहीं कि इस किम्वदन्ती में कहाँ तक यथार्थता है। लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी से यहाँ का शासन भार प्रायः महिलाओं के ही हाथ में रहा। १६वीं और १७वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के करीब करीब सभी लेखक गेरुसोप्पे और भट्कल की महारानी का नाम आदर के साथ लेते हैं। ("बम्बई प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक" पृष्ठ १३५) भैरवदेवी ही गेरुसोप्पे की अन्तिम महारानी थीं और वह सन् १६०८ में मरीं। उत्तर कन्नड जिला प्राचीन काल से ही जैनियों का केन्द्र बन गया था। 'सोदे' में ८वीं शताब्दी में ही जैनमठ स्थापित हो गया था। ("बम्बई प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक" पृष्ठ १३७) बल्कि 'राजावली कथा' के आधार पर श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों के उद्धारक 'राइस' साहेब का कहना है कि इस 'सोदे' का प्राचीन नाम 'सुधापुर' है तथा यहाँ की गद्दी पर भट्टाकलङ्क भी आसीन थे। इस उत्तर कन्नड

१ जीवन्धर चम्पू, क्षत्रचूड़ामणि, जीवन्धर चरिते के रचयिताओं ने जीवन्धर स्वामी के मुख से क्षेमपुर के सहस्रकूट चैत्यालय में भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति निम्नलिखित रूप से करायी है —

(१) 'भवभरभयदूरं भावितानन्दभारं धृतविमलशरीरं दिव्यवाणीविचारम्।
मदनमदविकारं मञ्जुकारुण्यपूरं, भजत जिनपधीरं शान्तिनाथं गभीरम्" ॥
(जी० चं० लम्ब ६ श्लो० १७)

(२) "स्वान्तशान्ति ममैकान्तामनेकान्तैकनायकः।
शान्तिनाथो जिनः कुर्यात्संसृतिक्लेशशान्तये ॥"
(क्ष० चू० लम्ब ६ श्लोक २५)

(३) "देव निम्मालयद कदगलु। आव तेरदलि मुच्चिदोम्मेलो।
कावलिय ... केत्तिदुवु शान्तीश्वरने निम्म" ॥× × ×
(जी० च० सन्धि ११ पद्य १६)

किन्तु उक्त क्षत्रचूड़ामणि के कर्ता वादीभसिंह ने ही अपनी "गद्यचिन्तामणि" में उसी सहस्रकूट चैत्यालय में जीवन्धर के द्वारा शान्तिनाथ जी की स्तुति न करा कर भगवान् वर्द्धमान की इस प्रकार स्तुति करायी है —

(४) तरन्ति संसारमहाम्बुराशिं यत्पादनावं प्रतिपद्य भव्याः।
अम्लपदमानन्दमवाप्नुवन्ति श्रीवर्द्धमानः स मुदेऽस्तु जिनो नः" ॥
(ग० चि० लं० ६, पृष्ठ १२३)

उल्लिखित उद्धरणों से भी पता लगता है कि उस काल में यहाँ (क्षेमपुरी में) भिन्न भिन्न जिन प्रतिमायें मौजूद थीं।

प्रान्त में भट्टारकों की विरुदावली में आये हुए तीन प्रसिद्ध स्थानों का नाम उपलब्ध होता है। जैसे—उक्त 'क्षेमपुर'—जिसका वर्तमान नाम 'गेरुसोप्पे' है। 'श्वेतपुर' जिसका वर्तमान नाम 'बिळिगे' है। इसी प्रकार 'संगीतपुर'—जिसका वर्तमाय नाम 'हाडुहल्लि' है।[१] (बंबई प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक पृष्ठ १३८) इससे भी पता लगता है कि एक जमाने में यह प्रान्त विशेष समृद्धशाली रहा। गेरुसोप्पे या क्षेमपुर के सम्बन्ध में एक और प्रमाण उपस्थित करदेना मैं समुचित समझता हूँ। वह यह है—"इंतेसव नगरि राज्यद मध्य-प्रदेशदोळ् बळसिर्दोप्पुव नंदनावनगळिं कासारनीरेजदिं। कळधौतोज्ज्वल सालकोत्तलग-ळिदट्टाल जालंगळिं। विलसद्गोपुरदिं सुहर्म्यचयदिं श्रीजैनगेहंगळिं। चेलुवं तालिद गेरुसोप्पे नगरं कोंडाडलार्वल्लरै।"

(मूडबिद्री त्रिभुवन-तिलक-चैत्यालय के शिलालेख से)

वादिराज-कृत यशोधरचरित्र की लक्षण ने एक टीका लिखी है। उनका कहना है कि इस टीका को मैंने क्षेमपुर ही में रचा है[२]। लक्षण का संकेतित क्षेमपुर उल्लिखित 'क्षेमपुर' होने की अधिक संभावना है। साथ ही साथ यह भी संभव है कि जिस नेमिनाथालय में उन्होंने इसकी टीका रची है वह नेमिनाथालय इस समय जो वहां पर भग्नावस्था में मौजूद है वही हो।

मेरा अनुमान है कि यह 'गेरुसोप्पे' जीवन्धर का प्राचीन क्षेमपुर है। इस सम्बन्ध में विद्वानों को अनुकूल या प्रतिकूल प्रमाण उपस्थित कर इस विषय पर अधिक प्रकाश डालना चायिये। इसी प्रकार जीवन्धर के समकालीन पल्लवदेश की चन्द्राभा नगरी के राजा धनपति, उक्त क्षेमपुरी के राजा नरपति देव, मध्यप्रदेश की हेमाभा नगरी के राजा दृढमित्र, विदेह के धरणी तिलक नगर के राजा गोविन्दराज आदि शासकों एवं इनकी राजधानियों के सम्बन्ध में भी अन्वेषण करने की बड़ी आवश्यकता है।

---

१ "स्वस्ति श्रीमद्रायराजगुरुभूमण्डलाचार्यवर्यमहावादवादीश्वररायवादिपितामहसकलविद्वज्जन-सार्वभौमाद्यनेकविरुदावलीविराजमानश्रीमन्निजवटिकस्थानदिल्लि-कनकाद्रि-श्वेतपुर-सुधापुर-संगीतपुर-क्षेमवेणुपुर-श्रीमद्वेल्गोल-सिंहासनाधीश्वरश्रीमदभिनवचारुकीर्त्ति × × × × ×

२ श्रीमत्पद्मणगुलमदैत्यभिहिनौ श्रीवर्णिनौ भूतले भातश्चारुचरित्रवार्धिहिमगुस्तत्प्रीतये लक्षणः। मन्दो बन्धुरवादिराजविदुषः काव्यस्य कल्याणदाम् टीकां क्षेमपुरेऽकरोद्गुरुतरश्रीनेमिनाथालये॥

A triennial Catalogue of manuscripts Govt Library Madras, 1916-17 to 1918-19 Vol. III.—Part I, Sanskrit C. Page 3826.

इतिहास का जैनग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध

(ले०—श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ)

बहुतों की धारणा है कि पुराण और इतिहास एक ही पदार्थ है। प्राचीन काल में तो ये दोनों अवश्य ही एक थे, क्योंकि पुराणों के सिवा कोई इतिहास-ग्रन्थ अलग उपलब्ध नहीं होता। वास्तव में पुराण और इतिहास के उद्देशों में भेद है। यह बात प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट लिखी भी है। क्योंकि इतिहास की व्युत्पत्ति यों है—इति ह पुरावृत्त आस्ते अस्मिन्, इतिह–आस्–घञ्। पुरावृत्त कथा ही इतिहास है। इसे वैदिक आम्नाय वाङ्मय के अन्तर्गत मानते हैं। क्योंकि यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण में लिखा है —"ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणं विद्या सूत्राण्यनु व्याख्यानानि'।

इतिहास संसार के समस्त वस्तुपरिवर्तन का उपाख्यान है। केवल मनुष्य ही तक नहीं पशुपक्षी, कीटपतङ्ग—यहाँतक कि जड़चेतन का भी इतिहास रहता है। इतिहास का चाहे जो अर्थ या उद्देश हो, इस समय वह पुराणों में ही गंगा यमुना के संगम की तरह मिल गया है। उसके असली स्वरूप का दर्शन बिना पुराणों से उसका ठीक ठीक उद्धार असम्भव हो गया है।

इतिहास सब देशों का है। पर हमारे देश का नहीं है, यह बात सर्वथा आदरणीय नहीं। स्मरणातीतकाल से पृथ्वीपर जो देश सभ्य माना गया है उस देश का इतिहास, उसी समय के अनुसार हो सकता, न कि सभ्याभिमानी देशों की तरह शताब्दीवार तिथि मिति सवत् सम्वत् के लेखों से सुसज्जित। बल्कि यह बात विचारशीलों से अज्ञात नहीं है। कुछ लोगों की धारणा है कि जितने समय का इतिहास अज्ञात है, उतने समय तक हम असभ्य थे। पर यह सिद्धान्त भारतवर्ष के लिये प्रमाणभूत नहीं हो सकता। बात यह थी कि प्राचीन समय में जैसी रीति, नीति और आवश्यकता थी तदनुसार ग्रन्थों में बातें कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप से लिखी गयी हैं। परन्तु वे अब इस समय के विचार से लोगों को अनावश्यक जान पड़ती हैं। अब समय-प्रचार की आवश्यकता दूसरे ढंग की है। इससे हमारे देश के इन महानुभावों को प्राचीन ढंग शैली पसन्द नहीं। भला इस दशा में दूसरे देशवाले क्यों कर इसके समर्थक हो सकते हैं?

यों तो बहुत पुरातत्त्ववेत्ता इतिहास ने ग्रीस की विश्वसभ्यता का गन्ध मानते हुए यह समझा कि, सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारतीय सभ्यता की जो वृद्धि हुई, उसका अंग अंग ग्रीस का बताया है। संक्षेप में यह कि, आज हम भारत में जो कुछ देख रहे हैं, वह ग्रीस का दिया हुआ है। परन्तु

हैवेल ने उनका पलडा ऊपर उठाकर कहा, "नहीं, भारतीय सभ्यता स्वयं विश्व-सभ्यता की जननी है। अपने विकाश के लिये इसे ग्रीसवालों के प्रसाद की प्रतीक्षा करने की आवश्यक्ता न थी; बल्कि, उस समय भी भारतवर्ष विश्व का धर्मगुरु ही था।"

इतिहासकारो की इस खींचातानी में नीस की वातो पर विद्वानों ने बहुत ध्यान न दिया। नीस की आँखों पर विचार-संकोच और पक्षपात का चश्मा चढा हुआ था। पर भावुक हैवेल को आचार्य भारत के सभ्यतासूर्य की प्रचण्ड रश्मियों से चकाचौंध सी लग गयी थी। इन दो दलों के कोलाहल को न सुनकर टार्न, स्पूनर, फर्गुसन और स्मीथ जैसे धीर, शान्त और वैज्ञानिक लेखक निष्पक्षता के मन्दिर में सत्य का पता लगा रहे थे। मैं समझता हूं कि, वे सत्यता के बहुत बड़े अंश का पता लगाने में समर्थ हुए हैं।

सिकन्दर की चढ़ाई राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थी। इसने पहली बार भारत की महत्ता का द्वार यूरोपवालों के लिये खोल दिया। यह सच है कि, भारत-वासियों के सामने सिकन्दर का कोई आदर्श समादृत न हो सका। लोगों ने उसकी चढ़ाई को एक साधारण घटना से अधिक न समझा। यहाँ तक कि, कोई वौद्ध, जैन और हिन्दू लेखक इसकी कुछ भी चर्चा नहीं करता है।

इसीलिये भारतवर्ष का इतिहास अजीव पहेली वना हुआ है। इसकी मूल भित्ति का पता लगाना अर्थात् इसकी असली तह तक पहुचना सिद्ध-शिला का आश्रय लेने के समान हो रहा है। यों तो अव बहुत से विद्वान् कथासरित्सागर जैसे कपोलकल्पित कथाओं एवं अल्हा-उद्दल की गायी जाती हुई वीरगाथाओं से भी वैज्ञानिक ढग से क्षीर-नीर की तरह ऐतिहासिक तत्त्व निकालने में सफल से हो रहे हैं।

अस्तु, अव मैं अपने प्रकृत विषय पर आने के पहले डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, माननीय मिस्टर फर्गुसन तथा डाक्टर भण्डारकर को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के मङ्गलाचरण और प्रशस्तियों को संगृहीत और प्रकाशित कर भारतीय इतिहासाधन को प्रचुर परिमाण में उपस्थित कर देने का अक्षय्य श्रेय उठाया है।

हिन्दू लेखक मंगलाचरण और प्रशस्तियों का महत्त्व नहीं जानते थे। उन्होंने मंगलाचरण और प्रशस्तियाँ तो लिखी हैं किन्तु उनमें ऐतिहासिक मसाले मिलने कठिन से हो गये हैं। यों हिन्दू पुराणों में राजवंशों का वर्णन ऐतिहासिक अंग माना जाता है किन्तु राजाओं का समय-निर्णय करना दुस्साध्य सा हो रहा है। हाँ, इतिहास का एकमात्र साधन शिलालेख एवं ताम्रपत्र हो रहे हैं। मैं समझता हूं कि इन दोनों के अभाव में भारतीय इतिहास बिना पेंदे की लुटिया के समान इधर उधर ढन-मनाता फिरता। जयपुर-निवासी महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० दुर्गादत्त द्विवेदी भारतीय इतिहास संसार के कम धन्यवाद के पात्र नहीं हैं जिन्होंने निर्णयसागर प्रेस से 'प्राचीन लेखमणिमाला' नाम की दो भागों मोटी जिल्दें प्रकाशित कर इतिहास-लेखकों का मार्ग बहुत कुछ परिष्कृत कर दिया है।

अस्तु, जैनग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े काम की चीजें हैं। कुछ ही ग्रन्थ ऐसे होंगे जिनके मंगलाचरण में अपने पूर्व कवियों के नाम अथवा कृतियों का उल्लेख नहीं किया गया हो तथा प्रशस्तियों में अपनी गुरुपरम्परा और तत्कालीन राजवंश का परिचय नहीं दिये गये हों। यहीं तक नहीं बल्कि प्रशस्ति के नीचे जिस धर्मप्राण जैनी स्त्री पुरुष उस ग्रन्थ की प्रतिलिपि करवा कर किसी मन्दिर में प्रदान किये रहते हैं उनकी वंशपरम्परा का भी उल्लेख बहुत मिलता है। ऐसी दशा में इतिहास प्रणेता अन्वेषकों को जैनग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियाँ कितने काम की चीजें हैं—इस बात का पता सहज ही में लग सकता है। यह दुःख की बात है कि भारत के इतिहास लेखकों ने पारसी, अरबी आदि अन्यान्य सम्प्रदाय के साहित्य एवं इतिहास का अनुशीलन करने का कष्ट तो उठाया किन्तु भारतीय साहित्य तथा इतिहास का सर्वश्रेष्ठ साधन जो जैनग्रन्थ हैं उनकी ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इसका मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि जैनग्रन्थों के प्रकाश में नहीं आने एवं जैनशास्त्रभाण्डाराधिपतियों की लापरवाही के कारण अन्यान्य ऐतिहासिक विद्वान् जैनग्रन्थों में भरे पड़े ऐतिहासिक साधनों से लाभ नहीं उठा सके। अब एकाएक सभी जैनग्रन्थों को प्रकाशित कर देना तो अशक्य सा हो रहा है किन्तु इस "भास्कर" का यह पहले ही से ध्येय बना हुआ है कि अप्रकाशित जैनग्रन्थों को संगृहीत कर उनके मंगलाचरण और प्रशस्तियों के प्रकाशनद्वारा यावच्छक्य ऐतिहासिक साधन संचित कर दिया जाय। बल्कि इसी ध्येय को लेकर ग्रन्थमाला के रूप में ग्रन्थस्थ मंगलाचरण तथा प्रशस्तियाँ प्रकाशित की गयी हैं। इस भवन के सुयोग्य पुस्तकालयाध्यक्ष पण्डित के० भुजबली शास्त्री जी ने यथोपलब्ध सामग्री से उनके ऊपर ऐतिहासिक प्रकाश भी डाला है।

आज मैं भवन के संगृहीत एक ग्रन्थ "दयासुन्दराभिधान अपर नाम यशोधर चरित" की प्रशस्ति पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर संक्षेप में उसके ऐतिहासिक साधनों का दिग्दर्शन कराने का प्रयास करता हूं। इस ग्रंथ के रचयिता पद्मनाभ नामक कायस्थ हैं। भारतवर्ष में कायस्थ ही एक गुणी जाति है जो अन्यान्य शिक्षित देशों से शिक्षा में टक्कर ले सकती है। पौराणिक युग से लेकर अबतक इस जाति ने शिक्षा को एकान्त चिरसाधना बनाकर प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त कर रक्खी है। धर्मशर्माभ्युदय नामक प्रसिद्ध जैन काव्यग्रंथ के रचयिता हरिश्चन्द्र भी कायस्थ ही थे। हिन्दू संस्कृत साहित्य के रचयिताओं में कायस्थ जाति का कहीं नाम निर्देश नहीं है। ज्ञात होता है कि ब्राह्मणजाति ने इनके पाण्डित्य का समादर नहीं कर संकीर्णता का आश्रय लिया, इसी से कायस्थ जाति अपनी अमूल्य रचनाओं से जैनसंस्कृत साहित्यभाण्डार की पूर्ति करने लगी।

अस्तु, इस यशोधर चरित के मंगलाचरण में कोई गुरुपरम्परा अथवा कविपरम्परा नहीं दी गयी है—अतः यहाँ केवल प्रशस्ति ही दी जाती है किन्तु साथ ही साथ यहाँ मैं यह लिख देना समुचित

समझता हूँ कि इस एकमात्र अशुद्ध प्रति की वजह से अशुद्धियों का कुछ भी संशोधन नहीं किया जा सका :—

जातः श्रीवीरसिंहः सकलरिपुकुलव्रातनिर्घातपातो-
वंशे श्रीतोमराणां निज विमलयशोग्रामदिक्चक्रवालः।
दानैर्मानैर्विवेकैर्न भवति समता येन साकं नृपाणाम्
केषामेषाकहीनां प्रभवति धिषणा वर्णने तद्गुणानाम् ॥१॥
ईश्वरचूडारत्नं विनिहितकरघातवृत्तसंघातः।
चन्द्र इव दुग्धसिन्धोस्तस्मादुद्धरणभूपतिर्जनित ॥२॥
यस्य हि नृपतेर्यशसा सहसा शुभ्रीकृते त्रिभुवनेऽस्मिन्
कैलाशतिगि (?)र निकरत्री(?) रतिनीरं शुचीयते तिमिरम् ॥३॥
तत्पुत्रोवीरमेन्द्रः सकलवसुमतीपालचूडामणिर्यः
प्रख्यातः सर्वलोके सकलबुधकलानन्दकारी विशेषात्।
तस्मिन् भूपालरत्ने निखिलनिधिगृहे गोपदुर्गं प्रसिद्धम्
भुंजाने प्राज्यराज्यं विगतरिपुभयं सुप्रजःसेव्यमानम् ॥४॥
वंशेऽभूज्जैसवाले विमलगुणनिधिः भूलणः साधुरत्नम्
साधुः श्रीजैनपालोऽभवदुदितयास्तत्सुतो दानशीलः।
जैनेन्द्राराधनेषु प्रमुदितहृदयः सेवकः सद्गुरूणाम्
लोणाख्या सत्यशीलाजनि विमलमतिर्जैणपालस्य भार्या ॥५॥
जाताः षट् तनयास्तयोः सुकृतिनो श्रीहंसराजोऽभवत्
तेषामाद्यतमस्ततस्तदनुजसैराजनामाजनि।
रैराजो भवराजकस्समजनिप्रख्यातकीर्त्तिर्महान्
साधुः श्रीकुशराजकस्तदनुजः श्रीक्षेमराजो लघुः ॥६॥
जाता श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणिः
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान्।
मन्त्री मन्त्रविचक्षणः क्षणमयः क्षीणारिपक्षः क्षणात्
क्षोण्यामीक्षणरक्षणक्षममतिर्जैनेन्द्रपूजारतः ॥७॥
स्वर्गस्पर्द्धिसमृद्धिकोऽतिविमलश्चैत्यालयः कारितो
लोकानां हृदयङ्गमो वहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभोः।
येनैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्यं तथा

साधुश्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्त्तेश्चिरस्थापकम् ॥८॥
तिस्रस्तस्यैव भार्या गुणचरितयुतास्तासु रल्होभिधाना
पत्नी धन्याचरित्रा व्रतनियमयुता शीलशौचेन युक्ता ।
दात्री देवार्चनाढ्या गृहपतिकुशला तत्सुतो कामरूपो
दाता कल्याणसिंहो जिनगुरुचरणाराधने तत्परोऽभूत् ॥९॥
लक्षणश्रीद्वितीयाभूत्सुशीला च पतिव्रता ।
कौशीरी च तृतीयेयमभूद्गुणवती सती ॥१०॥
शान्तिर्देशस्य भूत्तदनु नरपते सुप्रजानां जनानाम्
धत्तृणां याचकानां   तथैव ।

॥

यावत्कूर्मस्य पृष्ठे भुजगपतिरयं तत्र तिष्ठेद्गरिष्ठे
यावत्तत्रापि चञ्चद्विकटफणिफणामण्डले क्षोणिरेषा ।
यावत्क्षोणी समस्तक्षितिपतिधृतचारुचामीकराद्रि —
स्तावन्नन्द्य त्रिशुद्धं जगति विजयतां काव्यमेतच्चिराय ॥१२॥
कायस्थपद्मनाभेन बुधपादाब्जरेणुना ।
कृतिरेषा विजयतां स्थेयादाचन्द्रतारकम् ॥१३॥

अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीविक्रमार्कगताब्द संवत् १८१२ वर्षे विक्रमभूपाब्दानां छिद्रदु वसुरुद्रवत्सरान्ते मार्गशीर्ष कृष्ण ४ रवौ पुनर्वसुनक्षत्रे शुक्लनामयोगे श्रीमूलसंघे बलात्कार गणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्त्तितत्पट्टे भट्टारकश्रीचन्द्रकीर्त्ति तदाम्नाये बाई श्रीवास (श्व) मनो तच्छिष्य पं० मयाराम पठनार्थं लिखितं श्रीतपागच्छे श्रीविजयराजाम्नाये श्रीवाराणस्यां नगर्यां भेलूपुराश्रीजिनमन्दिर श्रीपार्श्वनाथप्रसादात् अत्र राज्यत्रयाधिपतिराजाबलवन्तसिंहदेवा तद्राज्यप्रवर्त्तमाने । शुभमस्तु । श्रीमूलसंघे श्रीभट्टारक जिनेन्द्रभूषणजी भट्टारक महेन्द्रभूषणजी श्रीआचार्यदेवचन्द्रकीर्त्तिजी श्रीगोपाचलपट्टे ।

उल्लिखित प्रशस्ति के पद्यों में जो ऐतिहासिक नाम आये हैं उनसे यह बात ज्ञात होती है कि तोमरवंशीय राजा वीरमदेव के यहाँ विश्वासपात्र मन्त्री जैसवालवंशोद्भूत श्रीकुशराज ने जिन दिनों श्रीचन्द्रप्रभतीर्थङ्कर का एक विशाल एवं भव्य मन्दिर बनवाया उन्हीं दिनों कायस्थकुलोद्भूत विद्वद्वर पद्मनाभ जी ने इस प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन परिसमाप्त किया ।

'तोमर' राजस्थान का एक प्राचीन राजपूत क्षत्रिय राजवंश है। इस श्रेणी के राजपूत अब नहीं के वराबर हैं। राजपुताने में ये लोग तुयार नाम से प्रसिद्ध हैं। जहाँ तहाँ आरा प्रान्त में भी तोमर वंशीय क्षत्रिय हैं। राजपूतवंश का तोमर यह नाम क्यों पड़ा इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। अबुल फजल की आइने अकवरी में 'तुयार' वंश का उल्लेख मिलता है। (विश्वकोश)

प्रवाद है कि तोमरवंशीय अनङ्गपाल नामक एक राजा ने प्राचीन दिल्ली का पुनरुद्धार किया था। संवत् प्रतिष्ठाता विक्रमादित्य के बाद ७९२ वर्ष तक दिल्ली नगर बिल्कुल उजाड़ था। अन्त में ७३६ ई० में तोमरवंशीय अनङ्ग ने इसे पुन बसाया। (विश्वकोश)

दिल्ली के दक्षिण पश्चिम में तुयारवती या तोमरावती नाम का एक जिला है। वहाँ आज भी तोमरवंशीय एक सरदार रहते हैं। (विश्वकोश)

ग्वालियर में प्राय दो शताब्दी तक एक तोमरवंश ने राज्य किया था। इस वंश के इतिहास लेखक कवि खङ्गराय तोमरवंश को पाण्डुवंश का ही एक अंग मानते हैं। (विश्वकोश)

कनिंगहम साहेब को १८६४-६५ ई० में वहाँ के जमिन्दारों से एक वंशापलिका मिली थी। शिलालिपि में भी ग्वालियर के राजाओं में आठ तोमरवंशीय राजाओं के नाम पाये जाते हैं। खङ्गराय के इतिहासानुकूल कनिंगहम ने ग्वालियर की तोमरवंश-तालिका जो दी है उसमें ईस्वी सन् १०८१ वाले राजा तेजपाल से लेकर ई० सन् १५१६ वाले राजा विक्रमादित्य तक बीस राजा हुए हैं। इनमें ई० सन् १३७५ वाले राजा वीरसिंह से लेकर राजा विक्रमादित्य तक अन्यान्य आठ राजाएं तो यथार्थ में ग्वालियर के ही राजासिंहासनासीन रहे। (विश्वकोश)

अस्तु हमारे प्रशस्तिगत तोमरवंशीय राजा निम्नलिखित तीन हैं:—

(१) राजावीरसिंह	ई० सन् १३७५	(यह काल-गणना विश्वकोश से ली गयी है)
(२) राजा उद्धरणदेव	,, १४००	
(३) राजा विरमदेव	,, ,,	

अब मैं प्रशस्तिगत श्लोकों से अपने चरितनायक 'कुशराज' जी का परिचय देता हूं।

(१) भूलण
(२) जैनपाल*—(इनकी स्त्री का नाम 'लोणा')
(३) कुशराज†

---

*'जौणपाल' यह परिवर्तित नाम इन्हीं का ज्ञात होता है। काश्मीर के विश्वसनीय इतिहास राजतरंगिणी में भी कई जगह "जौणपाल" यह नाम आया है। देखें (राजतरंगिणी)

†हंसराज, सैराज, रैराज, भवराज, क्षेमराज ये पाँच भाई कुशराज के और थे! इनमें पाँचवे कुशराज और छठे सबसे छोटे क्षेमराज हैं। (प्रशस्ति से ही यह बात ज्ञात होती है।)

यही कुशराज राजा वीरमेन्द्रदेव के आश्रय में मन्त्रित्व करते हुए श्रीचन्द्रप्रभतीर्थंकर का सुन्दर चैत्यालय बनवाकर अपना नाम अमर कर गये हैं। उन दिनों आप एक बड़े भारी धनीमानी एवं राज सम्मानित जैनी थे इसीलिये पण्डितप्रवर कायस्थ पद्मनाभ जी ने अपनी ग्रन्थसमाप्ति में जैनधर्म के आश्रयभूत कुशराज का संस्मरण किया है। इन्होंने ग्रंथ में पुस्तकरचनाकाल नहीं दिया है। किन्तु तोमरवंशीय* राजा वीरमेन्द्र का वंशवर्णन कर अपने ग्रंथ का रचनाकाल (१४०० ई० सन्) का मार्ग पद्मनाभ जी ने परिष्कृत कर दिया है। अब कुशराज की वंशावली नीचे दी जाती है—

(१) कुशराज†

(२) कल्याणसिंह‡

इस ग्रंथ का लिपिकाल १८१२ है। क्योंकि लिखा हुआ है कि वि० सं० १८१२ मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्थी रविवार पुनर्वसु नक्षत्र में मूलसंघीय, बलात्कारगण एवं सरस्वती गच्छ के कुन्दकुन्दाम्नायान्तर्गत श्रीचन्द्रकीर्ति जी की शिष्या श्रीमती पास (?) मती जी के पढ़ने के लिये प० मायारामजी ने काशी में परमप्रसिद्ध भेलूपुरा मन्दिर में इस ग्रंथ की प्रतिलिपि की। उन दिनों तीन तीन राज्यों के अधिपति राजा बलवन्तसिंहदेव का शासन चल रहा था। इस राजा के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। उल्लिखित भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी के भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी कौन हैं यह बात ज्ञात नहीं होती। आपकी पट्टावली—(१) भट्टारक जिनेन्द्रभूषण (२) भट्टारक महेन्द्रभूषण (३) आचार्यदेव नरेन्द्रकीर्ति हैं।

इस छोटे से लेख में मैंने यही दिखाने की चेष्टा की है कि जैनग्रंथों में मङ्गलाचरण और प्रशस्तियों में अनन्त ऐतिहासिक साधन संचित हैं। आवश्यकता है केवल उनकी आलोचना एवं प्रत्यालोचना करने की।

---

*'तोमर' शब्द एवं वंश का विपुलवर्णन देखने की इच्छा करनेवाले कलकत्ता से प्रकाशित "हिन्दी विश्वकोश" की ९वीं जिल्द देखें।

†इनकी रल्हो, लक्षणश्री और कौशीरी नाम की तीन स्त्रियाँ थीं।

‡इनकी माँ का नाम 'रल्हा' था। इनकी काम के समान सुन्दर आकृति थी।



कतिपय (दि०) जैन संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों पर प्राचीन कन्नड टीकायें।

क्रम संख्या	मूल ग्रन्थ		टीकाकार	समय	विशेष व्यवस्था
१	अकलंकाष्टक	(सं०)	.... ..	१९वीं शताब्दी ईस्वी सन्	
२	अमितगतिश्रावकाचार	,,	केशव वर्णी	१३५९ ईस्वी सन्	अभयसूरि-सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य।
३	आचारसार	,,	वीरनन्दि	११५३ ,,	मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य।
४	अत्मानुशासन	,,	.... ..	. ..	
५	आराधनासार	(प्रा०)	शांतिकीर्त्ति	१७५५ ,,	
६	कर्मप्रकृति	,,	. . . ..	१५ वीं शताब्दी ,,	
७	कल्याणकारक	(सं०)	सोमनाथ	लगभग ११५० ,,	यह पूज्यपादकृत कल्याणकारक का अनुवाद है।
८	,,	,,	..... .	.	इसके रचयिता उग्रादित्य हैं।
९	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	(प्रा०)	शुभचन्द्र	,, १२०० ,,	
१०	गणितसार	(सं०)	दैवज्ञ-वल्लभ	,, १७०० ,,	
११	गीतवीतराग	,,		.. . .	
१२	गोम्मटसार	(प्रा०)	केशव वर्णी	१३५९ ,,	अभयसूरि-सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य।
१३	चारित्रसार	(सं०)	प्रभेन्दु मुनि	१५ वीं शताब्दी ,,	
१४	,,	,,	प्रभाचन्द्र	लगभग १३०० ,,	
१५	चौबीसठाणा	(?)	......	१५ वीं शताब्दी ,,	
१६	ज्वालामालिनी कल्प	(सं०)	... ..	......	

१७	जिनसंहिता	,,	कुमुदचन्द्र	लगभग ११०० ,,	माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य।
१८	जैन सार क्रियासंग्रह			१८ वीं शताब्दी ,,	
१९	तत्त्वार्थसूत्र	(सं०)	बालचन्द्र	लगभग ११७० ,,	११७० ई० में स्वर्गस्थ नयकीर्ति के शिष्य।
२०	,,	,,	चिदानन्द	१८ वीं शताब्दी ,,	
२१	,,	,,	दिवाकरनन्दि	१०६० ,, ,,	
२२	दशभक्ति	(सं० प्रा०)			
२३	द्रव्यसंग्रह	(प्रा०)	बालचन्द्र	१२७३ ,,	नेमिचन्द्र तथा अभयचन्द्र के शिष्य।
२४	द्वादशानुप्रेक्षा	(?)			
२५	धनञ्जय निघंटु	(सं०)		१७वीं शताब्दी ,,	
२६	धर्मशर्माभ्युदय	,,		,, ,, ,,	
२७	नीतिवाक्यामृत	,,	नेमिनाथ	१३वीं त्रि० ,,	विशेष परिचय देखो भास्कर भाग २ किरण १
२८	पदार्थसार	,,	माघनन्दि	लगभग १२६० ,,	कुमुदचन्द्र के शिष्य।
२९	पद्मपुराण	,,		१८वीं शताब्दी ,,	
३०	पद्मावती कल्प	,,			
३१	पंचकल्याणस्तोत्र	,,		लगभग १५०० ,,	मूलग्रंथ आशाधर जी का है।
३२	परमात्मप्रकाश	(प्रा०)	बालचन्द्र	लगभग ११७० ,,	११७७ ई० में स्वर्गीय नयकीर्ति के शिष्य।
३३	प्रवचनसार	,,	,,	,, ,,	,, ,,
३४	प्रतिष्ठातिलक	(सं०)			
३५	प्रश्नोत्तर रत्नमाला	,,			
३६	प्रायश्चित्त	,,	विद्यानन्द	१४५५ ,,	मूलग्रंथकार ब्रह्मसूरि के पुत्र हैं।

क्रम संख्या	मूल ग्रन्थ।		टीकाकार।	समय	विशेष व्यवस्था।
३७	बृहत् पंचनमस्कार	,,	......	... ..	
३८	भद्रबाहु-चरित्र	,,	. ...	......	
३९	भद्रबाहु-सामुद्रिक	,,	......	१५वीं शताब्दी ,,	
४०	माघनन्दि-संहिता		कुमुदचन्द्र	......	
४१	मोक्षप्राभृत	(प्रा०)	कनकचन्द्र	लगभग १३०० ,,	
४२	यशोधरकाव्य	(सं०)	..... .	......	
४३	रत्नकरण्ड	,,	... .	१९वीं शताब्दी ,,	
४४	,,	,,	कमलपण्डित	१८८६ ,,	
४५	,,	,,	......	१७वीं शताब्दी ,,	
४६	रयण-सार	(प्रा०)	......	......	
४७	वर्द्धमानकाव्य	(सं०)	.. ...	......	
४८	विंशतिप्ररूपणा	,,	पद्मप्रभ	लगभग १३०० ,,	
४९	शास्त्रसार-समुच्चय	,,	माघनन्दि	,, १२६० ,,	कुमुदेन्दु के शिष्य।
५०	सज्जनचित्तवल्लभ	,,	अभिनवश्रुतमुनि	,, १३६५ ,,	
५१	समयसार	(प्रा०)	बालचन्द्र	,, ११७० ,,	११७७ ई० के स्वर्गस्थ नयकीर्त्ति के शिष्य।
५२	समाधिशतक	(सं०)	मेघचन्द्र	११४८ ,	प्रायः ११७७ के स्वर्गस्थ नयकीर्त्ति के शिष्य।
५३	स्वरूपसंबोधन	,,	......	......	
५४	,,	,,	......	१९वीं शताब्दी ,,	

५५	सागारधर्मामृत	,,		१७ वीं ,, ,,	
५६	सिद्धान्तसार	(प्रा०)	प्रभाचन्द्र	११०० ,,	
५७	सिद्धस्तोत्र	(सं०)		१५०० ,,	मूलग्रन्थ आशाधर जी का है।
५८	सिद्धराशि	,,	कल्याणकीर्ति		
५९	क्षत्रचूडामणि	,,			
६०	क्षपणासार	(प्रा०)			

नोट—यह तालिका 'कन्नड कवि चरिते' भाग १, २, ३ के आधार पर तैयार की गई है। बहुत कुछ सम्भव है कि, इसमें और भी कई टीकायें छूट गई हों जो 'कन्नडकविचरिते' के रचयिता को भी उपलब्ध नहीं हुई हों। इसलिए यह तालिका पूर्ण नहीं कही जा सकती। उक्त 'कविचरिते' के भागों में कई ग्रन्थों का परिशिष्ट में केवल नाम ही दिया गया है, इससे उन ग्रन्थों का विशेष हाल मालूम नहीं हो सका। बल्कि, जिनग्रन्थों पर मुझे सन्देह हुआ उन ग्रन्थों का नाम भी मैंने इस तालिका में शामिल नहीं किया है। जिन प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थों के पाठ अशुद्ध मुद्रित हैं या पाठों में सदेह है उन पाठों को इन टीकाओं के मूल से मिलाने से वह दूर हो सकता है। साथ ही साथ यह भी सम्भव है कि, इन कन्नड टीकाकारों ने संस्कृत टीकाकारों की अपेक्षा मूल ग्रन्थों के अर्थ को विशदरूप से खोल दिया हो अतः समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह तालिका उपयोगी है।

के० बी० शास्त्री,

चामुंडराय का चारित्रसार

(ले०—श्रीयुत पं० मिलापचन्द्र कटारिया)

दिगंबर जैनसमाज में "चारित्रसार" नामक ग्रन्थ के रचयिता चामुण्डराय समझे जाते हैं। ग्रन्थ के परिसमाप्तिसूचक गद्य से भी यही ध्वनित होता है। किन्तु ग्रन्थ की हालत को देखते हुए चामुंडराय को उसका निर्माता नहीं कह सकते। अधिक से अधिक हम उन्हें संग्रहकर्ता कह सकते हैं। निर्माता और संग्रहकर्ता में भेद है। निर्माता वह होता है जो ग्रन्थ की शाब्दिकरचना का अपनी बुद्धि से प्रणयन करता है। किन्तु संग्रहकर्ता में यह बात नहीं है। वह दूसरों के रचित वाक्यों को संचित कर उसका कोई नया नाम धर देता है। 'चारित्रसार' की भी प्रायः यही हालत है। यद्यपि धर्मशास्त्र नये नहीं बना करते। परंपरा से जो वाङ्मय चला आता है उसी के अनुसार कथन उनमें रहता है। और प्रामाणिक भी वे तभी माने जाते हैं। लेकिन यह बात उनके अर्थ के संबंध में है। शब्द से तो वे भी नये बनते हैं। प्राचीन गूढ़ अर्थ को स्पष्ट करना और अपने शब्दों में कहना यही नवीन धर्मशास्त्रकारों का काम होता है। इस प्रकार की नवीन कृतियों में कहीं कहीं प्राचीन आगमों के वाक्य भी बिना उक्तं च लिखे ज्यों के त्यों उद्धृत कर लिये जाते हैं। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि के वाक्य राजवार्तिक में और राजवार्तिक के वाक्य श्लोकवार्तिक में पाये जाते हैं। किन्तु इनके कर्ताओं ने जितना कुछ दूसरों से लिया है उससे कई गुणा अपनी बुद्धि से बनाकर रक्खा है। इसलिये ऐसों को तो ग्रन्थकर्ता ही कहने चाहिये। पर जो ग्रन्थ का बहुभाग या समग्र ही कलेवर दूसरों के रचे वाक्यों से भरते हैं और अपनी बुद्धि कुछ भी खर्च नहीं करते, या करते भी हैं तो इतनी सी जैसे ऊंट के मुंह मे जीरा, वे उस ग्रन्थ के निर्माता नहीं कहला सकते। अपना आटा हो और दूसरे का नमक तो वह रोटी अपनी कही जायगी। पर दूसरे का आटा हो और अपना केवल नमक, तो वह रोटी दूसरे ही की कही जायगी। चारित्रसार के संबंध में भी यही बात घटित होती है। चामुंडराय की निज की रचना या तो उसमें कुछ भी नहीं है और हो भी तो नमक के बराबर—बाकी आटा सब दूसरों ही का उधार लिया हुआ है। यह बात चारित्रसार और तत्वार्थराजवार्तिक को तुलनात्मक ढंग से अध्ययन करनेवाले को स्पष्टतः दृग्गोचर हो सकती है। राजवार्तिक में से अनेक जगह का चारित्र-विषयक गद्य-भाग उठा

उठा कर चारित्रसार में ज्यों का त्यों या कुछ मामूली हेरफेर के साथ धर दिया गया है। चारित्रसार का करीब तीन तिहाई हिस्सा राजवार्तिक की रचना से ही भरा हुआ है। नीचे हम दोनों के वे स्थान बताते हैं जहा एक समान गद्य पाया जाता है—

चारित्रसार पृष्ठ २ पंक्ति चौथी (राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र २ वार्तिक ३) चारित्रसार पृष्ठ २—३ में सम्यक्त्व का अष्टांगस्वरूप (राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २४ वार्तिक १) चा० सा० पृ० ३ सम्यक्त्व के अतीचार (रा० वा० अ० ७ सू० २३) चा० सा० पृ० ४ शल्यविवेचन (रा० वा० अ० ७ सू० १८) चा० सा पृ० ५ पंचाणुव्रत के लक्षण (रा० वा० अ० ७ सूत्र २०) चा० सा० पृ० ५ से ७ तक अणुव्रतों के अतीचार (रा० वा० अ० ७ में देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृ० ८ से १५ तक शीलसप्तक के सिर्फ लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ में देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृष्ठ २२-२३ सल्लेखना का लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ सू० २२-३७) चा० सा० पृ० २४ से २६ तक सोलह कारण भावनाएं (रा० वा० अ० ६ सूत्र २४) चा० सा० पृष्ठ २७ से ३० तक दशधर्मों का विवेचन (रा० वा० अ० ९ सू० ६ में बिल्कुल यही है)। फर्क इतना सा है कि यहाँ पहिले अलग अलग धर्म का स्वरूप बताकर वार्तिक २८ में इन्हीं का विशेष कथन किया है। और चारित्रसार में इस विशेष कथन को प्रत्येक धर्म के वर्णन के साथ ले लिया है तथा यहीं पर चारित्रसार में सत्य के १० भेदों का जो वर्णन है वह (राजवार्तिक अ० १ सूत्र २०, वा० १२ व पर से लिया गया है) चा० सा० पृ० ३० समितियों का कथन (रा० वा० अ० ९ सू० ५) चा० सा० पृ० ३२ से ३७ तक अष्ट शुद्धियों का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सू० ६ वा० १६) चा० सा० पृ० ३७ ३८ चारित्रकथन (रा० वा० अ० ९ सू० १८) चा० सा० पृ० ३९ वाक् मन का कथन (रा० वा० अ० ५ सू० १९ वा० १५ तथा २०) चा० सा० पृ० ३९ सरंभ-समारंभ आरंभ कृत कारितानुमत के लक्षण (रा० वा० अ० ६ सू० ८) चा० सा० पृ० ४० से ४३ तक पंच पापों के लक्षण और उनकी भावनाएं (रा० वा० अ० ७ में इस विषय के सूत्र देखो। इसी अध्याय के १४ सूत्र में जो पंच पापों का विशेष कथन है उसे ही चारित्रसार में प्रत्येक पाप के वर्णन में छांट लिया है) चा० सा पृ० ४४ (रा० वा० अ० ७ सूत्र १ की व्याख्या) चा० सा० पृष्ठ ४५ से ४७ तक का कथन (रा० वा० अ० ६ सू० ४६-४७) चा० सा० पृ० ४८ से ५७ तक बाईस परीषहों का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र ८ से १७ तक) चा० सा० पृ० ५९ से ६३ तक तपोवर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र १९-२०-२२, किस दोष में कैसा प्रायश्चित्त लेना यह रा० वा० अ० ९ सूत्र २२ वा० १० में समूचा बता दिया है। इसे ही चारित्रसार में इन्हीं के प्रायश्चित्त के वर्णन में उद्धृत कर लिया है) चा० सा० पृ० ६४ की अन्तिम कुछ पंक्तियां (रा० वा० अ० ९ सू० २२ वा १० का अंतिम अंश)

चा० सा०पृ० ६५ से ६८ तक (रा० वा० अ० ६ सू० २३ से २६ तक) चा० सा० पृ० ७६ (रा० वा० अ० ६ सू० ४४) चा० सा० पृष्ठ ७८ से ८६ तक द्वादश भावनाओं का वर्णन (रा० वा०अ० ६ सूत्र ७ से लिया गया है। यहाँ चारित्रसार पृष्ठ ८० का "तत्र यावंतो लोकाकाशप्रदेशाः ......" से लेकर "व्यवहारकालेषु मुख्यः" तक का पाठ रा० वा० अ० ५ सूत्र २२ वा० २५-२६ से लिया है) चा० सा० पृष्ठ ६३ से १०१ तक ऋद्धियों का वर्णन* (रा० वा० अ० ३ सूत्र ३६) चा० सा० पृष्ठ १०२ से १०३ तक त्याग-आकिंचन्य ब्रह्मचर्य का स्वरूप (रा० वा० अ० ६ सूत्र ६ वा० २१-२२-२८, संभव है चारित्रसार में इस तरह के और भी उद्धरण हों। जितने हमारी नजरों से गुजरे वे यहां हमने लिखे हैं।

पाठक देखेंगे कि चारित्रसार में राजवार्तिक से कितना मसाला लिया गया है। चारित्रसार के कुल १०३ पृष्ठ हैं। जिनमें से करीब २५ पृष्ठ छोड़कर बाकी सारा ग्रन्थ राजवार्तिक से चर्चित है। एक तरह से इसे राजवार्तिक का चारित्र भाग कहना चाहिये।

यहां यह कह देना भी अनुचित न होगा कि मुद्रित राजवार्तिक में अशुद्धियों की भरमार है। यही क्या अन्य अनेक जैनग्रन्थों का प्रायः यही हाल है। खासकर सैद्धांतिक ग्रन्थों की छपाई में तो पूर्ण ध्यान इस बात का अवश्य रहना चाहिये कि कहीं कोई अशुद्धि न रहने पावे। किन्तु क्या कहा जाय, जैनग्रन्थ-प्रकाशकों का अजब हाल है। उनकी कार्यप्रणाली इस संबंध में बड़ी ही अव्यवस्थित है जो महान खेदजनक है।

चारित्रसार से राजवार्तिक की कई अशुद्धियाँ दूर की जा सकती हैं। चारित्रसार भी अशुद्धियों से खाली नहीं है। इसकी अशुद्धियाँ भी राजवार्तिक से दुरुस्त हो सकती हैं। क्योंकि दोनों में अशुद्धियाँ एक स्थानीय नहीं है। अस्तु,

कुछ लोग शायद यहाँ यह कहने का भी दुःसाहस करें कि "अकलंकदेव ने ही चारित्रसार से मसाला लेकर राजवार्तिक में रक्खा हो" ऐसा कहनेवालों को यह समझ रखना चाहिये कि अकलंकदेव चामुंडराय से लगभग दो सौ वर्ष पहिले हुये हैं। तब उन्होंने चामुंडराय की कृति में से कुछ लिया हो;यह कैसे संभव हो सकता है? इसके अलावा जिनसेन ने आदिपुराण में अकलंकदेव का स्मरण किया है। और चामुंडराय ने अपने चारित्रसार पृष्ठ १५ में "तथा चोक्तं महापुराणे" कहकर आदिपुराण का एक पद्य उद्धृत किया है। इससे भी चामुंडराय अकलंकदेव के उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। बल्कि चामुंड-

* छापे की भूल से यहां दो एक स्थान में पंक्तियां उलट पलट हो गयी हैं, जिससे वर्णन का सिलसिला टूट गया है। खेद है कि इस भूल की सूचना ग्रन्थ भर में कहीं नहीं दी है। ऐसी ही गड़बड़ पृष्ठ २२ में भी हुई है।

राय ने ही खुद चारित्रसार के अन्त में एक पद्य देकर इस विषय को खूब स्पष्ट कर दिया है। चामुंडराय लिखते हैं कि "तत्वार्थराजवार्तिक, राद्धांतसूत्र, महापुराण और आचार ग्रन्थों में जो विस्तार से कथन है उसी को संक्षेप में इस चारित्रसार में मैंने कहा है।" वह पद्य यह है—

तत्वार्थराद्धांतमहापुराणेष्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम्।
आख्यात्समासादनुयोगवेदी चारित्रसारं रणरंगसिंह ॥

इस पद्य में प्रयुक्त "तत्वार्थ" शब्द का अर्थ "तत्वार्थराजवार्तिक" करना चाहिये। तत्वार्थ के साथ राद्धांत नहीं लगाना चाहिये। राद्धांत नामका अलग ग्रन्थ है। उसका उक्तं च चारित्रसार पृष्ठ ७१ में "आदाहीण पदाहीण " आदि प्राकृत गद्य दिया है। आचारशास्त्र यहाँ मूलाचारादि समझना चाहिये। चारित्रसार में मूलाचार की भी गाथायें उक्तं च रूपसे पाइ जाती हैं।

इससे यह साफ सिद्ध हो जाता है कि चामुंडराय न केवल अकलंकदेव के बाद के ही किन्तु महापुराणकार जिनसेन और गुणभद्र के भी बाद के हैं। यही समय नेमिचन्द्राचार्य का है। क्योंकि चामुंडराय और नेमिचन्द्र की समकालीनता निर्विवाद है। अतः इतिहासज्ञों ने जो दूसरे प्रमाणों से उनका समय ११वीं शताब्दी प्रकट किया है वह बिल्कुल ठीक जान पड़ता है। और अब तो उसमें कोइ संदेह ही नहीं है।

इस लेख में जिस चारित्रसार के पृष्ठ का उल्लेख किया है वह 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' द्वारा प्रकाशित समझना चाहिये।

सं० नोट—कटारिया जी का यह लेख विचारणीय है। इस "चारित्रसार" के संग्रह ग्रंथ सिद्ध होने पर भी मैं समझता हूं कि पाठकों की दृष्टि में विद्वद्वरेण्य चामुण्डराय जी का पाण्डित्य घट नहीं सकता। क्योंकि इनके द्वारा रचित आजतक के उपलब्ध कन्नडगद्य ग्रंथों में सर्वप्रथम "आदिपुराण" ही इनकी विद्वत्ता का ज्वलन्त दृष्टान्त है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद सिद्धान्त है एवं मित्र कटारिया जी भी सर्वथा सहमत होंगे कि हमारे यह चामुण्डराय जी संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। इस चारित्रसार में जिस प्रकार इन्होंने राजवार्तिकादि ग्रंथों से प्रचुर सहायता लेकर उसका उल्लेख नहीं किया है उसी प्रकार अपने कन्नड आदिपुराण में भी बीच बीच में प्रस्तुत विषय को प्रमाणित करने के लिये चामुण्डराय ने भिन्न भिन्न ग्रंथों के कई संस्कृत प्राकृत पद्यों को उद्धृत किया है। पर यहाँ भी उनका उल्लेख नहीं करने से कुछ विद्वानों ने उन पद्यों को इन्हीं की रचना समझ रक्खा था। इसी भ्रम को दूर करने के लिये मैंने "विवेकाभ्युदय" (मंगैसूर) के एक लेख में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि ये पद्य अमुक अमुक ग्रंथ के हैं।

के० भी० शास्त्री

भास्कर की प्रथम किरण में प्रकाशित

श्रीमहावीर कुमार के तिरंगे चित्र का परिचय

श्रीमहावीरावतरण—२५०० वर्ष पहले भारतवर्ष धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचार से कांप उठा था। स्वार्थी और सत्ताधारी लोग समाज पर मनमाने अत्याचार करने लगे थे। निरर्थक बलिदान और अर्थशून्य अश्वमेध, गोमेध, अजमेध और नरमेध तक धर्म के नामपर खुले आम होने लग गये थे। सर्वत्र त्राहि! त्राहि!! की करुणध्वनि से धरा प्रतिध्वनित हो रही थी। प्राणिमात्र अधीर हो उठे थे। और चातक की भाँति किसी आर्त्तित्राता की आशा में सभी लोग टकटकी लगाये बैठे थे। ठीक उसी समय भगवान महावीर का स्वर्ग से अवतरण हुआ। संसार में शान्ति का साम्राज्य हो गया। बलि-वेदियाँ और यज्ञ-कुण्ड शान्त हुए। अत्याचार एवं अनाचार विलीन हो गये। पावन प्रेम का प्रवाह बह चला। रक्त-रञ्जित वसुन्धरा पुनः पुण्यभूमि बनी। "अहिंसा परमोधर्मः" का बिगुल पुनः बज गया।

आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष में रात्रि के पिछले प्रहर का समय है। चारो ओर निस्तब्ध शान्ति का ही दौर-दौरा है। नीचे आषाढ़ के बादल हैं। प्राणतेन्द्र के रूप में भगवान महावीर पुष्पोत्तर विमान से चय कर रहे हैं। छत्राकार श्वेत पुष्पपुञ्ज पुष्पक विमान का परिचय दे रहे हैं। मुकुट में बैल का चिह्न प्राणतेन्द्र को प्रकट करता है। १४वीं सीढ़ी से उतरना प्राणत नामक १४वें कल्प (स्वर्ग) को सूचित करता है। सन्तप्त संसार को दाहिने हाथ से अभय प्रदान करते हुए भगवान उतर रहे हैं।

दाहिनी ओर मातंग यक्ष और बायीं ओर सिद्धायिनी यक्षिणी भगवान वर्द्धमान को सूचित करते हैं। यक्ष का वर्ण हरित और वाहन हाथी है। ऊपर दोनों हाथों में धर्म-चक्र धारण किये हुए हैं। वरद और अभयमुद्रा है। इसी प्रकार यक्षिणी का वर्ण सुवर्ण और वाहन हंस है। दाहिने हाथ में पुस्तक और वाम हस्त वरदरूप में है। नीचे बलिवेदी और यज्ञकुण्ड है।

छोटेलाल जैन

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

की

संक्षिप्त रिपोर्ट (वीर सं० २४६०—६१)

१—वीर सं० २४६० ज्येष्ठ सुदी ५ से वी० सं० २४६१ ज्येष्ठ सुदी ४ तक ३६०५ महाशयों ने भवन से लाभ उठाया है। विशिष्ट दर्शकों में से श्री धनञ्जय प्रसाद राय बी० ए०, सहदेव सहाय सिन्हा, बी० ए०, बी० एल० (डालटेनगंज), चन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायकाव्यतीर्थ, एम० ए०, एल० एल० बी० (मुजफ्फरनगर), प्रो० डब्ल्यू० नौरमैन ब्राउन (पेंसिलभेनिया युनिवर्सिटी, अमेरिका), एम० आर० रत्नाईकर बी० ए०, असिस्टेन्ट एडिटर बाम्बे क्रानिकल (बम्बई), गोरीलाल शास्त्री (देहली) रामशरण उपाध्याय (हेडमास्टर ट्रेनिङ्ग स्कूल, पटना) आदि महाशयों ने अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान कर भवन का प्रबन्ध, ग्रन्थ संग्रह आदि की प्रशंसा की है।

२—इस वर्ष भवन में विविध भाषाओं की मुद्रित पुस्तकें (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि) ६४, अंग्रेज़ी की ४००; कुल ४६४ संगृहीत हुई हैं।

इस साल के पुस्तक दातारों में नागरी प्रचारिणी सभा आरा, राजकीय पुस्तकालय मैसूर श्रीमान् चम्पतराय जी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

३—इस वर्ष संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के निम्नलिखित ग्रन्थ लिखवा कर संगृहीत किये गये —(१) व्रततिथि निर्णय (सिंहनन्दी), (२) नेमिपुराण (ब्र० नेमिदत्त), (३) आत्मानुशासनम् (संग्रह), (४) आत्मतत्व परीक्षण (राजा देवराज), (५) प्रमाण प्रमेयकलिका (नरेन्द्र सेन), (६) जम्बूस्वामी चरित्र (राजमल्ल), (७) सुखबोध (योगदेव), (८) मुनिवंशाभ्युदय (विद्यानन्द), (९) जैनेन्द्र पुराण का अवशिष्ट भाग। इस कार्य में राजकीय पुस्तकालय मैसूर, बाबू पन्नालाल अग्रवाल देहली से विशेष सहायता मिली है अतः ये धन्यवाद के पात्र हैं।

४—इस वर्ष ३८० ग्रन्थ भवन से बाहर दिये गये। इनसे स्थानीय महाशयों के अतिरिक्त उदयपुर, अजमेर, मैसूर, मद्रास, उज्जैन, पटना, कलकत्ता, बम्बई आदि भिन्न भिन्न स्थानों की संस्थाओं और विद्वानों ने भी लाभ उठाया है।

५—इस साल सरस्वती भवन बम्बई तथा रायचन्द्र आश्रम, अगास के लिये यहाँ से 'जयधवल' लिखवाया जा रहा है।

६—इस वर्ष प्रकाशन विभाग में कोई पृथक् ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। प्रस्तुत 'भास्कर' में ही तीन ग्रन्थ धारावाहिक रूप से निकल रहे हैं जो आप पाठकों के सामने मौजूद हैं।

७—इस वर्ष विशाल भारत, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, जैनमित्र, जैनगजट, (हिन्दी) वीर जैनदर्शन, खण्डेलवाल जैन हितेच्छु, जैन महिलादर्श, दिगम्बर जैन, जैनबोधक, Jain Gazette, Indian Culture Indian Historical quarterly, Journal of B & O Research Society Indian Library Journal, सूर्योदय, (संस्कृत), उद्यानपत्रिका (संस्कृत), कर्नाटक साहित्य-परिषत् पत्रिका (कन्नड), प्रबुद्धकर्णाटक (कन्नड) आदि पत्र भवन में आये हैं। इनमें से अधिकांश पत्र भेंटरूप में ही प्राप्त हुए हैं। अतः उनके संचालक एवं सम्पादक विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

मंत्री—जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

ग्रंथमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—के० भुजबली शास्त्री)

(गतांक से आगे)

अन्तिम भाग—

श्रीमूलसंघे मुनिशालतुंगे श्रीकौन्दकुन्दे वरसूरिवृन्दे ।
यशे च देशीयगणे गुणाढ्ये महामतुच्छे घनपुस्तगच्छे ॥४११॥
आसीद्वसीमापनसोगेपूर्वाऽवल्यम्बुराशिर्गुणरत्नराशिः ।
तस्मादमृतचन्द्र इव यतीन्द्रः श्रीदेवकीर्तिर्जितमारमूर्तिः ॥४१२॥
सद्गोत्रजस्तदनुवृत्तरथाधिरूढः सच्छीलराजिरखिलात्मसुखप्रवृत्तिः ।
दोषाकराक्रमणचाल्कप्रचारो हंसोऽप्यसौ ललितकीर्तिरभूद्धंसः ॥४१३॥
श्रीललितकीर्तियतिमहदुदयगिरेरभवदागममयूखः ।
कल्याणकीर्तिमुनिरनिरखिलधरातलबोधनसमर्थः ॥४१४॥
केचित्काव्यरथाप्रथाकुशालिनः कश्चिच्च सिद्धान्तिनः ।
केचिद् व्याकरणप्रयोगनिपुणाः केचिन्नरास्तार्किकाः ॥
केचित्तीव्रतपःप्रभावकलिताः कश्चित्क्वचिन्त्यश्रमाः ।
केचिद्विद्याचक्रचातुरीपरिचितास्त तस्य शिष्या बभुः ॥४१५॥
त्रिभुवनकलशोऽपि नेमिनाथः कलशमगादथ भैरवव्रतो जिनेन्द्रः ।
समुदयभुजि पाण्ड्यदेवनाम्नि क्षमति चकार कलशितिक्षितीशे ॥४१६॥
अन्यदा ललितकीर्तिमुनीन्द्रः संयुतामलतपोधनयुक्तः ।
तत्क्षितीशकृतचैत्यनिवासः रक्षिताखिलगुणः प्रययौ सः ॥४१७॥
एकस्मिन्दिवसे मुनिनाथो नाकफला जिनपतिपदपूजाम् ।
श्रोतृजनेभ्यो निशदीकुर्वन् मातृवचो निचयात्स च वर्ष्या ॥४१८॥
अनुप कथावतार महद्विदमखिल सत्पुराणप्रसिद्धम् ।
काव्य पूजाप्रभाव तदलघु गुरु तत् कायमव्यक्षगम्यम् ।
तत्र संगृह्य विद्वत्परिषदुपरिषद्भूतवागर्थगुम्फम्
सिद्धं निर्धूतदोषं श्रुतजननितरस्तारविज्ञानसौम्यम् ॥४१९॥
एते स मुनिनृपमाः कथितभाजो वादीन्द्राः कति कति च प्रवागमिनोऽमी ।
अध्यात्मप्रसराः   शिष्या एव समभूवन् ॥४२०॥

अयञ्च कल्याणयशा मुनीश्वरः सुकाव्यतर्कागमशब्दवैभवः।
पुराणपारीण इह प्रसादनः समर्थ एवेति विचिन्त्य स यती ॥४२१॥
मामाहूय व्रतिकुलतिलको ·· ·मिव विशदी कुर्वन्।
दन्तत्विड्भिर्मयि मुनिरवदन्मस्तकाविस्तृतकर्णाविजः ॥४२२॥
एकान्तोन्नतवादिपर्वतशिरो वज्रायते वागियम्
साहित्यार्णवपूर्णचन्द्रति मुने कल्याणकीर्त्तिस्तव।
मन्दारद्रुमगुच्छविच्युतसुधासंभृतमन्दाकिनी
स्वर्णाम्भोरुहवासनानुरमानेन्द्रांशुसंवादिनी ॥४२३॥
अंगमंगलनिवासभारतीं संगतार्थरचनां च तावकीम्।
मंगलां कुरु जिनेज्यया लसत्तुंगवैभवयुतां गुणस्तुतेः ॥४२४॥
इति मुनिपतिवाग्भिः प्रेरितेनामलाभि लघुतरमतिवाचा शक्तिसाम्राज्यभाजा।
अपि च गुरुसमीपे यन्मयारंभि पूर्वम् ननु किमकरणीयं सत्पराधीनवृत्तेः ॥४२५॥
चारित्रवाराशिसुधाकरेण कल्याणकीर्त्ति (यतिना) मुनिनाऽभ्यधायि।
जैनेन्द्रयज्ञस्य फलोदयाख्यं काव्यं जयत्वाक्षितिचन्द्रतारम् ॥४२६॥
द्विसहस्रमिदं प्रोक्तं शास्त्रं ग्रन्थप्रमाणतः।
पञ्चाशदुत्तरैः सप्तशतश्लोकैश्च संगतम् ॥४२७॥
पञ्चाशत्त्रिशतीयुक्तसहस्रशकवत्सरे।
प्लवंगे श्रुतपञ्चम्यां ज्येष्ठे मासि प्रतिष्ठितम् ॥४२८॥

इत्यार्षे श्रीमत्कल्याणकीर्त्तिमुनीन्द्रविरचिते जिनयज्ञफलोदये विप्रभट्टहेमप्रभाविकृत जिनयज्ञाष्टविधानाख्यवर्णनं नाम नवमो लम्बः समाप्तः।

× × × ×

इसके कर्त्ता मुनि कल्याणकीर्त्ति कार्कल के मठाधीश ललितकीर्त्तिजी के शिष्य थे। इनका ग्रन्थनिर्माण-समय शालिवाहन शक १३५० है तथा यह पाण्ड्य राजा के शासन-समय में विद्यमान थे। इस ग्रन्थ के रचयिता आदि पर चौबीसवें वर्ष के दिगम्बर जैन मासिक पत्र के विशेषाङ्क (१–२) में मैंने कुछ विस्तृत रूप से ऐतिहासिक प्रकाश डाला है।

कवि कल्याणकीर्तिजी के गुरु ललितकीर्तिजी भैरवराजवंश के क्रमागत राजगुरु हैं। आज भी कार्कल मठ की गद्दी पर बैठनेवाले भट्टारकों का वही परम्परागत ललितकीर्ति नाम चला आता है। इस "जिनयज्ञफलोदय" के "पञ्चाशत्त्रिशतीयुक्तसहस्रशकवत्सरे। प्लवंगे श्रुतपञ्चम्यां ज्येष्ठे मासि प्रतिष्ठितम् ॥" इस श्लोक से इनका समय शक सम्वत्

१३५० सिद्ध होता है। मुनि महाराजजी ने उसी ग्रंथ के निम्नांकित श्लोक में भैरवराज तथा उनके पुत्र पाण्ड्यदेव का इस प्रकार उल्लेख किया है —

"त्रिभुवनकलशोऽपि नेमिनाथ कलशमगादथ भैरवेन्द्रतो जिनेन्द्र। तदुदयभुजि पाण्ड्यदेवनाम्नि ह्युदति चकार फलस्थिति क्षितीशे।" इन दोनों में से भैरवरस ओडेय का समय शक सम्वत् १३४० (ई० सन् १४१८) एवं पाण्ड्यराज का समय शक स० १३५३ (ई० सन् १४३१—३२) माना जाता है।

भैरवराज का काल कवि के द्वारा उल्लिखित श्लोक में जिन नेमिनाथ तीर्थङ्कर का उल्लेख किया गया है उन्हीं के मन्दिर के दरवाजे पर लगे हुए शिलालेख से लिया हुआ है। पाण्ड्यराज वही वीरपाण्ड्य भैरवरस ओडेय हैं जिन्होंने कारकल में बाहुबली स्वामी की विशाल एवं मनोज्ञ मूर्ति को स्थापित कर अपने नाम को अमर कर दिया है। बाहुबली स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा शक सम्वत् १३५३ (ई० सन् १४३१-३२) में हुई थी। यह बात मूर्ति की बगल में लगे हुए संस्कृत एवं कन्नड शिलालेखों से ज्ञात होती है। इस शुभावसर पर प्रसिद्ध विजयनगराधीश द्वितीय देवराय भी आमन्त्रित किये गये थे। यह प्रतिष्ठा महोत्सव बड़े समारोह से मनाया गया था। प्रशस्तिगत इस "देवचन्द्रमुनीन्द्राद्यैः दयापाल प्रसन्नधी।" श्लोकांश से यह भी निश्चित होता है कि ललितकीर्त्तिजी को देवचन्द्र नाम के एक दूसरे शिष्य भी थे। कवि कल्याणकीर्त्तिजी के गुरु ललितकीर्त्तिजी मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण, पुस्तकगच्छ के पट्टक्रमागत भट्टारक थे। इन भट्टारकों का मूलस्थान मैसूर राज्यान्तर्गत "हनसोगे" था। प्रशस्तिगत ४१९ वें श्लोक से ज्ञात होता है कि ललितकीर्त्तिजी के गुरु देवकीर्त्तिजी थे। निश्चित होता है कि यह ललितकीर्त्तिजी अन्यान्य विषयों के अच्छे मर्मज्ञ थे। क्योंकि कल्याणकीर्त्तिजी ने इस प्रशस्ति में दिखलाया है कि काव्य, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्तादि विषयों के ज्ञाता कई शिष्य और भी ललितकीर्त्तिजी के मौजूद थे।

कल्याणकीर्त्तिजी ने ग्रन्थ रचना का उद्देश ग्रन्थ के अन्त में यों बतलाया है कि एक बार मेरे पूज्य गुरुदेव ललितकीर्त्तिजी ने बहुतर श्रोताओं को जिनपूजा का फलोपदेश देने के पश्चात् यह कहा कि मैंने यह पूजाफल संक्षेप में वर्णित किया है—पुराणों में इसका विस्तृत विवरण है। साथ ही साथ मुझे योग्य समझ कर उन्होंने एतद्विषयक एक ग्रन्थ प्रणयन करने का आदेश भी दिया। उन्हीं की आज्ञा का पालन फलस्वरूप यह जिनयज्ञ फलोदय है।

निम्नलिखित श्लोक के आधार पर इस ग्रन्थ की श्लोक-संख्या दो हजार सात सौ पचास (२७५०) सिद्ध होती है —

"द्विसहस्रमिदं प्रोक्तं शास्त्रं ग्रन्थप्रमाणतः।
पञ्चाशदुत्तरैः सप्तशतश्लोकैश्च संगतम्॥"

"कर्णाटक कविचरिते" के द्वितीय भाग से ज्ञात होता है, हमारे यह कल्याणकीर्तिजी निम्नलिखित ग्रन्थों के भी रचयिता हैं :—

(१) ज्ञानचन्द्राभ्युदय (२) कामनकथे (३) अनुप्रेक्षे (४) जिनस्तुति (५) तत्वभेदाष्टक (६) सिद्धराशि। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय क० कविचरिते के मान्य सम्पादक ने अपने ग्रन्थ में दे दिया है। इस कवि का लिखा हुआ संस्कृत भाषाबद्ध एक यशोधरचरित एवं कन्नड में फणिकुमार-चरित भी है। यशोधरचरित की श्लोक सं० १८५० और रचना-समय शक सं० १३७५ है। इस ग्रन्थ का आधार गन्धर्व कवि का प्राकृतग्रन्थ है और इसकी रचना पाण्ड्य नगर (कार्कल) के गोम्मटेश्वर चैत्यालय में हुई थी। फणिकुमार-चरित का प्रणयनकाल शक सं० १३६४ है। ताड़पत्राङ्कित ये दोनों ग्रन्थ भवन में मौजूद हैं। भवन के संगृहीत ताड़पत्राङ्कित "चिन्मय-चिन्तामणि" नामक कन्नडपद्यात्मक लघुकलेवर ग्रन्थ भी संभवत इन्हीं कल्याणकीर्त्ति का हो।

---

(८) ग्रन्थ नं० $\frac{२०८}{ख}$

षट्दर्शन-प्रमाण-प्रमेयानुप्रवेश

कर्त्ता—शुभचन्द्र

विषय—न्याय

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौडाई ४।। इञ्च पत्रसंख्या २४

मङ्गलाचरण

साद्यनन्तं समाख्यातं व्यक्तानन्तचतुष्टयम्।
त्रैलोक्ये यस्य साम्राज्यं तस्मै तीर्थकृते नमः॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ १० पंक्ति ३य)

अपरं च द्रव्यतत्त्वादिनित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याविशेषाः अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां यः सम्बन्धः इहेदं प्रत्ययहेतुः स समवाय.। प्रत्यक्षलैङ्गिके द्वे एव प्रमाणमिति वैशेषिक-

दर्शनसमास । सांख्यैस्तु यत्सनिजबुद्ध्या परिकल्पितोऽयं निर्वृ तिनगर्यां पन्था । यदुत पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानाधिश्रेयसाधिगम । तत्र त्रयो गुणा । सत्व रजस्तमश्च । तत्र प्रसादलाघवप्रसवानभिष्वंगद्वेषप्रीतय कार्यं सत्वस्य । शोकतापस्वेदस्तम्भोद्वेगप्रद्वेषा कार्यं रजस । मरणसाधनबीभत्सदैन्यगौरवाणि तमस कार्यम् । तत सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति सैव प्रधानमित्युच्यते ।

प्रशस्ति —

जयति शुभचन्द्रदेव कण्डूगणपुण्डरीकवनमार्त्तण्ड ।
चण्डविवण्डदूरो राद्धान्तपयोधिपारगो बुधविनुत ॥

× × ×

इस लघुकलेवर ग्रन्थ में विद्वद्वर शुभचन्द्रदेव ने षड्दर्शनों के प्रमाण और प्रमेय का सक्षिप्त परिचय दिया है। शुभचन्द्र नाम के कई विद्वान् हुए हैं। "दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" के अनुसार निम्न लिखित पाँच (१) शुभचन्द्र के नाम उपलब्ध होते हैं —

(१) शुभचन्द्राचार्य (ज्ञानार्णव के कर्त्ता—जीवनकाल ११वीं शताब्दी*) (२) शुभचन्द्र भट्टारक (जीवनकाल वि० सं० १४५०) (३) शुभचन्द्र (प्रसिद्ध पाण्डव पुराणादि अन्यान्य कई ग्रन्थों के कर्त्ता—जीवन काल वि० सं० १६८०) (४) शुभचन्द्राचार्य (संशयि वदनविदारण के कर्त्ता—जीवन काल ×) (५) शुभचन्द्र (करकण्डु महाराजचरित्र आदि के कर्त्ता जीवन काल वि० सं० १६११) पाण्डवपुराणादि के कर्त्ता भट्टारक शुभचन्द्र का जीवनकाल प्रेमी जी के उक्त ग्रन्थ में वि० सं० १६८० लिखा हुआ है। किन्तु यह समय मुझे भ्रमपूर्ण मालूम होता है। क्योंकि पाण्डवपुराण की निम्नाङ्कित प्रशस्ति से यह बात स्पष्ट ज्ञात हो जाती है कि उनका समय वि० सं० १६०८ है —

"श्रीमद्विक्रमभूपतेर्द्विकहतस्पष्टे सत्ये शते (?)
रम्याष्टाधिकवत्सरे सुखकरे भाद्रे द्वितीयातिथौ ।
श्रीमद्वाग्वरनीवृतीदमतुले श्रीशाकवाटे पुरे
श्रीमच्छ्रीपुरुषाम्नि च विरचितं स्थेयात्पुराणं चिरम् ॥

इससे यह भी विदित होता है कि करकण्डु महाराजचरित्र के रचयिता शुभचन्द्र पाण्डवपुराण के कर्त्ता से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि जीवनकाल में केवल तीन वर्ष की दूरी

*रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला में प्रकाशित ज्ञानार्णव के प्रारंभ में प्रेमी जी के द्वारा लिखित "श्रीशुभचन्द्राचार्य का समय निर्णय" के आधार पर ।

अधिक नहीं कही जा सकती है एवं करकण्डु महाराज का चरित्र भी दोनों शुभचन्द्र की रचना में आगया है। फिर भी यह अनुमानपरक है। प्रशस्ति एवं रचनाशैली आदि से इसका प्रकृत निर्णय किया जा सकता है। पाण्डवपुराण की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि "संशयिवदनविदारण" के कर्त्ता पाण्डवपुराण के कर्त्ता शुभचन्द्र से भिन्न नहीं हैं। पाण्डवपुराण और संशयिवदनविदारण के कर्त्ता शुभचन्द्र को भिन्न भिन्न मानने की धारणा में मुख्य कारण यह हो गया है कि संशयिवदनविदारण ग्रन्थ का प्रतिलिपिकाल संग्रह-कर्त्ता को वि० सं० १५८८ मिला है। मेरे अनुमान से यह काल भ्रमपूर्ण सा ज्ञात होता है।

इसी प्रकार श्रवणवेल्गोल के शिलालेखों में भी मुझे शुभचन्द्र-चतुष्टयी के दर्शन होते हैं। एक तो देवकीर्त्ति के शिष्य, दूसरे गण्डविमुक्त मलधारिदेव के शिष्य, तीसरे माघनन्दी के शिष्य और चौथे रामचन्द्र के शिष्य।

पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में प्रतिपादित "षड्वाद" ही संभवतः यह प्रस्तुत ग्रन्थ "षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेश" हो। किन्तु साथ ही साथ मन में यह भी शङ्का स्थान कर जाती है कि पाण्डवपुराण, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अपने अन्यान्य ग्रन्थों की प्रशस्तियों में अपनी विस्तृत गुरुपरम्परा आदि का परिचय जिस प्रकार इन्होंने दिया है इसमें भी दे दिये होते। अस्तु, जो हो इस ग्रन्थ की रचनाशैली एवं भाषा-सरणी प्रशस्त है। अन्तिम श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि आप अपूर्व वाद-पटु, तपस्वी एवं सिद्धान्त शास्त्र के प्रखर विद्वान् थे।

बल्कि उल्लिखित श्रवणवेल्गोल के शक सम्वत् १०४५ के ४३ (११७) वें शिलालेख में वर्णित २ य शुभचन्द्र देव की ओर मेरा ध्यान कुछ आकृष्ट सा हो जाता है। क्योंकि उस शिलालेख में वर्णित शुभचन्द्र के व्यक्तित्व और पाण्डित्यद्योतक विशेषणों में इस ग्रन्थ का अन्तिम एकमात्र श्लोक मिल सा जाता है। अतः इतिहास-प्रेमी विद्वान् इस ओर विशेष ध्यान देंगे।

---

(६) ग्रन्थ न० $\frac{२१२}{घ}$

अलंकार-संग्रह

कर्त्ता—अमृतनन्दयोगी

विषय—अलङ्कार
भाषा—संस्कृत

लम्बाई—८। इञ्च   चौड़ाई—४।। इञ्च   पत्रसंख्या—१०४

मङ्गलाचरण

जगद्वैचित्र्यजननजागरूकपदद्वयम् ।
अनियोगरसामिश्रमाद्य मिथुनमाश्रये ॥१॥
तदुल्लासरसाकारां तत्त्वकैरवकौमुदीम् ।
नमामि शारदां देवीं नामरूपाधिदेवताम् ॥२॥

ग्रन्थावतरण—

उद्दामफल्दा गुर्वीमुदधिमेखलाम् (?) ।
अस्तिभूमिपति शास्ति जितपादा जगद्गुरु ॥३॥
तस्य पुत्रः यागमहासमुद्रबिम्बदाङ्कित ।
सोमसूर्यकुलोत्तंसो महितो मन्वभूपति ॥४॥
स कदाचित्सभामध्ये काव्यालापकथान्तरे ।
अपृच्छदमृतानन्दमादरेण कवीश्वरम् ॥५॥
वर्णशुद्धिं काव्यवृत्तिं रसान् भावाननन्तरम् ।
नेतृभेदानलङ्कारान् दोषानपि च तद्गुणान् ॥६॥
नाट्यधर्मान् रूपकोपरूपकाणां भिदालम्सि(?) ।
चाटुप्रबन्धभेदांश्च विकीर्णास्तत्र तत्र तु ॥७॥
सञ्चित्यैकत्र कथय सौकर्याय सतामिति ।
मया तत्प्रार्थितेनेत्थममृतानन्दयोगिना ॥८॥
तन्नान्तरोपवितानर्थान् वापथान्यैरः क्वचित् क्वचित् ।
सञ्चित्य क्रियते सम्यक् सरालङ्कारसंग्रहः ॥९॥

× × ×

मध्यभाग—(पृष्ठ पूर्व ५२ पंक्ति ४)—

लीलेति पूर्वकथितं पुनरपि लीलेति कथितमेतस्मिन्।
यस्मिन्नदः प्रकृष्टं पतत्प्रकर्षं तदामनन्ति यथा ॥

कः कः कुत्र न घर्घरायितघुरी घोरो घुरेत्सूकरः
कः क. कं कमलाकरं विकमलं कर्त्तुं करी नोद्यतः।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः।
सिंहे स्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

इत्यमृतानन्दयोगिविरचिते अलङ्कारसंग्रहे वस्तुनिर्णयो नामाष्टमोऽध्यायः।

"कन्नड़ कविचरिते" भाग २य पृष्ठ ३३ में एक अमृतनन्दी कवि के बारे में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है:—

"इन्होंने अकारादि वैद्यनिघण्टु लिखा है। यह जैन कवि हैं। इनका लगभग १३०० शताब्दी में होना संभव ज्ञात होता है।"

"रसरत्नाकर" नामक कन्नड़ अलङ्कार ग्रन्थ की भूमिका में स्वर्गीय ए० वेङ्कटराव बी० ए० एल० टी० तथा पण्डित एच० शेष पेय्यङ्गार ने लिखा हैं कि—"अमृतनन्दी का अलङ्कारसंग्रह नाम का एक ग्रन्थ है। उसमें (१) वर्णगण-विचार (२) शब्दार्थ-निर्णय (३) रसनिर्णय (४) नेतृभेदविचार (५) अलङ्कारनिर्णय (६) दोषगुणालङ्कार-निर्णय (७) सन्ध्यङ्ग-निरूपण (८) वृत्तिनिरूपण (९) काव्यालङ्कारनिरूपण नामक ये नव परिच्छेद हैं। यह भी इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिक ग्रन्थों को देखकर 'मन्व' भूपति की अनुमति से यह ग्रन्थ संचित करके मैंने लिखा है यों ग्रन्थारंभ में रचयिता ने स्वयं कहा है। यह मन्व राजा सोमसूर्यकुलोत्तंस, समुद्रबिरुदाङ्कित, यमगंडरगंड, कोरवंकभीम, समरनिरङ्कुश एवं नूतसाहसाङ्क आदि विरुदावली से अलंकृत थे। इस बात को कवि ने ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेदान्त-पद्य में कहा है। इस मन्वभूपति के पिता शिवपादाब्जषट्पद भक्ति भूमिप थे।*

तिरुचनापल्ली के जम्बुकेश्वर देवस्थान में प्राप्त प्रतापरुद्रदेव के एक शासन से मन्वगण्ड गोपाल नामक एक प्रताप रुद्र का सामन्त था ऐसा विदित है, इसलिये अनुमान किया जाता है कि यही अमृतनन्दी के आश्रयदाता होंगे।

*किन्तु भवन की इस प्रति में "जिनपादाब्जषट्पद" यही पाठ है।

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(सपादक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन)

(८) मैनपुरी (मुहल्लागज) दि० जैन पचायती मदिर के यन्त्रों की प्रशस्तिया ।

१ सम्यक्चारित्रयंत्र—"स० १४७४ वर्षे मावसुदी १३ गुरौ श्री मूलसघे गोलाराडान्वये सा० भोजू पुत्र मलह सिंह तत्पुत्र सेनराजजामू थामू सविमल सुरपाल सा० सेवराज पुत्र करन् असिवर्स सिवपालोनेदं यंत्रं प्रतिष्ठाप्य नित्य प्रणमन्ति ।

२ सिद्धयंत्र—"स० १५३४ श्री मूलसघ भ० जिनचन्द्राम्नाय भ० श्रीभुवनकीर्तिस्तत्पट्टे श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् लमेचू सा० उजागर प्रणमति ।"

३ अनतयत्र—"स० १५ श्री मूलसघे सेनगणे भ० श्रीगुणभद्रस्तत्भट्टारक श्रीलक्ष्मीसेन उपदेशात् कसिम वास्तव्य धाकी जातीये संघई हेमा सा भार्या अम्बातयो पुत्र संघई सुह ना तद्भार्या केशसा श्री अनत यन्त्र प्रतिष्टाप्यं नित्यं प्रणमति शुभ भवतु ।

४ सिद्धयंत्र—"स० १६७१ वर्षे फाल्गुण वदी ३ शुभदिने श्री मूलसघे भ० श्री धर्मकीर्ति भ० शीलभूषण भ० महीचन्द्र तत्सिष्य मडलाचाय श्री विशालकीर्ति तदाम्नाये खंडेलवाल सिंधिया गोत्र सा० हिमत भा उधा तत्पुत्रे पदार्थक प्रत्रमादक ? सम्मेदगिरौ यत्रास्य प्रतिष्ठाय प्रतिष्ठित ।"

५ सम्यक्चारित्र—"सवत् १६८६ ज्येष्ट वदि ११ शुक्रे श्रीमूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुदकुन्दाम्नाये भ० श्रीधर्मकीर्ति देवा भ० श्रीशीलभूषण देवा भ० श्री ज्ञानभूषण देवा भ० श्रीजगद्भूषण देवा तदाम्नाये गोलारान्वये खरौआ जातीये कुल्हा गोत्रे पहिनाथार्य प० भोजराज भा प्यारो तयो पुत्र ३ प० श्रीमकरद भा० दृशन दे प० दयालुदास भा० विमाती प० श्रीश्रीपाल भा० मथरा—प० मकरंद पुत्र ६ प० चिंतामणि भा० सुन्दरि प० मनीराम भा० सुरितान दे पुत्र प० हेमराज प० लला प० चन्द्रसेन भा० हिमोती प० चूडामणि प० परताप भा० परिमलदे पं० बलभद्र पं० हीरामणि प श्रीलाल पुत्र प० सेरपान भा० केवल

मौलिकता लुप्त हो जाने के सशय से "प्रतिमा-लेख-सग्रह" के लेखों की भयकर अशुद्धियां ज्यों की त्यों छोड दी गयी हैं । सम्पादक

द्रे पं० मनोहर पं० जयन्ती पं० रामचन्द्र पं० रघुपति पं० मधुसूदन पं० भोपति पं० ताराचन्द्र पं० मनीराम व्रतउद्यापनार्थं यंत्रं ।

६—सिद्धियंत्र—"सं० १६८८ वर्षे आषाढ़ वदी ८ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाम्नाये भ० श्रीशीलभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्री जगद्भूषणदेवास्तदाम्नाये गोलसिंगारान्वये रंगा गोत्रे साहु श्रीलान् तस्य भार्या जिना तयो पुत्रा कुवेरसी तस्य भार्या चद्रा (?) तयो पुत्रा चत्वारि ज्येष्ठ पुत्र धरदास द्वितियपुत्र दमोदर तृतीय पुत्र भगवान चतुर्थं अभैधर दास भा० अर्जुना एतेषां मध्ये धरदास दशलक्षणी वृत- उद्यापनार्थं यंत्र प्रतिष्ठा करापितं शुभं भवतु ।"

७—सम्यग्दर्शनयंत्र—"सं० १७२२ वर्षे माघवदी ५ सोमे अव० श्री मूलसंघे भ० श्रीजगद्भूषण तत्पट्टे भ० श्री विश्वभूषण तदाम्नाये यदुवंशे लम्बकंचुक पचोलनेगोत्रे सा० भावते हीरामणि कन्हर रमीले लालसेन उद्यारमणि शिरोमणि अतिबल जयकृष्ण एतेषां सा० भावते हीरामणि लालसेन रमीले यंत्र प्रतिष्ठा करापितं । लिखितं पं० गरीबदास ।"

८—सम्यग्ज्ञानयंत्र—"सं० १७६० वर्षे फाल्गुण सुदी १ गुरौ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री सुरेन्द्रभूषण देवास्तदाम्नाए लंबकंचुकान्वये रपरिया गोत्रे सा० कुमारसेनि भार्या जीवनदे पुत्र ३ ज्येष्ठ खरगसेन भार्या बलको पुत्र २ जयकृष्ण २ मनसुष एतेषां मध्ये सा० रामसेन नित्यं प्रणमंति ।"

९—षोड़शकारणयंत्र—"सं० १७६६ वर्षे माघ सुदी ५ सोमवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्याम्नाए भ० श्री विश्वभूषणदेवास्ततपट्टे श्रीदेवेन्द्र भूषण देवास्तत्पट्टे श्री भ० सुरेन्द्रभूषण देवास्तदाम्नाए लंबकंचुकान्वये बुढ़ेले ज्ञातीये रावत गोत्रे साहु बदलूदास भार्या सुधी तयो पुत्र त्रय जात पुत्र जेष्ठ राम [भार्या पुना पुत्र जगमन भा० उदोती पुत्र विनयसिंह द्वितीय भ्राता सा० तुलाराम भा० देव जाता पुत्रा षट् ज्येष्ठ शिवराम भा० धरनी द्वितीय हंसराज भा० वणे पुत्र परमानन्द द्वितीय पुत्र देवीदास भा० लक्ष्मी चतुर्थ पुत्र उत्तमचन्द्र भा० रत्नावती पुत्र द्वितीय ज्येष्ठ सुखमनि भा० ओखुम ता० वि० टोडरमल पं० चन्द्रभान भा० उदोता षष्ठे दीनानाथ भा० देविकुंवरि पुत्र [परचाराम एतेषां मध्ये साहु तुला रामेण यंत्र प्रतिष्ठा कारिता । ऊदलस्य सागरोपुरेण कृता ।"

१० सम्यग्दर्शन यंत्र—"संवत् १७७२ वर्षे फाल्गुणवदी ६ चन्द्रे श्री मूलसंघ बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भ० श्री देवेन्द्रभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्रीसुरेन्द्र भूषण देवास्तस्मात् ब्रह्म जगतसिंह गुरूपदेशात् तदाम्नाय सम्यक्शुभान्वये बुंदेले ज्ञातीये ककौंआ गोत्रे श्री सा० सिवरामदास भा० देवजानी तया पुत्रा त्रय ज्येष्ठ देवीदास भार्या द्वौ ज्येष्ठ लालकुंवरि तस्या पुत्रा त्रय ज्येष्ठ शामाराम भा० आम्वता तयो पुत्र निहालचन्द्र द्वि० अतिराज भा० जयकुंवरि तृतीय खेमराज भा० सन्तोषी पुत्र द्वितीय नन्द राम भार्या धारा तयो पुत्र सदानन्द भा० सुमित्रा पुत्र तृतीय नरहरदास भा० भवानी तयो पुत्र द्वौ ज्येष्ठ चन्द्र मल भा० कमलकुंवरि द्वि० शिवानन्द भा० बल्को एतषां मध्ये देवीदास नित्य प्रणमति ।

११ दशलक्षणयंत्र—"सं० १७११ वर्षे फाल्गुण सुदी ६ बुधवासरे शुभ दिने मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीविश्वभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेन्द्रभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्री सुरेन्द्रभूषण देवास्तदाम्नाय बुंदेलान्वय गृगगोत्रे साहु तुलाराम सुपुत्र दाता सहितस्तस्य ज्येष्ठपुत्र सा० देवीदासस्य दारा पुत्रौ विभूषित नित्य सर्वे प्रणमन्ति । अटेरपुरे साहु तुलारामेण यंत्र प्रतिष्टा कारित तत्र प्रतिष्ठितम् ।"

१२ षोडशकारणयंत्र—'सं० १८२८ मितो भाद्रव कृष्ण पंचमी शुभे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वय भ० श्री विश्वभूषणजी त० भ० देवेन्द्र भूषणजी त० भ० सुरेन्द्रभूषणजी त० भ० लक्ष्मीभूषणजी त० भ० जितेन्द्रभूषण जी तदाम्नाये खंडेलवालान्वये इक्ष्वाकुवंशे धारागोत्रे नाभिराम नित्य प्रणमति ।

मैनपुरी के भगत जी के दिगंबर जैन मन्दिर का लेख-संग्रह ।

यंत्र प्रशस्तियां

(आठ यंत्र हैं, किन्तु प्रशस्ति किसी पर नहीं है)

लिंग-चिह्न सहित प्रतिमाओं पर के लेखों का संग्रह ।

१ अनंतनाथ—श्वेतपाषाण—८ अं०—"सं० १५४५ माघकृष्ण २ श्रीमूलसंघ बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दान्वये मन्मनलालेन प्रतिष्ठितम् ।"

२ पार्श्व—खड्गासन—४ नग० मूर्तियां अगल बगल—चमरदिशा भामंडलादि-सहित—कृष्ण पाषाण ४० अं०—"श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छ बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्रीमत श्री हरेन्द्रभूषणजी उपदेसो मरगी माथे मैनपुरी साहु लाल भर्नाराम मारगपुरी ? ६० १५४५ ।"

(२१ मूर्तियों में से कुल दो मूर्तियाँ चिह्न-चिह्न सहित हैं ।)

मैंनपुरी लोइयन का दि० जैन मंदिर में विराजमान लिंग-चिह्न-सहित मूर्तियों का लेख-संग्रह ।

१ सिद्धपरमेष्ठी—धातु—१० अं०—"श्री सं० १६३६ वैशाख सुदी ७ श्री दुर्गापुरे प्रतिष्ठितमिदम् सिद्धबिंबं हनलाल मैंनपुरी ।"

२ सिद्धपरमेष्ठी—धातु ११ अं०—' सं० १६४५ मघ कृष्ण २ प्रतिष्ठतं ।"

३ आदिनाथ—धातु -१४ अ०—"स० १६११ फाल्गुण मासे शुक्ल पक्षे ६ भृगुवासरे को प्रतिष्ठितं मैंनपुरी मध्ये श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये अग्रवाल कुकस गोत्रे लाला मलैराम जी तत्संग भ्राता कल्याण नित्यं प्रणमति श्रीरस्तु"

४ चन्द्रप्रभ—धातु—१८ अ०—"सं० १८८६ चैतमासे शुभे शुक्लपक्षे २ शुभ शुक्रवासरे प्रतिष्ठितं श्री काष्ठासंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीलोहाचार्यान्वये तस्य शिष्य अनुसारेण अग्रवालवंशे गरग-गोत्रे श्रीकाशीरामजी नित्यं प्रणमंति । श्रीहरचंद पुरमध्येश्री ।"

५ पार्श्व—धातु—२३ अं०—"सं० १९०२ माघ मासे शुक्लपक्षे १३ सोमवासरे को श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्याम्नाय तद्वचनोपदेशात वंश अग्रवाल लोहिआ खुसालचंद हरचंदपुर वाले तिनके माथे ।'

६ पार्श्व—धातु—२२ अं०—"श्रीसंवत् १८८६ चैतमासे शुक्लपक्षे ३ शुक्रवासरे को प्रतिष्ठितं श्रीकाष्ठासंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीलोहाचार्यान्वये तस्य प्रतीतानुसारेण अग्रवाल वंश . गोत्रे केवलराम जी नित्यं प्रणमति श्री मैंनपुरी श्रीरस्तु ।"

७ सिद्ध—धातु—१३ अं० -"श्रीमूलसघे झम्मनलालेन प्रतिष्ठितं सं० १६४५ माघ कृष्ण २ ।"

८ आदिनाथ—धातु १५ अं०—'श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये गर्गगोत्रे अग्रवंशे झम्मनलाल प्रतिष्ठितं सं० १६४५ माघ कृष्ण २ ।"

९ पार्श्व—धातु—१४ अं०—"सं० १६११ फाल्गुणमासे शुक्लपक्षे ७ भृगौ प्रतिष्ठितं......मद्धे भाई मलैराम नित्यं प्रणमंति ।"

१० सिद्ध—धातु—१० अं०—"सं० १६४५ माघ कृष्ण २ ।"

(कुल २६ प्रतिमाओं में से उपर्युक्त १० के लिङ्ग-चिह्न प्रकट है)

यन्त्र लेख-संग्रह ।

१ सम्यग्ज्ञान—"संवत १७३४ वर्षे माघसुदी ५ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये श्री भ० जगद्भूषणदेवा तदाम्नाये लंबकंचुकान्वये रावत-गोत्रे चंडमार दुर्गे रावत प्रसादतत्पुत्र रावत सिरोमनि......यंत्रकरापिता नित्यं प्रणमति"।

२ दशलाक्षणिक यंत्र—"संवतु १७६० वर्षे फाल्गुण सुदि १ गुरौ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्याम्नाये भ० श्रीविश्वभूषण देवास्तत्पट्टे श्रीदेवेन्द्रभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्रीसुरेन्द्र भूषण देवास्तदाम्नाए यदुवंशे लमकंचुकान्वये रपरिया गोत्रे सा० छबीले पुत्र सा० शंकर भार्या तिलका पुत्र २ ज्येष्ठ साह मारसेनि द्वि० सा० सुखमल सा० उदैराजेन यंत्र प्रतिष्ठापितं ।"

३ षोडशकारण यंत्र—"शुभ संवत् १८२० फागुण वदि ३ गुरुवासरे श्रीमूल संघे ब० ग० स० ग० कु० श्रीमद्भट्टारक जिनेन्द्रभूषण जिदेवस्तत्पट्टे श्रीमद्भट्टारक महेन्द्रभूषण जिदेवस्तत्पट्टे श्रीभट्टारक राजेन्द्रभूषणजिदेवस्तदुपदेशात् श्रीमदग्रवंशोद्भव वाशिलगोत्रोत्प न । काष्ठासंघ बाबू मजमोहनदासस्तस्याभार्या सुंदरि कुंवरिस्तत्पुत्री बाबू जगमोहन दास बाबू मुनिसुव्रत दासौ तद्भार्ये धौताकुंवरि टुकटुककुंवरि सहके च तामि प्रतिष्ठाकृता आरा नगर्यां केलिरामस्तत्पुत्र लालचंद अग्रवार गरग गोत्रोत्पन्नस्य मस्तके कृता ।"

४ सम्यक्चारित्र यंत्र—नं २ की भांति ।

५ नवग्रहयंत्र—लेख रहित ।

मैनपुरी के मूर्ति-लेखों से प्राप्त परिचय

मैनपुरी के जिन चार दिगम्बर जैन मंदिरों की मूर्ति एवं तामपत्र-लेखों का संग्रह प्रकट किया गया है, उनसे जो परिचय प्राप्त होता है, उसे पाठकों के अवलोकनार्थ हम नीचे अंकित करते हैं। सबसे पहिले आचार्यों और भट्टारकों का विवरण इस प्रकार है:—

नं०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरु का नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	जिस समय में उल्लेख मिलता है।	विशेष विवरण
१	भ० अभयचन्द्र ...	......	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुंदकुंद०	सं० १६१२ से पूर्व	
२	भ० अभयनन्द देव ...	भ० अभयचन्द्र	,,	,,	,,	,,	,,	सं० १६१२ में इनके पट्ट पर आचार्य रत्नकीर्ति विराजमान थे।
३	,, कमलकीर्ति ...	......	काष्ठा	..	...	...	सं० १५४५ ...	सं० १५०६ व सं० १५१० के लेखों में भी भ० कमलकीर्ति का उल्लेख है।
४	,, गुणकीर्ति ...	......	,,	...	...	...	सं० १४७३	
५	,, गुणभद्र ...	......	,,	...	..	...	सं० १४८७	
६	,, ,, ...	......	,,	...	...	...	सं० १५२१ व १५३१	इनकी आम्नाय में भ० मलयकीर्ति सं० १५३७—१५४५ में हुए।
७	,, ,, ...	......	मूल	सेन	...	...	पन्द्रहवीं श० ..	इनके पट्ट पर लक्ष्मीसेन थे।
८	,, चंद्रकीर्ति ...	......	काष्ठा	...	...		सं० १५५२	
९	,, जिनचंद्रदेव ...	......	मूल	...	..	..	सं० १५१३	

१०	" जिनचन्द्र		मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द०	सं० १५०२ से १५१५	भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि देव (१४५०) थे। इन्हीं प्रभाचन्द्र का उल्लेख प्रतिष्ठाचार्यरूप में सं० १४१२ में हुआ है। पद्मनंदि के पट्ट पर शुभचन्द्र आसीन हुए। शुभचन्द्र के उत्तराधिकारी जिनचन्द्र थे, जिनके बाद पट्ट पर भ० सिंहकीर्ति (१५२०-१५३८) बैठे। शायद ग्वालियर के पट्ट का उल्लेख है।
११	" "		"	"	"	"	सं० १५४५ व १५४८	सेठ जीवराज पापड़ीवाल ने इनके द्वारा अनेक बिम्ब प्रतिष्ठित कराये थे।
१२	" "		"				सं० १५६० से पूर्व	इनकी आम्नाय में विद्यानंदि मंडलाचार्य और श्रीभुवनकीर्ति हुए।
१३	ब्रह्म० जिनदास		"	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १५११	"शास्त्रपूजा" "गुरुपूजा" आदि ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में शायद इन्हीं ब्रह्म जिनदास ने रचे हैं।
१४	भ० जिनचन्द्रदेव		"				सं० १५६२	
१५	" जिनप्रभसूरि		"				सं० १५९१ से पूर्व	
१६	" जिनभानुदेवसूरि	भ० जिनप्रभसूरि	"				सं० १५९२ शाके	
१७	ज्ञानकीर्ति		"				सं० १७४६	
१८	" ज्ञानकीर्ति		"				सं० १७२१ से पूर्व	

नं०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरु का नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	किस समय में उल्लेख मिलता है	विशेष विवरण
१९	,, जगद्भूषण ..	भ० ज्ञानभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द०	सं० १६८६ ...	भ० धर्मकीर्ति के पट्ट पर भ० शीलभूषण हुये। उनके पट्टाधीश भ० ज्ञानभूषण थे। और इनके उत्तराधिकारी भ० जगद्भूषण हुए। फिर भ० विश्वभूषण (१७२२) और देवेन्द्रभूषण (१७३५) हुए।
२०	,, जिनेन्द्रभूषण .	भ० लक्ष्मीभूषण	,,	,,	,,	,,	सं० १८२८ .	इस लेख में अटेर के पट्ट पर उपर्युक्त विश्वभूषण और देवेन्द्रभूषणको लिखा है। देवेन्द्रभूषण के बाद पट्ट पर भ० सुरेन्द्रभूषण (१७६०–१७६६) बैठे। इनके उत्तराधिकारी भ० लक्ष्मीभूषण (१७६१) हुये, जिनके पट्ट पर भ० जिनेन्द्रभूषण ने अधिकार जमाया। इस प्रकार भ० धर्मकीर्ति से भ० जिनेन्द्रभूषण तक सब ही भट्टारक अटेर की गद्दी पर हुये प्रतीत होते हैं। सं० १४१६ में यहाँ पर भ० विश्वसेन थे। सं० १८१८ में भ० जिनेन्द्रभूषण के पश्चात् उन के उत्तराधिकारी क्रमश भ० महेन्द्रभूषण और भ० राजेन्द्रभूषण थे। (सं० १९२०)।

श्रीपूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक—पण्डित सत्यंधर जैन, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

(गतांक से आगे)

२०—नवज्वरे करुणाकररस

रसगंधक भार्गीक तथा च लौहटंकण।
मनःशिला मयस्कांत नागं गगनमेव च ॥१॥
समांशशुल्वसंयुक्तं कृत्वा कज्जलिका शुभं।
लौहपात्रे पचेत् सम्यक् यावद्रक्तवर्णता ॥२॥
करुणाकररसो नाम नवज्वरनिवारणः।
निमित्तदोषदृष्टेभ्यश्चानुपानं प्रयोजयेत् ॥३॥
पूज्यपादकृतो योगं नराणां हितकारकः।
सर्वरोगसमूहघ्नो कथितो विज्ञसम्मतः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, लौहभस्म, कच्चा सुहागा, शुद्ध मैनशिल, कान्तलौहभस्म, शीसाभस्म, अभ्रकभस्म, वंगभस्म और ताम्रभस्म ये सब बराबर बराबर लेकर कज्जली बनावे और लोहे की कड़ाही में डालकर पकावे, जब पकते पकते लाल वर्ण हो जाय तब तैयार समझे। यह करुणाकर नाम का रस नवीनज्वर को नाश करनेवाला है। इसको ज्वर, तथा वात, पित्त, कफ दोषों के अनुसार अनुपान भेद से सेवन करना चाहिये। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ योग मनुष्यों का हित एवं संपूर्ण रोगों को नाश करनेवाला विद्वानों द्वारा मान्य कहा गया है।

२१—आमादौ मेघनादरस

हिंगुलं टंकणं व्योषं सैंधवं त्रिवृतानि च।
दन्ती हिंगुर्विडंगं च दीप्यद्युग्मं समांशकम् ॥१॥
तच्चूर्णसमभागं च जैपालस्त्वभिश्रितं।
मर्दयेत्खल्वमध्ये तु जंबीररसभावितं ॥२॥

वटिकां गुंजमानेषु उष्णांबुना पिवेन्नरः ।
आमं विरेचनं कुर्यात् मेघनादस्त्रिदोषजित् ॥३॥
पंचगुल्मं क्षयं पांडुकामलाजीर्णदुर्वलं ।
मूत्ररोगं हरेच्छ्वासं कासप्लीहमहोदरान् ॥४॥
आर्द्रकरसेन नाशयति अम्लप्लीहजलोदरान् ।
शूलहृद्रोगदुर्नामकृमिकुष्ठहलीमकं ॥५॥
मंडलं गजचर्माणि योगेन तिमिरापहः ।
मांसोदरे च मंदाग्नौ मधुना खल्वरोचके ॥६॥
मेघनादरसः प्रोक्तः त्रिदोषमलनाशनः ।
अनुपानविशेषेण रोगान् मुंचति कार्मुकान् ॥७॥
पूज्यपादकृतो योगो नराणां हितकारकः ।

टीका—शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध सुहागा, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, सेंधा नमक, निशोथ, दन्ती, हींग, वायविडंग, अजमोद, अजवायन ये सब बराबर बराबर लेवे तथा इन सबके बराबर शुद्ध जमालगोटा मिलावे और खल में जवीरी नींबू के रस में भावना देकर एक एक रत्ती की गोली बनाकर प्रातःकाल एक एक गोली गर्म जल के साथ सेवन करे तो इससे आमदोष का विरेचन होता है, तथा यह मेघनाद रस तीनों दोषों को जीतनेवाला पांचों प्रकार के गुल्मरोग, क्षय, पांडु, कामला, अजीर्ण, दुर्वलता, मूत्ररोग, श्वास, खाँसी, तिल्ली, महान उदर रोग, अदरख के रस के साथ सेवन करने से अम्लरोग प्लीहा, जलोदर, शूल, हृदयरोग, बवासीर, कृमिरोग, कुष्ठरोग, हलीमक, मंडल (चकते पड़ना) गजचर्म (गजकर्ण रोग) विशेष अनुपान से तिमिर रोग को भी, मांसोदर, मंदाग्नि अथवा मधु के साथ सेवन करने से सर्व प्रकार के अरोचक को और त्रिदोष को नाश करनेवाला है यह मेघनाद रस अनुपान-विशेष से अनेक प्रकार के रोगों को नाश करता है। यह पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ योग मनुष्यों का हित करनेवाला है।

२२—जीर्णज्वरादौ घोड़ाचोलीरसः

पारदं टंकणं गंधं विषं व्योषं फलत्रयम् ।
तालकं च समोपेतं जैपालं समभागकम् ॥१॥
किंशुकस्य रसे दत्त्वा याममात्रं तु पेषयेत् ।
गुंजाप्रमाणवटिकां छायाशुष्कां तु कारयेत् ॥२॥

मरिचै शोधितैः स्वरसैश्चार्द्रकस्य च पाययेत्।
जीर्णज्वरं शूलमेहं कठिनं तु महोदरं॥३॥
प्लीहा च कृमिदोषं च हरेत् कुम्भाह्वयं गदं।
घोडाचूलिरितिख्यातो पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध सुहागा, शुद्ध गंधक, शुद्ध विष, सोंठ, मिरच, पीपल, त्रिफला, शुद्ध तबकिया हरताल का भस्म और शुद्ध जमालगोटा ये सब चीज बराबर बराबर लेकर पलास के फूल के स्वरस में एक प्रहर तक घोट कर एक एक रत्ती की गोली बांधकर छाया में सुखावे। इस गोली को एक रत्ती पीसी हुई काली मिर्च तथा अदरख के रस के साथ पिलावे। यह जीर्णज्वर, शूल, प्रमेह, कठिन उदर रोग, प्लीहा, कृमि और कुम्भकामला को नाश करता है। यह घोडाचोली रस पूज्यपाद स्वामी का बतलाया हुआ योग बहुत उत्तम है।

२३—त्रिवृद्वे इच्छाभेदिरस

सूतं गंधं च मरिचं टंकणं नागराभये।
जैपालबीजसंयुक्तो क्रमेण वर्धनं भवेत्॥१॥
सर्वतुल्यैर्गुडैर्मर्द्य इच्छाभेदिरसः स्मृतः।
चतुर्गुञ्जावटी योज्या ततः तोयं पिबेन्मुहुः॥२॥
त्रिवृज्ज्वरगुल्मं च शोफशूलोदरभ्रमम्।
पाण्डुकुष्ठाग्निमान्द्यं च श्लेष्मपित्तानिलं हरम्॥३॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, काली मिर्च, सुहागे का फूल, सोंठ, बड़ी हर्र का बकला, शुद्ध जमालगोटा ये क्रम से एक एक भाग बढ़ा कर लेवे अर्थात् पारा १ भाग गंधक २ भाग, मिर्च ३ भाग सुहागा ४ भाग, सोंठ ५ भाग, हर्र ६ भाग, जमालगोटा ७ भाग लेवे और इन सबको पीसे तथा सबके बराबर पुराना गुड़ मिला कर चार चार रत्ती की गोली बनावे, सुबह शाम एक एक गोली सेवन कर और ऊपर से २ तोला पानी पीवे तथा प्यास लगने पर कई बार पानी पीवे इससे रेचन होता है। यह दवा ज्वर, गुल्म, सूजन, शूल, उदर रोग, भ्रम रोग, पाण्डु, कुष्ठ, अग्निमांद्य कफ, पित्त और बात इन सब रोगों का नाश करनेवाला है।

२४—विबंधे विरेचकतिक्तकोशातकीयोगः

तिक्तकोशातकीबीजं तिन्तड़ीबीजसंयुतम् ।
पातालयंत्रमार्गेण तैलं तत्तिक्ततुंबके ॥१॥
सार्धे सबीजे मासार्धं क्षिपेत् सिद्धं भवेत्ततः ।
तेन पादप्रलेपेन नाभिलेपेन वा भवेत् ॥२॥
आमं विरेचयत्याशु वान्तौ तु हृदयं पुनः ।
लेपयेत् क्षालयेन्निम्बवारिणा स्तंभनं भवेत् ॥३॥

टीका—कड़वी तुरई के बीज, तिन्तड़ीक के बीज, इन दोनों को बराबर बराबर लेकर पाताल यंत्र के द्वारा उनका तैल निकाले और उस तैल को कड़वी तुमरियाबीजसहित आधी काट कर उसमें भर कर १५ दिन तक रखे तो यह तैलसिद्धि हो एवं फिर उसको निकाल कर काम में लावे। उस तैल को पैरों में लगाने से तथा नाभी पर लेप करने से आम दोष का विरेचन होता है, यदि वमन हो जाय तो हृदय पर लेप करे और नीम की पत्ती के ठंढे पानी से प्रक्षालन करे तो वमन शान्त हो जाता है।

२५—विबंधे प्रथम इच्छाभेदिरसः

जैपालरसगंधांश्च स्नुहीक्षीरेण मर्दयेत् ।
विश्वाहरीतकी शृङ्गबेरद्रावेण संयुत ॥१॥
माषमात्रं ददेच्चैव इच्छाभेदि विरेचनम् ।
यथेष्टं रेचनं भूयात् पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, इन तीनों को लेकर थूहर के दूध से घोंटे और उसमें सोंठ, बड़ी हर्र का बकला अदरख के रस के साथ मर्दन करके रख लेवे उसको एक मासे की मात्रा से देवे तो यथेष्ट इच्छानुकूल विरेचन होवे।

२६—द्वितीय इच्छाभेदिरसः

व्योषं गंधं सूतकं टंकणं च तेषां तुल्यं तिन्तड़ीबीजमेतत् ।
खल्वे यामं मर्दयेन्नागवल्लीपर्णैर्वल्लमात्रप्रवृत्तिः ॥
इच्छाभेदिं दापयेच्चाथ सेव्यं तांबूलांते तोयपानं यथेच्छं ।
यावत्कुर्याद् रेचनं तावदेव शूलेषदावर्तपांडूदरेषु ॥१॥

टीका—सोंठ, मिर्च, पीपल, शुद्ध पारा, सुहागा इन सबको बराबर बराबर और सबके बराबर तिन्तडीक के बीज ले। खरल में एक प्रहर तक पान के स्वरस में घोट कर तीन तीन रत्ती के प्रमाण से देवे तथा ऊपर से एक पान का बीडा खावे। पश्चात् जितना पानी पीना होय पीवे इससे उत्तम विरेचन हो जाता है तथा सर्व प्रकार के शूल उदावर्त, पाडु उदर रोग शान्त हो जाते हैं।

नोट—जितने बार दस्त लेना होय उतने बार पान का बीडा खाकर पानी पीवे।

२७—श्वासकासादौ गजसिंहरस

रसलोहं शुल्बभस्म वत्सनाभं च गंधकं।
तालीसं चित्रमूलं च एला मुस्ता च ग्रंथिकं ॥१॥
त्रिकटु त्रिफलायुक्तं जैपालं च विडंगकम्।
सर्वसाम्यं विचूर्ण्यैव भावयेदार्द्रकैर्युतम् ॥२॥
चणकमात्रवटिका भक्षयेद्गुडमिश्रिताम्।
श्वासकासक्षयं गुल्मप्रमेहं तृड्ज्वरापहम् ॥३॥
वातमूत्रादिरोगाणि हंति सत्यं न संशयः।
ग्रहणीं पाडु शूलं च गुदकीलं मूढगर्भकम् ॥४॥
गजसिंहरसो नाम पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—शुद्ध पारा, लोह भस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध विष शुद्ध गंधक, तालीस पत्र, चित्रक, छोटी इलायची, नागरमोथा, पीपरामूल, सोंठ, मिर्च, पीपल, हर, बहेरा, आंवला, शुद्ध जमालगोटा, वायविडंग ये सब औषधियां बराबर २ लेकर अदरख के रस के साथ घोंट कर चना के बराबर गोली बनावे तथा पुराने गुड के साथ एक एक गोली प्रातःकाल और सायंकाल सेवन करे तो श्वास, खांसी, क्षय गुल्म, प्रमेह, तृषा, ग्रहणी, शूल, पाडु, गुदकील (बवासीर का मस्सा) मूढ गर्भ तथा अनेक प्रकार के वातरोग नाश हो जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

२८—श्वासकासादौ सूतकादियोग

सूतकं गंधकं भार्ङ्गी धामृतं चित्रकत्रयं।
विडंगरेणुका मुस्ता जैपालं च त्रिकं ॥१॥

फलत्रयं कटुत्रयं शुल्वभस्म तथैव च।
एतानि समभागानि गुडं द्विगुणमुच्यते ॥२॥
सर्वेषां गुटिकां कृत्वा मात्रां चणकमात्रिकां।
एकैकां भक्षयेन्नित्यं तेषां चैव विचक्षणः ॥३॥
श्वासकासक्षये गुल्मे प्रमेहे विषमज्वरे।
तृष्णायां ग्रहणीदोषे शूले पांड्वामये तथा ॥४॥
मूढगर्भे वातरोगे कृच्छ्ररोगे च दारुणे।
कृमिरोगेषु मन्दाग्नौ मांसोदररुजासु च ॥५॥
कंठग्रहे हृद्ग्रहे हिक्कामूर्धरुजासु च।
अपस्मारे तथोन्मादे रक्तवृद्धौ च दारुणे ॥६॥
सर्वांगेषु च कुष्ठेषु सर्वस्मिन्नश्मरीगदे।
लूतायां सन्निपाते च दुष्टसर्पे च वृश्चिके ॥७॥
हस्तपादादिरोगेषु सर्वेषु गुलिका मता।
सूतकादिरयं योगः पूज्यपादेन भाषितः ॥८॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, भारंगी, शुद्ध विष, चित्रक, तेजपत्र, वायविडंग, रेणुका-बीज, नागरमोथा, छोटी इलायची, नागकेशर, पीपरामूल, त्रिफला, सोंठ, मिर्च, पीपल, ताम्रभस्म, इन सबको समान भाग लेकर कूट कपड़छन करके सब चूर्ण से दूना गुड़ लेकर एक चना के बराबर गोली बनावे और एक एक गोली प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे, तो इससे श्वास, खांसी, क्षय, गुल्म, प्रमेह, विषमज्वर, तृष्णा, ग्रहणी, दोष, भूल, पांडु रोग, मूढ गर्भ, वातरोग, कठिन मूत्रकृच्छ्र, कृमिरोग, मंदाग्नि, नासिका रोग, कंठरोग, हृद्रोग, हिचकी शिरोरोग, अपस्मार, उन्माद, रक्तवृद्धि, सर्वाङ्ग में होनेवाला कुष्ठ रोग, पथरी रोग, मकड़ी के विष में, सन्निपात में, सर्प के काटने पर, विच्छू के काटने पर, हाथ-पैर के किसी भी रोग में यह सूतकादि योग वहुत उत्तम है ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

२९—क्षयकासादौ अग्निरसः

सूतं द्विगुणगंधेन मर्दयेत् कज्जलीं यथा।
तयोः समं तीक्ष्णचूर्णं कुमारीवारिणाद्रुतम् ॥१॥
सर्वस्य गोलकं कृत्वा ताम्रपात्रे विनिक्षिपेत्।
आच्छाद्येरण्डपत्रेण यामार्द्धे चोष्णतां नयेत् ॥२॥

धान्यराशौ विनिक्षिप्य द्विदिन चूर्णयेत्तत ।
त्रिकटुस्त्रिफला चैलाजातीफललवगकम् ॥३॥
चूर्णमेषा सम पूर्वरसस्यैत मधूयुतम् ।
द्विनिष्क भक्षयेन्नित्य स्वयमग्निरसोह्वाय ॥४॥
क्षयकासक्षयश्वासहिक्कारोगस्य नाशक ।
ज्वरादितरुणे प्रोक्तान् चानुपानान् प्रयोजयेत् ॥५॥
सवकासेषु मतिमान् कासोक्तैरनुपानकै ।
क्षयादिनाशको योग पूज्यपादेन भाषित ॥६॥

टीका—शुद्ध पारा तथा दूना गधक लेकर कज्जली बनावे और दोनो के बराबर तीक्ष्ण लौहभस्म लेकर घीकुआरि के स्वरस में गोली बनाकर ताम्र क पात्र म रख कर बद करके दृढ घंट तक आच देकर गर्म करे और फिर उसी सपुट को धान्य की राशि में दो दिन तक रख देवे पश्चात् निकाल कर सबका पीसकर चूर्ण बनाले तथा सोंठ मिरच, पीपल, त्रिफला, छोटी इलायची, जायफल, लवग इनका चूर्ण पहले क रस के बराबर ही ले एवं घोंट कर तैयार करले। यह स्वय अग्निरस तैयार हो गया समझो। इस चूर्ण को मधु के साथ सेवन करना चाहिये तथा ज्वर इत्यादि म जो अनुपान कह चुके हैं, खाँसी और श्वास म जो अनुपान कह चुके हैं उन्हीं अनुपाना से इनको भी देना चाहिये। यह क्षय आदि को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

३०—वाजीकरणे रतिविलासरस

हरजभुजगकाताभ्राभ्रक च त्रिभाग
कनकविजययष्टी शाल्मली नागवल्ली ।
सितमधुघृतयुक्त सेवित वल्लयुग्मम् ।
मदयति बहुकात पुष्पधन्वा बलायु ॥१॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध शीसा, कातलोह भस्म ये तीनों बराबर बराबर लेवे तथा अभ्रक भस्म, तीसरा भाग ले और सबको घोंट कर तयार कर लेवे, फिर शुद्ध धतूरा के बीज, विजया की पत्ती, मुलहटी, सेमल का मूसला एवं पान इनक साथ मिश्री तथा शहद के साथ साथ रत्ती प्रमाण सेवन करने से बहुत स्त्री वाले पुरुष को कामदेव तथा बल और आयु मदमत्त कर देते हैं अर्थात् वह क्षीण शक्ति नहीं होता।

३१—वाजीकरणादौ लीलाविलासरसः

अहिफेनं वार्धिशोकं च त्रिसुगंधं च तत्समम् ।
धूर्तवीजसमायुक्तं विजयावीजतत्समम् ॥१॥
तद्रसैः भावनां कुर्याद्रसो लीलाविलासकः ।
चणकप्रमाणवटिका दीयते सितखंडया ॥२॥
बहुमूत्रविनाशश्च शुक्रस्तंभं करोति च ।
यामिनीमान-भंगं च कामिनीमदभंजनम् ॥३॥

टीका—शुद्ध अफीम, समुद्रशोष, छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपात, ये तीनों बराबर तथा शुद्ध धतूरे के बीज और उसी के बराबर भांग के बीज लेकर धतूरा और भांग के स्वरस की भावना देकर चना के बराबर गोली बांधे। इस गोली को मिश्री के साथ देने से बहुमूत्र रोग शांत हो जाता है तथा वीर्य्य का स्तम्भ होता है और रात्रि का मान-भंग और कामिनी के मद का नाश होता है।

३२—आमदोषादौ उदयमार्तण्डरसः

हिंगुलं च चतुर्निष्कं जैपालं च त्रिनिष्ककं ।
वत्सनाभं चैकनिष्कं त्रिकटु चैकनिष्ककं ॥१॥
हरीतकी चैकनिष्कं निष्कमेरंडमूलकं ।
करंजवीजं निष्कं च नीलांजनमनःशिला ॥२॥
रसतुत्थं पिप्पली च वराटं शंखभस्मकं ।
कनकं निम्ववीजं च प्रत्येकं च निशाद्वयम् ॥३॥
सर्वं च प्रतिनिष्कं च दिनं खल्वे विमर्दयेत् ।
अजक्षीरेण संमिश्रश्चणमात्रवटीकृतम् ॥४॥
वटकं गुडमिश्रेण ऊषणेन समन्वितम् ।
सेव्यश्चोष्णकीलाले चामदोषविरेचकः ॥५॥
पंचगुल्महरः शूलहरो वातविशोधनः ।
रसोऽयं पूज्यपादोक्तः सर्वशीतज्वरापहः ॥६॥

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol I] December 1935 [No 3

Editors

Prof HIRALAL JAIN, M A, LL B, P E S,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti, C P

Prof A N UPADHYE, M A,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, Kolhapur, S M C

B KAMTA PRASAD JAIN, M R A S,
Aliganj Distt Etah U P

Pt K BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, Arrah

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 4 Foreign Rs 4-8 Single Copy Rs 1-4

Om

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol I, No III — ARRAH, (INDIA) — December 1935

Jaina Art in South India

(By Prof Shripad Rama Sharma, M A)

The most distinctive contribution of Jainism to Art in South India was in the realm of Iconography As with everything else in life the Jainas appear to have carried their spirit of acute analysis and asceticism into the sphere of art and architecture as well There are minute details for instance in the *Mānasāra*, a standard book on the subject in South India according to which

"The image of a Jina should have only two arms, two eyes, cropped head, either standing with legs kept straight or in the *abhanga* manner, or it may be seated in the *padmāsana* posture, wherein also the body must be kept erect The figure should be sculptured as to indicate deep contemplation, the right palm should be kept facing upwards upon the left palm held in the same manner (and both resting on the crossed legs) On the *Simhāsana* on which the image of the Jina is seated (and round the *prabhāvali*) should be shown the figures of Narada and other *rishis* hosts of gods (and goddesses) vidyādharas and others as, either seated or standing in the air, and offering worship to the Jina

"Below the *simhāsana* must be the figures of (other) Jinas in a worshipping attitude; these are the *siddhas* (or *adisidhas* ?), the *sugandhas* (*sugatas*) ?), *Chahantu* (*chārhantas* i e, Arhantas ?), *Jana* (*Jina* ?) and *parśvakas*, these five classes are known by the name of *Pancha-parameshtins* The complexions of these are respectively *spatika* (crystal), white, red, black and yellow. The central Jina figure should be shaped according to the *uttama-daśa-tala* measure, whereas those of the *devatas* and the twenty-four Tirthankaras surrounding him in the other (*madhyama* and *adhama*) *daśatala* measures *The body should be perfectly free from ornament*, but on the right side of the chest (a little over the nipple) there should be the *Śri-vatsa* mark of golden colour.

"On the right and left side of the gate of the temple of Jina, there should be the *dwārapālakas* named *Chanda* and *Mahā Chanda* respectively."[1]

It becomes clear from this extract that there was a regular system of sculpture and architecture to which the workers were expected strictly to conform "The excessive deference to ritual prescription, generally recognised as a defect in Hindu art" observes Smith, "is carried to such an extremity by the Jains that images differing in age by a thousand years are almost indistinguishable in style. The uniformity which runs though the centuries extends all over India, so that little difference between Northern and Southern productions is noticeable, and the genius of individual artists finds small scope for its display."[2] The best illustrations of this remark are undoubtedly the three wellknown colossi of South India, *viz.*, the statues of Gommata or Bāhubali at Śravaṇa Belgola, Kārkal, and Yenūr or Venur. The last one is the smallest of the three (35 ft. high) and the first the biggest, rising to a height of 56½ ft. All the three are carved each out of a single block of gneiss, giving expression to the same ascetic ideal in the self-same manner, with the exception of the dimples in the cheeks of the Yenur colossus expressing "a deep, grave smile" They date respectivaly

1. *Mānsāra* ch. 55; cf Gopinathrao, Travancore II, pp 118-19
2. Smith, History of Fine Arts in India, pp 267-68

from about 983 A D 1432 A D, and 1604 A D[1] All are set on heights of more or less prominence, visible from a considerable distance around, and despit their formalism 'command respectful attention by their enormous mass and expression of dignified serenity' That of Karkal is said to be 11 ft, 5 inches high, 10½ ft thick, weighing about 80 tons[2] 'This is one of those colossal statues that are found in this part of the country" says Walhouse, "statues truly Egyptian in size, and *unrivalled through out India as detached works* Nude out from a single mass of granite, darkened by the monsoons of centuries, the vast statue stands upright with arms hanging straight, but not awkwardly, down the sides in a posture of somewhat stiff but simple dignity"[3]

This figure of Gommata is indeed known only in South India, and statues of that size are very rare elsewhere[4] Gommata, Bāhubali or Bhujabali is supposed to have been the son of the first Tirthankara Vrishabha, who attained salvation in that position of *Kāyotsarga* His feet are entwined with weeds and *Aukkuta sarpas* On the Chandragiri Hill at Śravana Belgola is also another statue that of Bharata brother of Bāhubali of great size, broken below the knees, yet standing erect

> " A statue solid set
> And moulded in colossal calm "

In the Jaina cave at Bādāmi a similar figure is seem which, in the opinion of Fergusson, is much older (c 600 A D) than the three great monoliths but represents the same individual—the ideal ascetic who stood in meditation until the ant hills arose at his feet and creeping plants grew round his limbs This Gomata Gummata or Dorbali he also says "has no prominent place in the

1 Cf Hultzsch Jain Colossi in South India I p Ind VII pp 108-12, Ep Car II Introd p 15

2 Cf Fergusson A History of Indian and Eastern Architecture II pp 72 3 Buchanan Travels III p 83

3 Cf Sturrock, South Canara I p 66 ff

4 At Nara in Japan is a bronze statue of Buddha 50 ft high and at Bāmiyān a stone image also of Buddha 173 ft high See Carpentier Buddhism and Christianity p 1. Narman The Indian Daily Mail Annual, 1926 p 12 Cf At Gwalior Smith op cit pp 268 ,0

Śvetāmbara pantheon, though Pārśvanātha is with them occasionally represented in a similar position"[1]

The question naturally arises, as to how these huge images were moved to their present place. "The task of carving a rock standing in its place had it even been twice the size, the Hindu mind never would have shrunk from; but to move such a mass up the steep smooth side of the hill seems a labour beyond their power, even with all their skill in concentrating masses of men on a single point," says Fergusson[2] Yet the fact remains that at least at Karkal the statue with its immense proportions was moved up a smooth and steep rock nearly 800 feet high. According to tradition, it was raised on to a train of twenty iron carts furnished with steel wheels, on each of which 10,000 propitiatory cocoanuts were broken and covered with an infinity of cotton; it was then drawn by legions of worshippers up an inclined plane to the platform on the hill-top, where it now stands.[3]

Folk songs of South Kanara also throw some light upon this point, and seem to contain the soul of truth within their legendary exterior They ascribe the erection of all the three statues to the familiar devil Kalkuda :—

The king of Belur and Belgula sent for Kalkuda the stone mason of Kallatta Mārnād (N. E. of Mangalore). *He put the thread on his shoulder to let people know his caste,* and held up an umbrella He made sharp his adze and put it on his shoulder. He made sharp his chisel and put it in a bag. He made sharp his axe and put it on his shoulder. He carried a cord and a pole for measuring. He dressed himself in his dressing-room, and then he dressed himself again "I am going to the kingdom of Belgula," he said to his wife He reached Belgula where he ascended twelve steps of stone. He passed by the gate He passed by a *painted chāvadi.* He passed by a *pillar of precious stone,* and a large yard. There the king sat down on his *throne with*

1. Fergusson op cit, pp. 72, 73 no 3, Ep. Car. II Introd, pp 12-1.
2. " " " .
3 Thurston, The Castes and Tribes of Southern India II, pp. 422-23

pea cook's feathers He held up his hands and saluted him "Come Kalkuda, take a seat," said the king

'Why did you send for me?" asked Kalkuda "*Now this is evening and the time to take one's food* therefore take five *seers* of rice, and go to your lodging, I shall tell you your work tomorrow morning and then you must work well,' said the king

Next morning the king directed him to do *fine work such as a basti* (temple) *with 1,000 pillars, and with 120 images* Seven temples with seven idols, a small temple inside and a garden outside an elephant in the outer yard *and also a large idol called Gummada* Work such that only one door was opened when a thousand doors were shut and that the thousand doors are opened when a single door was shut,—*a building for dancing* and *another for dancing girls*, and also others for lodgings,—an elephant that seemed to be running,—a fine horse and a lion

"*I want to choose my own stones*" said Kalkuda

"*Go there to a large rock*, and get the stones you like" said the king

"He went to a large rock called *Perya Kallum and remembered the gods on the four sides* He found the cleft in the stones and put his chisel there, and then he applied his axe The stone was separated *just like flesh from the blood* He then did fine work, and built the *basti* of a thousand pillars, etc [1]

Then the song proceeds —"*It is a year and six months since I came* I must go to my native country Therefore I beg leave,' said Kalkuda

The king presented him with a cot to lie down on a chair to sit on, five torches for light, a stick to walk with, clothes up to the shoulders and betel leaves to fill his mouth

Then Kalkuda's son seeing his own father's work said "*All the work is done well, except the image of a frog which is not done well* Its eyes are not done well Its paws are not well done Its eyes are not done well Its paws are not well done Its legs are not properly done"

1 Burnell The Devil Worship of the Tuluvas Ind, Ant XXV MS 93

"*Rāma, Rāma, Brêmêtti*" exclaimed Kalkuda, "*Many have seen and examined my work; many have been satisfied with it.* You were born but yesterday, and are only just grown up, *still you have found out a mistake in my work. If the king heard of this, he would tie me to an elephent's leg* and beat me with horse-whips. *He would dishonour me, and then what would be the use of my life?* So saying Kalkuda *put down his tools* and *took out a knife from his girdle* and *cut his own throat.* Thus did he kill himself.

"*Father, although you are dead....I will not leave your tools,*" said the son . . . *And he worked at Belgola better than his father had done.* He built the seven temples; he established a *Brahma* (?)[2] etc.

* * * *

Bairana-sūda (Bairāsu Wodeya ?) *King of Kārkal, heard the news, sent for him, and told him to work in his kingdom...... . He made a basti with a thousand pillars, 120 images, a dancing room, a lodging for dancing-girls, etc.*

"Go to a rock on dry land and *make a Gummatasāmi* there," said the king. *He made the Gummatasāmi.* He made a pillar called *Banta Kamba*, a pillar of *Mahārnavami.* He made a garden inside the temple.

"You people, bring fifty cocoanuts in a basket, and betel-nut on a fan; *call together the 5,000 people of Karkal, and raise the Gummatasāmi,*" he said. *But they could not do it.*

"*Very well,*" *said Kalkuda* (the younger), *and he put the left hand under the Gummata and raised it, and placed it on a base, and then he set the Gummata upright.*"

This interesting legend makes it clear that the Jainas employed Brāhmanical architects and sculptors as well. In the sequel we are told that the King of *Karkal* said, "*I will not let Kalkuda, who has worked in my kingdom, work in another country,*" and he cut off his left arm and right leg. In spite of this, however, Kalkuda

2 This is evidently a reference to the Brahma-deva Pillar, or Mānastambha on the Chandragiri Hill, which is a beautiful work of art. Cf Ep Car II Introd, p 24.

went to Timmaraja[1] King of Yenūr and *did fine work with only one arm and one leg* His sister, *Kallurti* (another devil worshipped in South Kanara) is said to have taken full revenge for the ill treatment of her brother to which the fall of the Kārkal Wodeyars is attributed[2] The legend also amply illustrates the life of a sculptor, his skill his sense of honour his hereditary attachment to his vocation, his small remuneration, as well his hardships which often disabled him for life, though his indefatigable enthusiasm for his task was more than could be curbed by such calamities But in spite of all this we cannot fail to notice that lack of versatility in expression, which resulted in repeating the same acts and same acts and same forms over and over again at Belgula, at Kārkal, and also at Yenūr almost like a machine turning out stereo type blocks "Numberless images might be figured," says Smith, "without adding anything to the reader's knowledge of Indian art They differ from one another merely in the degree of perfection attained in mechanical execution"[3] There is in the Madras Museum, a Jaina image on the base of which are written the words that King Salva Deva, a great lover of *Sahitya* (literature), "made (the image) according to rule"[4] There are innumerable such images made of metal, stone or even gems "The Jainas," as Walhouse has remarked, delighted in making their images of all substances and sizes but almost always invariable in attitude, whether that be seated or standing Most of the images belong to the Digambara sect or school, and are nude Small portable images of the saint are made of crystal, alabaster, soap stone, blood stone, and various other materials, while the larger are carved from whatever kind of stone is locally available" He also mentions a life size brass image of Śantiswara at Yenūr "erect and enshrined in burnished silver and brass work variegated with red

1 Evidently Timmaraja who erected the Yenūr colossus He must therefore have belonged to the Ajila or *Ajalar* family See Sturrock, op cit p [illegible]

2 Burnell op cit p 221

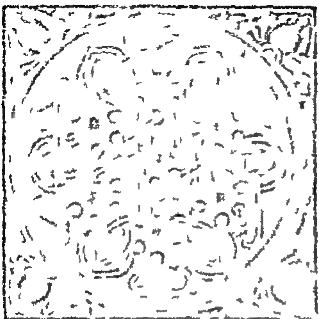
3 Smith op cit p 268

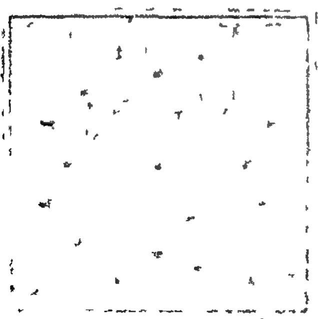
4 Rangacharya Inscriptions of the Madras Presidency II, 3?5

ornaments."[1] Each Tirthankara is distinguished from another by his colour, his *chinnha* and *lānchhana* and the *Yakshas* and *Yakshinis* who attend on him; the Svetambara images differ from the Digambara particularly in the nudity and absolute lack of ornament in the latter[2] But, in the words of Mr. Nanalal C. Mehta, "Somehow or other the aesthetic element was over-shadowed by other considerations, and size rather than strength in sculpture, elaboration of detail more than the beauty of form or outline in building, and narration more than accomplished expression in pictures become the dominant qualities of Indian art as developed under the austere influence of Jainism".[3]

Another peculiar contribution of the Jainas, not only to South Indian, but also to the whole of Indian or even Eastern art, is the free-standing pillar, found in front of almost every basti or Jaina temple in South India. "In the whole range of Indian art,' observes Smith, ' there is nothing, perhaps, equal to these Kanara pillars for good taste A particularly elegant example, 52½ ft., in height, faces a Jain temple at Mudbidrê. The material is granite, and the design is of singular grace (c. 11th or 12th cent. A. D.)"[4] There are about twenty such pillars in the District of South Kanara alone, which made many other distinctive contributions to Jaina art, as we shall notice in the course of these pages There are two kinds of such pillars in South India, namely, the *Brahma-deva-stambhas* and the *Mānastambhas*. The former bear figures of the Brahmanical god Brahma; the latter are taller and have a small pavilion at the top on the capital.[5] We have already referred to the *Tyagada Brahma-deva-pillar* at Chandragiri which is considered 'a beautiful work of art'. The fine *Māna-stambha* in front of the Parsvanatha Basti at Sravana Belgola is distinguished by a *śikhara* over the cell which is always surmounted by a small dome, "as is universally the case with every *vimāna* in Dra-

1. Walhouse cited by Smith, op. cit., pp. 238, 268.
2. Burgess, Digambara Jain Iconography, Ind. Ant. XXXII, p. 459 f.
3. Mehta, Studies in Indian Painting, p. 22.
4. Smith, op. cit., p. 22.
5. Ep. Ind. VIII, p. 123.





vidian architecture, instead of with the *āmalaka* ornament of the Northern *śikharas*'[1]

The *mānastambhas* or detached pillars are quite different from the *dīpa stambhas* or lamp posts of Hindu temples and in the opinion of Fergusson, "are the lineal descendants" of the Buddhist ones which bore either emblems or statues generally the former or figures of animals "Pillars are found of all ages in India" he says, "from Asoka pillars down to the Jainas They might be compared to the Egyptian obelisks—but when we look at the vast difference between their designs, it becomes evident that vast ages must have elapsed before the plain straight lined forms of the obelisks could have been changed into the complicated and airy forms of the Jaina *stambhas*"[2] Mr Walhouse remarks, "The whole capital and canopy (of Jaina pillars) are a wonder of light elegant, lightly decorated stone work; and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillars, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends"[3]

Apart from these pieces of individual statuary or architectural work, the Jainas distinguished themselves by their decorative sculpture, and attained a considerable degree of excellence in the perfection of their pillared chambers which were their favourite form of architecture These took various shapes and gave full play to a variety of designs differing according to the locality, the nature of the climate or the substance available out of which to execute their artistic ideals Dr Coomaraswamy finds fault with Fergusson for his 'sectarian classification" which he says 'is quite misleading' "for just as in the case of sculpture there are no Buddhist, Jaina, or Brāhmanical styles of architecture, but only Buddhist Jaina and Brāhmanical buildings *in the Indian style of the period*"[4] Without entangling ourselves in this controversial question, we might accept the geographical classification of Dr Coomaraswamy as an "adequate" (though not 'the only")

1 Fergusson op cit, p 75

2 *Ibid*, pp 81 83 3 Walhouse Ind Ant V p 39,

4 Coomaraswamy History of Indian and Indonesian Art pp 106-7

celassification, for our purposes. "The three most clearly differentiated types are," according to him, "the *Northern* marked by the curvilinear *śikhara* the *Southern,* with a terraced pyramidal tower, of which only the dome is called the *śikhara* and the *Central,* combining both types with peculiarities of its own." These three types are thus designated in the *Śilpa-śastras*:

A. *Nāgra*—mainly, North of the Vindhyas

B. *Vêsara*—Western India, the Deccan and Mysore.

C. *Drāvida*—Madras Presidency and North Ceylon.[1]

It is to be understood that these are the most predominent characteristics of each area, but not the monopoly of any particular zone. For instance, in a Ratta inscription of Saundatti that king Rājā "caused to be erected at Kalpôlê a temple of Jina, wonderful to be beheld, the diadem of the earth, *having three pinnacles* (*śikharas*) unequalled so that Brahma, Vishnu and Śiva were charmed with it;" he also built "a place of retreat for the high-minded devotees of the god Santinatha (Jina) *adorned with golden pinnacles* and arched portals, fashioned like a seamonster, and pillars of honour, etc"[2]

A more peculiar type of Jaina temples is found in South Kanara, below the *ghats* on the West Coast. Apart from the *Betta* or shrines consisting of an open court-yard surrounded with cloister round about the colossi, are the temples of Mudbidrê, belonging mostly to the time of Vijayanagar Kings,—with their sloping roofs of flat over-lapping slabs, and a peculiar type of stonescreen enclosing the sides, recalling a Buddhist railing—resemble Himalayan structures, rather than anything else more familiar in India.[3] The

1. Cf. *Ibid.*, pp. 106-7.
2. Fleet, Ratta *I*nscriptions, JBBRAS X, p. 235.
3. Cf. Coomaraswamy, op. cit., pp. 118-19, Fergusson, op. cit., p. 75 f. This ressmblance with Nepalese or Himalayan architecture is generally explained by saying that "similar conditions produced similar structures", but those who say this forget or are unaware of the existence of a number of Nepalese *jogis* at Kadri (Mangalore) from unknown times, in the vicinity of whose *Matha* are a number of tombs said to be those of Gorakh-Nath and his followers from the Himalays. If this fact does not wholly explain, it certainly lends support to the hypothesis of actual Northern influence.

influence of this style is seen not merely in South Kanara, but also further South along the coast Mr Logan observes, "The Jains seem to have left behind them one of their peculiar styles of temple architecture, for the Hindu temples, and even the Muhammedan mosques of Malabar, are all built in the style peculiar to the Jains, as it is still to be seen in the Jain bastis at Mudbidre and other places in the South Canara district" How the Muhammedans came to adopt this style for their mosques, he explains by stating that some of the original nine mosques were built on the sites of temples (or bastis) and perhaps the original buildings were retained or they set the model to later mosques [1]

Of the various styles we can only choose a few typical instances, and dwell more on the peculiarities of the consolidated Jaina art as a whole

The *bastis* on the Chandragiri Hill (Śravana Belgola) are fifteen in number They are all of the Dravidian style of architecture and are consequently built in gradually receding storeys each of which is ornamented with small simulated cells No curvilinear *śikhara*, such as is universal with the Northern Jainas occurs among them, and their general external appearance is more ornamental than that of the Northern Jaina temples [2] Quite in contrast to these are the bastis of Mudbidre

The external plainness of the Jaina temples of South Kanara gives no clue to the character of their interiors In the words of Fergusson, 'Nothing can exceed the richness or the variety with which they are carved *No two pillars are alike, and many are* ornamented to an extent that may almost seem fantastic Their massiveness and richness of carving bear evidence to their being copies of wooden models "[3]

This last observation is fully confirmed by an inscription in Coorg above the ghats, which definitely speaks of a *basadi* made of wood to serve as model for another to be later on constructed

1 Logan Malabar pp 88 618 cf Fergusson op cit pp 7 68 9

2 Cf Fergusson op cit I, p 172 *Ibid* II p 74

3 *Ibid*, pp 78 9; Sturrock op cit p 8

in *stone*. Its estimated cost was 330 *honnu*.[1] The wooden model must easily have been dispensed with in cases of material which was as tractable as wood. For instance, at Bāikur Buchanan observed a *basti*, built by the Wodeyars, about which he remarks—"The workmanship of the pillars and carving is superior to anything that I have seen in India, *probably owing to the nature of the stone which cuts better than the granite in common use, and preserves its angles better than the common pot-stone, of which many temples are constructed.*"[2] The variety of material used for temple structure, naturally varied with the locality. There is a Jaina temple in Belgaum with pillars of black Belgaum porphyry which is said to take a high polish and is strongly magnetic.[3] At Ellora, in one of the Jaina caves, a shrine has two round pillars of polished red stone which give a hollow metallic sound when tapped with the fingres.

The plans of these *bastis* are everywhere the same, with but slight variations according to size. They begin with spacious well lighted porches or *mandapas*—of which there are three in larger temples, (known respectively as *Tirthankara.—Gaddige,*—and *Chitra-mantapas*), and two in smaller ones (called *Tirthankara,* and *Namaskara-mandapas*)—leading to a cell in which the images of one or more Tirthankaras are placed.[4] A special type of the smaller shrines common in Mysore is what is called the *Trikutāchal* with three *garbha-girihas*, three *sukhanāsis*, and a *Navarangi* or porch. Shrines of this type are taken as good specimens of the Hoysala style, two examples of which are: the Jaina *basti* at Markuli (a small village 3 miles east of Ambuga on the Mysore Arsikere railway-line) and the Śantinātha temple of Jinanātha-pura (a mile north of Sravana Belgola). The latter is said to be the most ornate temple in the whole of Mysore State.[5]

1. Cf. Rice, Coorg Inscriptions, Ep. Car, I, 10, p. 56.
2. Buchanan, op. cit. III, pp. 132-33.
3. Cf. Belgaum, Bom. Gaz XXI, p. 540.
4. Fergusson, op. cit., p. 79; cf. Madras Ep Rep. 1916-17, pp. 113-14.
5. Mysore Archæological Report, 1925, p. 1; Ep. Car. II Introd., pp 32-33.

Another variety of smaller temple is that found at Guruvay anakerê in South Kanara It is a five pillared shrine, in front of the larger temple to which it belongs Fergusson has observed that four pillared shrines are not uncommon in the Southern temples, but five pillars is peculiar,—and also having access to the upper chambers (which in this case are three in number)[1] The Mêguti temple at Aihole, in the Bijupur District, is also said to be "*somewhat peculiar*, the shrine being surrounded by eight small rooms (8 ft wide) in place of a *pradakshina* passages"[2] But by far the best model of a Jaina temple is that of the *Chaturmukhbasti* or the four faced temple found at Karkal and Gersoppa, a plan of of the latter is given on the page opposite The following description of the former by Walhouse is also worth reproduction :—

'On a broad rocky platform below the hill on the side next the town stands a remarkable Jain temple, much differing from the ordinary Hindu style, square with a projecting columned portico facing each of the four quarters The columns, quadrangular for a third part of their height, pass into rounded sections separated by cable bands and have the sides and sections richly discorated with deities, and most graceful and intricate arabesque designs rosettes and stars leaf and scroll work, in endless combination, all made out of the carver's brain, wrought almost as finely as Chinese ivory work The friezes and pediments round the porticoes and temples are ornamented in like manner, and frequently a stone in the wall displays some quaint wonderfully well cut device, a hundred petalled flower disc, two serpents inextricably intertwined or a grotesque head surrounded with fruitage The temple is roofed with immense overlapping flag stones and bore some sort of cupola now ruined in the centre On the massive folding doors of one of the portals being rolled back, a strange sight is disclosed In a large square recess immediately facing the entrance stand three life sized images of burnished copper the counterparts of the great statue on the hill above, each

1 Fergusson op cit p 79

2 *Ibid* I p 356 cf Havell Ancient and Mediaeval Architecture of India p 68

resembling each, and looking weird and unearthly in the gloom of the adytum as the light through the opening doors falls upon them. A like triad stands within each of the other three entrances.' [1]

Details of the interiors of other Jaina temples also reveal an almost confusing variety of figures, decorations, and symbols. To give but one illustration, in the Mārkuli temple, already referred to, the main image of *Adiśvara* is seated in *Yogamudra*, palm on palm crossed legs in the front Behind him is a *prabhavāli* built against the wall On either side are standing figures of Bahubali and Parśvanātha with a serpent of five hoods over the heads of the latter, Bāhubali is flanked by two small figures one with six hands and another only with two. Of the six hands and another only with two Of the six hands of the former, three hold respectively an *ankuśa* a *kalaśa*, and a trident; the rest hold fruit. Another seated male figure has four hands holding an *ankuśa*, *akshamālā*, and fruit in the three with the fourth hand in *Varada-hasta* pose. There is also a female figure with twelve hands: Four on the right hand four on the left holding each a *chakra* or disc; two with a thunderbolt, and the remaining, with a lotus and *varada-hasta*. On the ceiling are lotuses and other flowers.[2]

Often on the pillars of Jaina temples are curious figures like that of the giraffe or the interlaced basket work of which Fergusson finds parallels in Irish manuscripts and crosses, as well as in America and the valley of the Danube in Europe [3] The number of pillars also is sometimes far in excess of mere architectural needs, as in the case of the Thousand Pillar Basti of Mudbidré. "It is very extensive, magnificient, containing on and about a thousand pillars and no two alike In the prophylaeum are several of great size, the lower halves square, the upper round and lessening, recalling Egyptian forms, and all covered with a wondrous wealth of sculptured gods, monsters, leaf and flower-work and astonishing arabesque interlacement cut with admirable clearness One quadrangular face bears a hymn graven curiously in twenty-

1. Cf Sturrock, op. cit., p 90.
2 Cf, Mysore Archæological Report, 1925, p. 2.
3. Cf. Fergusson, op. cit., p. 82.

five small compartments, each containing four compound words, which may be read as verses in all directions up or down along or across On the outer pediment there is a long procession of various animals living and mythical, among them the centaur and mermaid and an excellent representation of a giraffe "[1] The two specimens of wool carving, *viz*, the *Panchanari turaga* and *Navanari kunjara* are also from Mudbidre and belong to the Chouter's place there

To these illustrations from Mysore and the West Coast we might add another from the Deccan to show that the love of profusion and variety was essentially the same, whether in the North or South differing only in the details of expression The temple of Belgaum with its pillars of magnetic black porhyry has already been referred to Its sculptures are no less interesting The brackets of the pillars are ornamented with heads of cobra In each of the eight architraves which support the dome of the temple are carved five small cells or *mandirs* each containing a sitting Jina, and, between the cells are four attendants or supporters—standing figures each under a small canopy On one carved slab is a *figure on horse back with a high cap*, a canopy or umbrella over his head, and a woman behind him Another is a fancy alligator or *makara*, a large headed gaping and similarly mounted short legged dragon In the centre of the dome is a beautiful pendentive boldly designed and well executed, but damaged at one point The door leading from the hall to the inner temple has been very gracefully carved On the centre of the lintel is a sitting Jina and above the cornice are four sitting men On the neat side pillar colonettes are five bands with human groups in some of which the figures though little more than an inch high are in strong relief Inside the bands of human figures is a band of rampant lions, their necks adorned with high frills Outside the colonettes is a band of holy swans another of lions, and a third of human figures mostly on bended knees The pillars of the inner temple or *shālā* are square and massive, relieved by having all the

1 Walhouse quoted by Sturrock, op cit., p 86

chief fronts, the triangles on the base and neck, carved with flowers A richly carved door leads to the small ante-chamber in front of the shrine. On the under-side of the door cornice is carved a dancing figure between two musicians.[1]

It will be at once noticed that the austere asceticism which symbolised itself in the huge stoic and naked monoliths was also counter-balanced, if not more than counter-balanced by the abundance and variety of these sculptures which in a sense give expression to the later and emotionalised Jainism. There are not a few traces of the early tree and serpent worship of the Dravidians in Jaina sculptures; and the five, seven, or thousand headed *nāgā* is everywhere present in the Jaina temples. It is in fact, observes Fergusson, the *nāgā* that binds together and gives unity to the various religions of South India; and snake images are very frequent about Jaina temples particularly in Mysore and Kanara.[2] In the Chatur-mukha Basti at Gersoppa there is, among the various Digambara figures huddled together, one of Pārśvanātha with a beautifully carved *śeshaphana* as also in the exquisite seated marble figure still worshipped at Śravana Belgola Hindu or Brāhmaṇical influence is also traceable in the sculptures of India or Śakra, Garuda, Saraswati, Laxmi, etc,[3] striking examples of which are found in the figure of Laxmi bathed by two elephants at the entrance of the great enclosure round the Gummata at Belgola, and in the huge seated figure of Indra which has given the name of Indra-sabha to one of the most interesting caves at Ellora This naturally leads us to a consideration of Jaina excavations in South India, which are perhaps more numerous in the Bombay Division than anywhere else in the peninsula.—

"The varying practical requirements of the cult of each religion, of course, had an effect on the nature of the buildings required for particular purposes," observes Smith,[4] and the striking

1. Belgaum, Bom Gaz. XXI, pp. 540-41.
2. Cf Fergusson, op cit. I, pp. 42-44 and 44 n 1, *ibid* II, p. 79.
3. *Ibid.*, pp. 4-5: Buhler. Indian Sect of the Jainas, App by Burgess, Jaina Mythology, p. 61 f.
4. Smith, op. cit., p. 9.

paucity of Jaina caves, as compared with either Buddhist or Brāhmanical ones is a strong commentary upon those who adversely reflect upon the ascetic nature of the Jaina religion The importance attached to the lay community, as well as the active part played in wordly life by the Jaina monks, must largely account for the fact that although like the Buddhists the Jainas had a monastic organisation ' it never attained power like that of the Buddhist order" [1] As Burgess has pointed out, the Jaina caves in Western India do no exceed ½ per cent of the whole The figures given by him are Buddhist 720, Brāmanical 160, and Jaina only 35 The earliest of these belong to the 5th or 6th Century A D and the latest perhaps to the 12th century A D They are all Digambara and include one or two very fine specimens Like the Brahmanical caves they are also built after the plan of the Buddhist *vihāras*, probably "as a means of pressing their candidature for a larger share of popular favour" [2] *Chotā Kailās* or smaller Kailās at Ellora, is a curious example of the imitation of the works of one sect by the votaries of another "For there can be no doubt," says Burgess, "this was undertaken in imitation of the great Brāmanical temple of Kailāsa but on a much smaller scale" He also adds, "these two temples cannot be far distant in date" (9th cent A D) [3]

By far the most interesting caves of the Jainas in this part of the country are of course, the groups called the Indra Sabhā and Jagannātha Sabhā They constitute a maze of excavations leading from one into another, and Havell observes —" The name of the two temples and the orientation of their shrines indicate that unlike most of the other shrines at Ellora it was not the *tamasic* aspect of the *Trimūrti* that was here invoked but the blessings of the Rain God represented by Vishnu the preserver and his *śakti*, Lakshmi, the bringer of prosperity Only as the temples belonged to the Jaina sect they appealed specially to their saints, the Tirthankaras, to whom analogous divine powers were attri

1 Cf *Ibid* p 11

2 Burgess Cave Temples of India pp 170 71

3 *Ibid* pp 495 96

buted. With this qualification of the symbolism of the structure and ornament has the same significance as in Brāhmanical and Buddhist temples."[1]

The entrance of the Indra Sabhā is completely sculptured out of a living rock, like the Kailās temple which it resembles in many respects, though on a considerably smaller scale. Immediately within the walls is the Jaina equivalent of Śiva's Nandi shrine. The cubical cell is of the Brahma type, and stands for the four-headed Brahma symbol as seen at Elephantā, though the four sides are sculptured with the figure of Mahāvira. The main block of Indra Sabhā consists of a two-storeyed temple, out into the rock for a depth of over 100 ft "Perhaps the most remarkable of the sculpture of the Indra Sabhā," observes Havell, "is the strikingly beautiful and original façade of the side chapel on the western side of the main temple, the richness of which contrasts so admirably with the larger surfaces of the grand chhaja shading the the main front and the magnificent profile of the elephants kneeling above it."[2]

The figure of Indra himself is sculptured on the left of the main temple, seated on a sleeping elephant. Similarly seated under a tree, carved with infinite care and accuracy with birds, fruits and leaves brought into remarkable relief, is Indrāni in the opposite corner facing her Lord. This goddess, unlike Indra, is seated on a crouching lion whose head is completely damaged She is not the only goddess in the group. There is also four armed Devi with two discs in the upper hands, and a *vajra* in her left, resting on her knee. To her left is another goddess with eight arms seated on a pea-cock; evidently Saraswati. Some of the remarkable things to note are the dogs and deer at the foot of Mahāvira's throne in the Jagannātha group. There are numerous other figures common to other Jaina temples, but the magnificent pillar carving with nude standing Digambaras on their inner face, is particularly note-worthy. (See photograph opposite) | *To be Continued.*

1. Havell, op. cit., p 201 The Brāhmanical caves predominate at Ellora; they are 17. whereas Buddhist ones are 12, and Jina only five All are situated within the radius of a mile.
2. Cf. Plate LXI, Havell, op. cit, p 202.

A NOTE ON DEŚĪ GANA

Until before the time when the Jaina Order came to be divided into the two prime sections, *viz* 'Digambara' and 'Svētāmbara' it was also known by the general names such as "'आर्हत', 'अनेकान्त' etc In about 136 A V, which is about 80 81 A C it was split up into the two sections named above,[1] whenceforth the Digambara section also came to be called as the "Mūla Saugha" (मूलसंघ) especially in the Deccan and South India The famous Kondakundā chārva (कोण्डकुन्दाचार्य), who was also called Padmanandi (पद्मनन्दि)[2] is said to have been a leader of the Mūla Sangha during his time[3] About 700 years after the Nirvana of Śrī Mahāvīra (528 527 B C) *i e*, in about 172 173 A C, this Mūla Sangha again was divided into four sub sanghas, *viz* देवसंघ, नन्दिसंघ, सिंहसंघ and सेनसंघ by one Arhadbali Achārya who was the spiritual descendent of the great Kondakundāchārya and perhaps then or gradually later on came into being further sub divisions called 'gana' (गण), such as 'बलात्कारगण' 'पुस्तकगण' etc, and yet further ones called "gaccha" (गच्छ), such as सरस्वतीगच्छ पारिजातगच्छ, etc, and still further ones called 'bali' (बलि)[4] such as पनसोगेबलि etc As will be seen from the quotations given below, all these different sections, sub sections, etc, such as संघ, गण, गच्छ and बलि did not (and even now do not) connote any difference whatsoever, in tenets or observance or anything else of the members of adherents of the respective divisions, but, as it is said, they were brought into operations merely as a set off against the possible misunderstanding

---

1, छत्तीस वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे वलहाए उप्पण्णा सेवडो संघो ॥ (दर्शनसार श्लोक ११)

2 पद्मनन्दिप्रथमाभिधान श्रीकोण्डकुन्द । (श्रवण० शि० नं० ६४)

3 श्रीकोण्डकुन्दनामाभूमूलसंघाग्रणीगणी । (Ibid No 69)

4 Be it noted once for all that this word 'बलि' is *not* the Sanskrit word 'बलि' meaning a fold but a Sanskritised form of the Kanarese word 'बलि' (bali) which means a family and of course a spiritual family in this case

or the like that might be brought about in future, when the religion was spread broadcast over the land.

'अर्हद्बलिः संघचतुर्विधं स
श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघं ।
कालस्वभावादिहजायमान-
द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥
....
तत्सेननन्दित्रिदिवेशसिंह-
संघेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः ।
....
संघेषु तत्र गणगच्छवालत्रयेण
लोकस्य चक्षुषि मिथाक्षुषि नन्दिसंघे
देशीगणे धृतगुणेऽन्वितपुस्तकाख्य
गच्छे......... ....॥[1]
देवनन्दिसिंहसेनसिंघभेदवर्त्तिनां
देशभेदतः प्रबोधभाजि देवयोगिनां ।
वृत्ततः समस्ततोऽविरुद्धधर्मसेविनां
मध्यतः प्रसिद्ध एष नन्दिसंघ इत्यभूत ॥
नन्दिसघे सदेशीयगणे गच्छे च पुस्तके ।[2]
श्रीमूलसंघे ततो जाते नन्दिगणप्रभेदविलसद्देशीगणे विश्रुते ।[3]

Thus the *Deśīgaṇa* (देशीगण) is a section of the larger division called the Nandi Sangha (नन्दिसंघ). This *Deśīgaṇa* is variously called as देशीय, देशिय, देशिक, देशिग, देसिय, देसिग, महादेशि-गण in the several Kannada inscriptions at Śravaṇabelgola.[4] In the Sanskrit work called 'बाहुबलिचरित्र', which however, has not yet been published, the following explanation is offered to account for the name देशी which this section came to be acquired :—

पूर्वं जैनमतागमाब्धिविधुवच्छ्रीनन्दिसंघेऽभवन्
सुज्ञानर्द्धितपोधनाः कुवलयानन्दा मयूखा इव ।
सत्संघे भुवि देशदेशनिकरे श्रीसुप्रसिद्धे सति
श्रीदेशीयगणे द्वितीयविलसन्नाम्ना मिथः कथ्यते ॥[5]

1. Śravaṇabelgola Inscriptions. No. 254.
2. *Ibid*, No 258. 3. *Ibid*, No. 64 4. *Vide* Nos. 64 ; 70 , 73 ; 117 , 125 , 126 , 127 ; 128 ; 268 ; 351 etc.
5. Quoted in the Introduction (p. xxx) to " Dravya Saṅgraha " S,B.J.

Therefore the said गण seems to have been so called as its आचार्य became famous in every country (देशदेशान्तरे) they visited, perhaps on a religious mission to preach and spread Jainism But this explanation seems to be lacking in historical sense in that it clearly seems to have been easily based on the actual and primary meaning of the word 'देश' which means 'a country', or in other words this explanation is merely a ready made enlarge ment of the literal sense of 'देश' I cannot bring myself to accept this explanation, but shall offer mine own in instead, which, however, I leave to the readers to judge

That portion of the Deccan that lay between the Western Ghaut Bālāghāt (बालाघाट)[1] the *Karnāṭaka* country of the ancient and medieval times[2] and the river *Gōdāvarī* was called simply the *Dēśa*,[3] and the Brāhmanas, who were the inhabitants of this country of 'देश' are still known as देशस्थ' Brāhmanas It is because a certain portion of the members of the नन्दिसंघ colonised or settled or otherwise dwelt in the said country of देश I presume, their section must have come to be called देशीगण For as we have seen above there are other sections of 'Mūla Saugha,' which are called the पुन्नाट—गण' and 'काणूर—गण' Now in the former name, the word 'पुन्नाट'[4] is the name of a certain portion of South India, which now lies in the S W of the Mysore State, and its capital was Kittipur किित्तिपुर or Kittur (कित्तूर) which is now included in the हेग्गडदेवनकोटे tāluka of the said state The Greek geographer Ptolmey (150 A C) has mentioned the 'Pounnata' (or Pounata) as containing mines of the precious stone, known as 'beryl' (वैडूर्य) The पुन्नाट संघ of the Digambara Jainas was also known as कित्तूर संघ[5] Though it is not possible to say where the place called (काणूर)

1 The uplands of the present North Kanara district (in Bombay Presy) *Vide* Bombay Gazeteer Vol XIII pt I p 2

2 *Vide* Imperial Gazeteer Bombay Presey) vol I pp 194—196

3 महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष भाग १५ ('देश')

4 In the earlier times 'पुन्नाट' included also the present district of Coimbatore in the Madras Presidency

5 Sravanabelgola Inscrips No 81

was situated, it is quite clear at काणूरु[1] is and cannot but be the name of some certain locality, in that it contains the word 'ऊरु which is a Kanarese word meaning a town', a village etc., and having no sense else Therefore I believe that the गण called देशीगण must have acquired that name, undoubtedly on account of having been formed as such; or having had its habitation in, or having had some or other conspicuous connection with that portion of the Deccan known as देश

M. GOVIND PAI.

1. 'काणूरु' is the name of the place and thus the form of the nominative singular, whereas 'काणूरु' is the genitive singular of the same. In the case of 'पुन्नाट' also, the nom. sg. from is 'पुन्नाट' (where the Kanarese suffix नाडु=a country) and the forms 'पुन्नाडु' and 'पुन्नाट' are each the Gen sg. form, but as the said country has been termed in histories as पुन्नाट (though quite wrongly) following the terminology of the Greek Ptolemy, I have kept it as it is.

Opinions.

1 Mr A Banerji Sastri Professor & Head of the Department of Sanskrit Hindi Bengali & Maithil Patna College —

Appears to me to be a useful and promising undertaking Jaina texts contain valuable material for the history of India and their publication in the pages of this Journal will be of great help to students of Indology I hope the editors will keep this in view in their choice of materials

2 Prof E J Rapson M A 8 Mortimer Road Cambridge —

"Please accept my best thanks for your kindness in sending me a copy of the Jaina Antiquary I wish this Journal all success"

3 Mr Chintaharan Chakravarti Kavyatirtha M A Lecturer Bethune College —

"It is a fine publication and I wish it a glorious future I have every hope that you would not spare any pains for keeping up the scholarly standard of the paper so that it may win the sympathy and respect of the world of scholars The articles in the first number are all well written and bespeak a bright future I highly appreciate your idea of publishing old tents through the pages of your journal The Descriptive Catalogue of Sanskrit MSS and the Pratimālekha Samgraha will be highly useful publications when completed

4 Mr S C Ghoshal M A B L Saraswati Kavyatirtha, Vidya Bhushan Bharati Sadar Sub Divisional Officer writes from Cooch Behar —

"I welcome the appearance of the Bhaskara as there was no Journal of this nature specially devoted to antiquarian researches regarding Jainism I find the articles interesting and illuminating and wish every success to the undertaking"

5 Mr V S Agrawala Curzon Museum of Archæology Muttra —

'I am indeed grateful for your kindness in sending me the first issue of the Jain Antiquary which from its inception forebodes such encouraging performance It supplies a real want in the domain of Jainology and must very soon occupy its due place as the standard Quarterly Research Journal concentrating on all branches of Jain literature, art

and archæology. It was painful to see Jain sources languishing for want of a suitable medium of utterance, and you therefore deserve unanimous congratulation for having so admirably realized the needs of the time."

6. Prof. Otto Stein PH.D. writes from Prague (Zekoslovekia) :—

"The Jain Antiquary is highly interesting and I will not fail to contribute."

7. Prof. Bibhuti Bhushan Dutta writes :—

"Kindly accept my best thanks for the first issue of the Jain Antiquary. It is very promising."

RULES.

1 The "Jaina Antiquary" (जैन सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, i e, in June, September, December, and March

2 The inland subscription is Rs 4 (including postage) and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum payable in advance Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1 4 0

3 Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc, from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles, notes reviews, etc, type written, and addressed to,

K P JAIN Esq M R A S,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj Dist Etah (India)

(*N B*—Journals in exchange should also be sent to this address)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes etc

9 The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at *Arrah (India)*

11 The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

PROF HIRALAL JAIN M A, L L B
PROF A N UPADHYE M A
B KAMTA PRASAD JAIN M R A S
PT K BHUJABALI SHASTRI

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

———:*:———

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग की १म किरण ... १)

„ २य तथा ३य सम्मिलित किरणे ... १।)

(४) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ॥)
(यह अर्द्ध मूल्य है)

(५) भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)।

प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,
श्रीसरस्वती प्रिण्टिङ्ग वर्क्स, आरा।

जैन सिद्धान्त भास्कर



The Jain Antiquary

An Anglo-Hindi Quarterly Journal

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग —

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

ॐ

॥ श्रीजिनाय नमः ॥



THE JAINA ANTIQUARY

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २	सितम्बर १९३५। भाद्रपद वीर नि० २४६१	किरण २

चन्द्रगुप्त

(ले०—श्री महेश चन्द्र प्रसाद एम० ए०)

बाहर में थे सूर्य सम, भीतर चन्द्र समान।
गहन ज्ञान गरिमा रही, तुम में गुप्त सुजान ॥१॥

घर तज दक्षिण को गये, षट् रिपु हनने हेतु।
रामचन्द्र ज्यों त्यों गये, वध हित रावण केतु ॥२॥

त्याग प्राज्य साम्राज्य को, अनुपम भोग विलास।
परम क्षोभ प्रासाद को, पर्वत किया निवास ॥३॥

पर्वत जो सबके लिए, कणगन तुमको तौन।
दृढ़ता है जिसमें उसे, कठिन वस्तु है कौन? ॥४॥

की सेवा गुरु-वर्य की, दुरा सु-गुरु ऐश्वर्य।
सूर्य्य-चन्द्र-कुल-चन्द्र भी, चन्द्र ! भरित आश्चर्य ॥५॥

गिरिवर पर यह है नहीं, तव पदाङ्क ऋषिराज ! ।
यह पदाङ्क कलिराज की, प्रबल पीठ पर राज ! ॥६॥

युद्ध-वीर जैसे रहे, धर्म्म-वीर त्यों तात ! ।
बाहर-भीतर अखिल अरि के सर रक्खी लात ॥७॥

ग्रीक-राज-दुहिता हुई, दयिता तव बल देख।
श्रद्धा-सुरसरिता बनी, वनिता निश्छल पेख ॥८॥

जग को जीत महीप जन, करें स्वराज्य प्रसार।
निज को जीत अजीत प्रभु ! किया बोध-विस्तार ॥९॥

महा मही के मोह को, मार, टार जंजाल।
किया स्नेह शुचि शून्य से, अकथ, अलौकिक चाल ॥१०॥

समझा स्वामी ने सकल, शुभ शरीर-विज्ञान।
अवनी, अवनिप अन्य जो, प्रायः परम अ-जान ॥११॥

ले मृदु जीवन को अहह ! किया सिन्धु ने क्षार।
रखा रसातल में सदा, बना उसे निस्सार ॥१२॥

तुमने जीवन ग्रहण कर, किया मृदुलतागार।
बचा रसातल-गमन से, लहा जन्म का सार ॥१३॥

नयनानन्द-द चन्द्र बस, दिन में मन्द मलीन।
आत्मानन्द-द चन्द्र ! तव, नित्य प्रकाश प्रवीण ! ॥१४॥

धन्य जनेन्द्र ! जिनेन्द्र-जन ! धन्य ज्ञान गुण-केन्द्र ! ।
त्यागे असु उपवास-व्रत, सकुचित किया सुरेन्द्र ॥१५॥

मौर्य्य ! औज्ज औ सौर्य्य तव, सिमटे सब निज बीच।
क्षुधा मार संसार में, हुए अमर अरि-मीच ! ॥१६॥

बाहुबली जी प्रेम से, आश्रम को तव नव्य।
कबसे देख रहे खड़े, गड़े भाव में भव्य ! ॥१७॥

इस प्रपंच के पित्त से, पीत हुआ यह चित्त।
लख न सके तव शुभ्रता, व्याप विषमता-वित्त ॥१८॥

सुख-निधान नित मान हम, करें पान संसार।
दो सु-दृष्टि जिसमें इसे, जानें दुख-भंडार ॥१९॥

हवा लगी न, जगी नहीं, यह मम मानस-धूर।
लगे हवा ! यह जग उठे ! हे वैखानस-सूर ! ॥२०॥

जैन-पुरातत्त्व

(ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०)

'पुरातत्त्व' कहते हैं प्राचीन वार्ता विज्ञान को। यह वह विज्ञान है जिसमें अतीत काल का सारा ज्ञान गर्भित है और सच पूछिये तो वही पूर्ण पुरातत्त्वज्ञ हो सकता है जो अतीतकाल की प्रत्येक घटना का ठीक ठीक ज्ञान हमें करा सके। यह सामर्थ्य आजकल के साधारण मनुष्यों में नहीं है। एक ज़माना था कि जब यहां पर ऐसे पुरातत्त्वज्ञ' मौजूद थे जो वर्तमान और भविष्यत्वार्ता के साथ साथ भूतकाल की घटनाओं का भी पूरा ज्ञान एक साथ करा सकते थे। उन्होंने मानवी कमज़ोरियों पर विजय प्राप्त कर सर्वांगरूप ज्ञान—सर्वज्ञता प्राप्त की थी और उसी के बल वह अतीत का ज्ञान अथवा यों कहिये पुरातत्त्व का परिचय पूरा पूरा करा सकते थे। वीर विजयी होने के कारण ही वह 'जिन' कहलाते थे और संसार में पूज्य दृष्टि से देखे जाते थे। सिन्धुदेश के प्राचीन निवासी उन्हीं 'जिन' की विनय करते थे, यह बात आज वहाँ के पुरातत्त्व से स्पष्ट है*। बौद्ध साहित्य भी 'जिन' महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी प्रकट करता है†। इन ऐतिहासिक उल्लेखों अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो प्रत्यक्षप्रमाणों से आज से लगभग दो ढाई हजार वर्ष और उससे भी पहले एक सर्वज्ञ 'पुरातत्त्वज्ञ' का अस्तित्व यहां प्रमाणित होता है। किन्तु उपरान्त यह विज्ञता—सर्वज्ञ होने की कला—यहां के अयोग्य मनुष्यों को नसीब न रही। वह उनके सीमित ज्ञान और परिमित शक्ति के बाहर की वस्तु हो गई। फलतः पुरातत्त्व के वक्ता भी आज पूरे काबिल नहीं मिलते। जो हैं वह अपनी अपनी दृष्टि और अपने अपने ज्ञान के अनुकूल उसकी उपासना कर रहे हैं और अपने आविष्कारों और खोजों से दुनिया को चकित कर रहे हैं। किन्तु सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि जिस मत में सबसे ज्यादा पूर्ण 'जिन' 'पुरातत्त्वज्ञ' हुये, उसी में आज एक भी साधारण सा पुरातत्त्वज्ञ देखने को नहीं मिलता। मेरा मतलब जैनमत से है। 'जिन' भगवान का बताया हुआ मत जिनमत या जैन मत है। और उस मत सम्बन्धी प्राचीन वार्ता को प्रकट करनेवाले जो भी साधन और सामग्री हो, वह सब "जैन पुरातत्त्व" है। उसमें जैन

---

* इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली भा० ८ अंक २ और मार्डनरिव्यू, अगस्त १९३२ देखो।

† मज्झिमनिकाय १।२३८ व ९२-९३; अंगुत्तरनिकाय ३।७४।इत्यादि।

साहित्य, जैनकला, जैनध्वंसावशेष, जैन-शिलालेख, जैनमुद्रा, जैन-तीर्थ इत्यादि सब ही का समावेश हो जाता है। किन्तु इस "जैनपुरातत्त्व" के वास्तविक ज्ञानी नज़र नहीं आते। जैनसाहित्य के मर्मी सर्वाङ्ग विद्वान् ऐसा कोई नहीं जिसने सारे उपलब्ध साहित्य का मथन किया हो और 'दूध का दूध और पानी का पानी' करके उसका सच्चा निखरा हुआ रूप जगत के सामने रक्खा हो। आज एक नहीं अनेक सरस्वती-भाण्डार अछूते पड़े हैं— उनमें न जाने कितने अमूल्य ग्रन्थ-रत्न छुपे हुये हैं। उनको प्रकाश में लानेवाले जितने चाहियें उतने नहीं हैं। धन्यवाद है श्रीजैकोबी-सदृश पाश्चात्य विद्वानों को जिन्होंने दुनियां में जैनसाहित्य का प्रकाश फैलाया है। किन्तु सोचिये तो एक अजैन और वह भी विदेशी आपके धार्मिक-साहित्य का मूल्य क्या आँक सकेगा? कैसे वह जैन और अजैन प्राचीन कीर्तियों की ठीक-ठीक भेदविवक्षा कर सकेगा? कैसे वह मानेगा कि भारत के बाहर भी जैनपुरातत्त्व के चिह्न मिल सकते हैं? वह तो जानता और मानता है कि जैन-धर्म का प्रचार भ० पार्श्वनाथ के समय से हुआ है और वह भारत के बाहर नहीं पहुंचा है। उसे एक आस्तिक जैनी की भांति यह कैसे विश्वास हो कि एक समय सारे भूमंडल पर जैन-धर्म व्याप्त था। धर्मविज्ञान के प्रथम प्रचारक तीर्थंकर भगवान ही थे। जैन चिह्नों का, वर्तमान की ज्ञात और आगे ज्ञात होनेवाली सारी दुनियां में, मिलना असम्भव नहीं है। जम्बूद्वीप में अनेक कृत्रिम और अकृत्रिम जैन कीर्तियों का अस्तित्व जैनशास्त्र बतलाते हैं। संसार में उपलब्ध पुरातत्त्व का जैनदृष्टि से यदि अवलोकन किया जाय तो उपर्युक्त व्याख्या सत्य प्रमाणित हो सकती है। जरा सोचिये, क्या भारत में ऐसी गलतियां नहीं हुईं कि जिनमें जैन-कीर्तियां बौद्धादि की बता दी गईं? जैनसम्राट् खारवेल और उनका प्रसिद्ध शिलालेख एक समय बौद्धाम्नाय के माने जाते थे। विद्वानों का यह भी खयाल था कि जैनस्तूप होते ही नहीं; परन्तु मथुरा के पुरातत्त्व ने इस धारणा को गलत साबित कर दिया। अब भी विद्वानों की यह धारणा है कि जैनों में मूर्ति बनाने का रिवाज बहुत प्राचीन नहीं है। उनकी इस मान्यता में कारण यह है कि जैनसाधु के लिये मूर्ति का आश्रय लेना—उसके दर्शन करना आवश्यक नहीं हैं! किन्तु किसलिये आवश्यक नहीं है? इसका ठीक-सा उत्तर उनके पास नहीं है, क्योंकि वह जैनों की मूर्ति-पूजा के उद्देश्य से ही अनभिज्ञ हैं। जैनों की मूर्तिपूजा आदर्शपूजा है—वह पत्थर की पूजा नहीं है। वीतराग-विज्ञानता को प्राप्त करने के लिये एक गृहस्थ मुमुक्षु वैसी ही मूर्तियों से उसकी शिक्षा ग्रहण करता है। साधु इस शिक्षा को पार कर जाता है—इसलिये उसके लिये मूर्ति का दर्शन करना आवश्यक नहीं है—परन्तु उसके लिये उसका निषेध भी नहीं है। अब भला कहिये, यह कैसे माना जाय कि एक अत्यन्त प्राचीनकाल में जैनमूर्तियां नहीं थीं! यह

सच है कि जैनेतर पुरातत्वज्ञों ने भरसक कोशिश जैनकीर्तियों को प्रकाश में लाने की की है और उन्हीं के अध्यवसाय का यह फल है कि जैनपुरातत्व किञ्चित् प्रकाश में आया है और इसके लिये जैनी उनके चिरऋणी रहेंगे। परन्तु जैनदृष्टि से जैन पुरातत्व का ठीक विश्लेषण करना और उसको पहचानना एक जैन विद्वान् का ही काम है। जहाँ अजैन विद्वान् नहीं पहुँच सकते और जिस बात को वह नहीं समझ सकते उसको एक जैन पुरातत्वज्ञ सहज में समझ सकता है और उसकी गम्य भी विशेष है। कौशाम्बी जैसे स्थान का कोई भी ठीक ठीक पता को समझी खुदाई हुये बिना नहीं चल सकता। फिर भी यदि वहां से आई हुई और इलाहाबाद के जैनमन्दिरों में विराजमान मूर्तियों के लेखों का अध्ययन किया जाय तो इस विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही जैनमूर्तियों की आकृति पर भी नया प्रकाश पड सकता है। जैन पुरातत्व का अध्ययन करके एक जैन बहुत सी नई और बडे मूल्य की बातें जगत को भेंट कर सकता है! किन्तु जैनों में इस विषय की ओर रुचि ही नहीं है। आजसे लगभग सोलह वर्ष पहले स्वर्गीय सर विन्सेन्ट स्मिथ ने जैनों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और एक बडा फण्ड एकत्र करके एक "जैन पुरातत्व समिति" स्थापित करने का प्रस्ताव जैन समाज के सामने रक्खा था। किन्तु जैनों पर उसका कुछ भी असर न पड़ा। इस अवस्था में सबसे पहली आवश्यकता जैनपुरातत्व के उद्धार के लिये यह है कि जैनों में पुरातत्व के प्रति रुचि पैदा की जाय और उन्हें उसका महत्व दरसाया जाय। साथ ही जगत के विद्वानों के समक्ष जैनदृष्टि से पुरातत्व को दरसाने की भी आवश्यकता है। इनके द्वारा जो भी जैन पुरातत्व विषयक श्रेष्ठ कार्य होते हैं उनका परिचय जनों को कराया जाय। यह सब कार्य बिना एक संगठित शक्ति के नहीं हो सकता। इसी आवश्यकता को महसूस करके 'श्रीजैनसिद्धान्त भवन' आरा के सुयोग्य संचालकों ने प्रस्तुत त्रैमासिक पत्र को प्रकाशित किया है। इसका उद्देश उपर्युक्त कार्य का सिद्धि करना है और अपने पृष्ठों द्वारा प्राचीन जैन वार्ता विधान अथवा पुरातत्व का यथासम्भव प्रकाश करना है। उसका प्रत्येक शब्द ज्ञान रत्न की तुलना करे और सच्चे पुरातत्वज्ञ 'जिन' के 'विज्ञान' का प्रभाव दुनिया में फैलावे, यही हमारी हार्दिक भावना है। यह यथानाम ठीक "जैनसिद्धान्त भास्कर" सिद्ध हो, यही कामना है। साथ ही यह वाञ्छा है कि जैनी शीघ्र ही जैन पुरातत्व के उद्धार करने के महत्व को हृदयङ्गम करलें और एक बडा सा फण्ड स्थापित करके जैन पुरातत्वज्ञ एक नहीं अनेक इस भूतल पर घूमते हुए जैनकीर्तियों का उद्धार करनेवाले पैदा कर दें। "जैन भास्कर" के अभ्युदय में इन भावनाओं की सफलता के लिये हम सच्चे पुरातत्वज्ञ श्री जिनेन्द्र का पवित्र हृदय से स्मरण करते हैं और हमारी विनय है कि प्रत्येक जैन और

अजैन विद्वान् अपनी बिसात इस पुण्य-यज्ञ में हमारा साथी बने। प्रत्येक जिनेन्द्रभक्त का यह कर्तव्य है कि वह इस 'भास्कर' का स्वयं ग्राहक बने और अपने स्थान के मंदिर, सिद्धान्त-भवन और वाचनालय में इसके पहुचाने का प्रबन्ध करें। 'भास्कर' का उदय चलतू साहित्य को सिरज कर थोड़ी देर का मनोरंजन करने के लिये नहीं हुआ है—इसका उदय स्थायी और अमूल्य साहित्य—ठोस ज्ञान को सिरजने के लिये हुआ है। क्या आप इस 'ज्ञान-भास्कर' से अपना गृह प्रकाशित नहीं करेंगे? यदि आप ज्ञान के उपासक हैं तो इसे अवश्य अपनाइये।

विदुषी पम्पा देवी

(ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

प्राचीन कर्नाटक जैन विदुषियों में कन्ति को छोड़ कर उल्लेखार्ह अन्य किसी प्राचीन जैन महिला का नाम उपलब्ध नहीं होता है, यह सचमुच खेद की बात है। प्राचीन साहित्यान्वेषण से यह प्रमाणित हो चुका है कि प्राक्तन जैन विद्वान् भारत की प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य के स्तम्भ स्वरूप थे। निष्पक्षपाती सभी विद्वान् उन प्राचीन जैन विद्वानों की कीर्ति-गाथा को आज भी सहर्ष गाते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन जैन विदुषियों की संख्या की कमी वस्तुतः अधिक खटकती है। यह जैन स्त्रीसमाज का दुर्भाग्य है। अस्तु, आज मैं एक कर्नाटक जैन विदुषी महिला का संक्षिप्त परिचय 'भास्कर' के सुज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित करूँगा।

इस विदुषी महिला का नाम पम्पा देवी है। इनके पूज्य पिता का नाम तैल सान्तार और माता का नाम चत्तल देवी था। सान्तार वंश का यह तैलसान्तार पोम्बुच्च में राज्य-शासन करता रहा। यह सर्व विदित है कि प्राचीन काल में पोम्बुच्च एक समृद्धशाली जैन राजधानी थी। वहां पर पूर्वोक्त सान्तार वंश के अन्यान्य शासकों के द्वारा निर्मापित कई जैनस्मारक आज भी जीर्णावस्था में दृष्टिगोचर होते हैं। उल्लिखित तैल सान्तार महादानी रहा; इसीलिये यह जगदेक-दानी भी कहलाता था। इनकी धर्म-पत्नी पूर्वोक्त चत्तल देवी भी विशिष्ट जिन-भक्ता थी।

इन आदर्श दम्पतियों को श्रीवल्लभ अथवा विक्रम सान्तार नामक पुत्र तथा पम्पा देवी नामकी पुत्री थी। पम्पा देवी महापुराण की विशेष मर्मज्ञा रही। यह अनन्य पण्डिता थीं इसीलिये शासनदेवी कही जाती थीं। इन्हें वाञ्चल देवी नाम की केवल एक पुत्री थी। यह वाञ्चल चालुक्य-राजा तैल के सेनापति मल्लप्प की पुत्री एवं नागदेव की स्त्री

अत्तिमब्बे के समान विशेष प्रवीण थी। अत्तिमब्बे भी परम जिनभक्ता थीं। इन्होंने कन्नड कवि श्रेष्ठ राजमान्य महाकवि पोन्न के शान्ति पुराण की एक हजार प्रति लिखवा कर धर्मार्थ वितरण किया था तथा डेढ हजार सुवर्ण और रत्नमयी जिन मूर्तियों का निर्माण कराया था।* कर्नाटक प्रान्त के प्राकृत दानवीरों की श्रेणी में इस दान चिन्ता मणि अत्तिमब्बे का नाम अवश्य उल्लेख योग्य है। एक दिन ग्रीष्मकाल में यह श्रवणबेल्गोल स्थित बाहुबली स्वामी की सर्वाङ्गसुन्दर, लोक विख्यात मूर्ति के दर्शनार्थ वहां पर गयी थी। पर्वत पर चढ़ती हुई अत्तिमब्बे तीखी धूप से सन्तप्त हो मन में सोचने लगी कि अगर इस समय कुछ वर्षा होती तो बड़ा अच्छा होता। फलतः तत्क्षण अकस्मात् मेघ एकत्रित होकर जोरों से पानी बरसाने लगा। इस अचिन्तित आश्चर्यकारी घटना से अत्तिमब्बे की भक्ति द्विगुणित हुई। वह निरायास पर्वत पर चढ कर असीम भक्ति से बाहुबली स्वामी की पूजा कर सन्तुष्ट हुई।

कन्नड कवि रत्नत्रयों में अन्यतम सरमान्य महाकवि रन्न ने अपने अजित पुराण में इस शुभ घटना का उल्लेख किया है। उल्लिखित हमारी पम्पा देवी ने 'अष्ट विधार्चना महाभिषेक' तथा 'चतुर्भक्ति' की रचना की है। यह बात पूर्वोक्त पोम्बुच्च के तोरण बागिलु के उत्तर स्तम्भ पर स्थित सन् ११४८ के शिलालेख से विदित होती है। यह द्राविड संघ, नन्दिगण, अरुङ्गलान्वय के अजित सेन अथवा वादीभसिंह की शिष्या थीं। श्रीवादीभसिंह प्राचीन आदर्श जैन संस्कृत महाकवियों में अन्यतम हैं।† इनके 'गद्यचिन्तामणि' 'क्षत्रचूडामणि' काव्य सुप्रसिद्ध हैं। पूर्वोक्त इनकी ये कृतियां कार्योचित माधुर्य्यादि गुणों से ओतप्रोत हैं। 'पदलालित्य, मनोहर शब्दसन्निवेश, सरल प्रतिपादनशैली, आश्चर्यकारी कल्पनाचातुर्य्य, चित्ताकर्षक धर्मोपदेश, धर्मानुकूल नीति, पुण्यपाप सम्बन्धी स्वाभाविक शुभाशुभ फलों का वर्णन' आदि अनेक प्राकृत विशिष्ट गुणों से वादीभसिंह के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अजितसेन, वादीभसिंह, ओडेयरदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा खयाल है कि इनमें से ओडेयरदेव जन्मनाम, अजितसेन दीक्षानाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित उपाधि है। वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात है। परन्तु इनका ओडेयरदेव नाम, मद्रास प्रान्त के पोलूरु ताल्लूक में स्थित समाधिस्थान, द्राविड संघ ये तीनों इनको तामिल प्रान्तीय प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। इनकी प्राञ्जल कृतियों का आश्रय लेकर ही तामिल में 'जीवक चिन्तामणि' और कन्नड में 'जीवन्धर चरिते' रचे गये हैं। पोम्बुच्च के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वे वहां भी कुछ समय रहे। अतः वादीभसिंह शायद कन्नड भी जानते थे।

*विशेष परिचय के लिये "दिगम्बर जैन" वर्ष २३ अंक १—२ देखें।

†श्रवणबेलगोल का शिलालेख नं० ५४ (६७) देखें।

विदित होता है कि वादीभसिंह को आदर्श महापुरुष महाराज जीवन्धर की जीवनी अधिक प्रिय थी। फलत: इनकी दोनों कृतियां तद्भव मोक्षगामी, आचार-शिरोमणि, महाप्रतापी जीवन्धर की जीवनी को चित्रित करती है। महाराज जीवन्धर का हेमांगद* देश वर्तमान मैसूर राज्य के अन्तर्गत था ऐसा कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का मत है। जीवन्धर श्रीमहावीर स्वामी के समकालीन थे।

शिवमोग्ग जिलान्तर्गत पोम्बुच्च ग्राम में स्थित नं० ४० के सन् १०७७ के मानस्तम्भगत शिलालेख से विदित होता है कि विक्रम सान्तार ने अजितसेन पण्डितदेव का चरण धोकर भूमि दान किया। कडूर जिलान्तर्गत कोप्प तालूक कोप्प ग्राम में वर्तमान नं० ३ सन् (लगभग) १०९० के शिलालेख से ज्ञात होता है कि महाराज मारसान्तार के वंशज ने अपने गुरु मुनि वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में वहां के स्मारक को स्थापित किया। इसी प्रकार शिवमोग्ग जिला के तीर्थहल्लि ताल्लूक के नं० १९२ के सन् ११०३ के शिलालेख† से अवगत होता है कि पंचवस्ति के सामने अनन्दूर में चत्तल देवी और त्रिभुवनमल्ल सान्तारदेव ने द्राविड़संघ अरुङ्गलान्वय के अजितसेन पण्डितदेव के नाम से एक पाषाण-चैत्यालय बनवाया। इन उल्लिखित लेखों से ज्ञात होता है कि वादीभसिंह का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। सोमदेव सूरिकृत 'यशस्तिलक-चम्पू' के द्वितीय आश्वासगत १२६वें पद्य की व्याख्या में श्रीश्रुतसागर सूरि ने 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः' सोमदेव सूरि के इस पद्य को उद्धृत कर वादीभसिंह और वादिराज को सतीर्थ बतलाया है। वादिराज ने सन् १०२५ में अपने पार्श्वनाथ-काव्य को पूर्ण किया था। अतः इससे भी वादीभसिंह का काल निर्विवाद रूप में ग्यारहवीं शताब्दी ही सिद्ध होती है।

और एक बात है, वादीभसिंह के ग्रन्थों में से अन्यतम "क्षत्रचूडामणि" के अन्त में 'राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः' ॥ यह पद्य है। इस पद्यगत 'राजराज' शब्द अवश्य विचारणीय है। मेरा खयाल है कि यह श्लेषात्मक शब्द है। इसमें ग्रन्थकर्ता ने जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य किसी राजा का भी उल्लेख किया है। वह राजा चोलवंश का राजराज होना चाहिये। राजराज चोल का समय भी यही ग्याहरवीं शताब्दी है।

इसी अवसर पर मुझे सरस्वती भाग २६, खण्ड २ में प्रकाशित श्रीयुत शम्भुनाथ त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य के द्वारा लिखित "महाकवि हरिचन्द्र" शीर्षक लेख को देखने का

---

* इस विषय पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जायगा। (लेखक)

† इन शिलालेखों के लिये "मद्रास व मैसूर प्रान्त के जैनस्मारक" देखें।

सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसमें एक स्थान पर व्याकरणाचार्य जी ने हरिचन्द्र ने वादीभसिंह से कथा नहीं ली इस बात को खुलासा करते हुए यों लिखा है—"राजकेशरी वर्मा—उपाधि-धारी राजकुलोत्तुंग के राज्यकाल में सेक्किलार (तामिल कवि) ने "पिरियपुराणम्" ग्रन्थ बनाया है। उसमें "तिरुत्तक्कदेवर" कविरत्न "जीवकचिन्तामणि" का कुछ जिक्र हुआ है। तिरुत्तक्कदेवर ने अपने "जीवक चिन्तामणि" में लिखा है कि "वादीभ" के द्वारा प्रारंभ किये हुए इस ग्रन्थ के शेष भाग को हमने पूरा किया। इस नरेश का समय ग्यारहवीं इसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित है। अतः वादीभ का यही समय है।" व्याकरणाचार्य के इस समुद्धृत प्रमाण से भी मेरा उल्लिखित वादीभसिंह के समय संबन्धी कथन और पुष्ट पड़ जाता है। परन्तु एक बात यहां पर विचारणीय है। वह यह है कि वादीभसिंह के जीवन्धर जीवनी विषयक दोनों ग्रन्थ संस्कृत में हैं और पूर्ण हैं। तिरुत्तकदेवर का "जीवक चिन्तामणि" तामिल में है। ऐसी दशा में तिरुत्तक्कदेवर कैसे लिख सकते हैं कि 'वादीभ के द्वारा प्रारंभ किये हुए इस ग्रन्थ के शेष भाग को हमने पूरा किया'। अगर तिरुत्तकदेवर का यह कथन सत्य है तो मानना पड़ेगा कि "जीवकचिन्तामणि" को वादीभसिंह ने ही प्रारम्भ किया था; पीछे इसी के शेष भाग को तिरुत्तकदेवर ने पूरा किया। इससे वादीभसिंह का जन्म स्थान भी एक प्रकार से निश्चित हो जाता है जो कि ऊपर अनुमान से सिद्ध किया गया था।

अब पाठकों को भलीभांति विदित हो गया होगा कि श्रीवादीभसिंह का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये उल्लिखित प्रमाणों का उल्लेख कर इस लेख के कलेवर को बढ़ाना पड़ा। क्योंकि वादीभसिंह के कालनिर्णय के बिना पम्पादेवी के कालनिर्णय का कोई अन्य साधन नहीं दीखता। जब वादीभसिंह का समय ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध होता है तब इनकी शिष्या पम्पादेवी का समय भी लगभग यही है ऐसा मानना ही पड़ेगा।



बिजोलिया के शिलालेख

(ले०—श्रीयुत मुनि हिमांशुविजय, न्यायकाव्यतीर्थ)

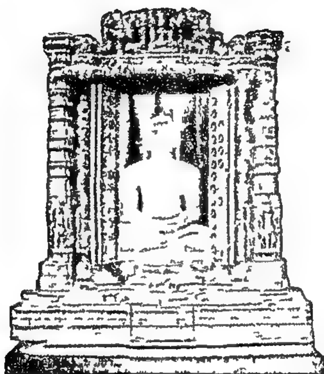
प्राक्कथन

मारवाड़ में 'बिजोलिया' गाँव से आध मील दूर पूर्वाग्नेय कोण में 'पार्श्वनाथ' नाम का एक स्थान है। वहाँ पर पत्थर में अनेक लेख खुदे हुए हैं। उनकी किसी महाशय ने कॉपी की थी। उस कॉपी पर से श्रीयुत पं० भ्रमर शर्मा जी ने उसकी नकल की। और उसे श्रीयुत सत्यनारायणजी पंड्या शिवपुरी लाए थे। उपयुक्त समझ कर मैंने शर्मा जी की लिखित कॉपी से प्रस्तुत कॉपी लिखी है। अतः मैं दोनों को साधुवाद देता हूँ।

दूसरी कॉपीकार ने लिखा है:—इस समय 'पार्श्वनाथ' नामक जैनमंदिर में हनुमान, शिवजी और गणपति की मूर्त्ति स्थापित कर वैदिकों ने उसपर आधिपत्य जमाया है। मुकदमा चल रहा है। पहले यहाँ पर 'महाशाश' नामक मंत्री जैनधर्मानुयायी थे। उक्त प्रदेश में जैनियों का प्रचार और उदय बहुत बड़ा था। इतिहासज्ञों के लिए भी यह एक काम की चीज है।

उक्त शिलालेख का बहुत कुछ भाग मूल कॉपीकार के पढ़ने में साफ नहीं आया होगा इसलिए उन्होंने छोड़ दिया। दूसरी नकल करनेवाले शर्मा जी को प्रथम कॉपीकार के जितने अक्षर साफ समझ में नहीं आए उतने उन्होंने भी छोड़ दिये। और शर्माजी की कॉपी से मैंने यह कॉपी की है। मुझे जो पाठ संदिग्ध लगा वहाँ मैंने (?) ऐसा चिह्न किया है। जो पाठ पढ़ने में साफ नहीं आया उसको मैंने भी ·· चिह्न कर छोड़ दिया है। और बाकी शुद्ध या अशुद्ध जैसा पाठ उक्त दूसरी कॉपी में था वह मैंने यहाँ उतारा है। लेख का सम्बन्ध इतिहास के साथ होने से मूलस्थान में खुदे हुए शिलालेख से प्रस्तुत लेख शुद्ध किया जाय तो बहुत लाभ हो सकता है।

यहाँ दो शिलालेखों की कॉपी है। दूसरा प्रमाण में बड़ा है और पुरातत्त्वज्ञों के लिए भी काम का है। उसमें कई भारतीय राजा, मंत्री, श्रेष्ठी और उनके कुलों का वर्णन है। अनेक जैनमुनि और उनके संप्रदायों का उल्लेख है। जैनों के लिये—दिगम्बरों के लिये यह विशेष उपयुक्त है।



ाच द्रप्रभ

(ग्यपुराय कला)

यह चित्र १म किरण म प्रकाशित "जैन मूर्त्तियाँ" लग्र स सम्बद्ध ■

THE S W ARRAH.



इन दो के अतिरिक्त और भी लेख शर्मा जी की कॉपी में थे। 'रेवती नदी का शिलालेख' इन दो से भी बड़ा था। उसमें 'उत्तमगिरि' का वर्णन है जो कि उत्तम काव्य बद्ध है। उक्त काव्य का नाम 'उत्तरपुराण' लिखा है। उसके पांचो सर्ग उस शिलालेख (रेवती नदी के शिलालेख) में खुदे हुए हैं। उसमें 'दरश कण सुवेशे स्थितवति भवति स्मेरधवलारविन्दे " (उत्तरपुराण सर्ग १—५) पद्य है। यह पद्य वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर का है। आर्हतमतप्रभाकर पूना से प्रकाशित स्या० रत्नाकर के प्रथम भाग के पृष्ठ २ में यह चतुर्थ पद्य है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त काव्य की रचना वादिदेव सूरि के काल में या उसके पश्चात् हुई है। वादिदेव सूरि का सत्ताकाल विक्रम सं० ११४३ से १२२५ तक है। उक्त तीसरे शिलालेख के अन्त में वि० सं० १२३६ फाल्गुन वदि १० लिखा है। इसके प्रारम्भ का भाग इस प्रकार है —

"ओम् नमः सर्वज्ञाय—अज्ञानतिमिरान्धानां त्रैलोक्यसयजन्तूनाम्। नेत्रमुन्मीलितं येन तं वन्दे ऋषभं प्रभुम् ॥"

इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में "श्रीसिद्धिसूरिविरचिते उत्तमशिखरपुराणे (प्रथम सर्ग द्वितीय सर्ग इत्यादि)

इस पंचसर्गात्मक खुदे हुए काव्य के कुल २९४ पद्य हैं। इसमें पार्श्वनाथ कमठ का प्रसंग और भ० महावीर गौतम का मनोज्ञ वर्णन है। इतिहासज्ञों के लिये विशेष महत्त्व का नहीं होने से हमने इसकी नकल नहीं की है।

मैं आशा करता हूँ कि 'बिजोलिया' के सभी शिलालेखों के विषय में पुरातत्त्वज्ञ विशेष शोध करेंगे।

शिलालेख स्तम्भ नं० २

ॐ अर्हद्भ्यो नमः। स्वायंभुवं चिदानन्दं स्वभावं शाश्वतोदयम्। ध्यानध्वस्ततमस्तोमं ममेयं महिमं स्तुमः ॥१॥ प्रत्योपेतमपि व्ययोदययुतं स्वात्मकम् ; लोकव्यापि परं यदेकमपि वानेकं च सूक्ष्मं महत्। श्रीचन्द्रामृतपूरपूर्णमपि यच्छून्यं स्वसंवेदनम्। ज्ञानाद्गम्यमगम्यमत्यभिमतप्राप्त्यै स्तुवे प्रहातात् ॥२॥ त्वमकसोमोद्धृत तलेऽस्मिन् धनानमूर्त्ति किमु विश्वरूप। कृत्वा विशिष्टार्थनिमित्तवृत्तं स पार्श्वनाथस्तनुतां श्रियं वः ॥३॥ श्रीपार्श्वनाथ क्रियतां श्रियं वो जगत्त्रयीनन्दितपादपद्म ॥ विलोकिता येन पदार्थसार्थं निजेन सज्ञानविलोचनेन ॥४॥ सद्वृत्ता खलु यत्र लोकमहिता मुक्ता भवन्ति श्रियो; रत्नानामपि भद्रये सुकृतिनो यः सर्वदोपास्यते। सद्धर्मामृतपूरपुष्टसुमनस्स्याद्वाद चन्द्रोदया कान्ती सोऽत्रसनातनो विजयते श्रीमूलसंघोदधि ॥५॥ श्रीगौतमस्यादिगणीशवंशे

श्रीकुन्दकुन्दो हि मुनिर्बभूव । पट्टे ष्वनेकेशु (पु) गतेषु तस्माच्छ्रीधर्मचन्द्रो गणिपु प्रसिद्धः ॥६॥ भवोद्भवपरिश्रमप्रशमकेलिकौतूहली । सुधारससमः सदा जयति यद्वचः प्रक्रमः स मे मुनिमतल्लिका × × × × × ×

विकचमल्लिकाजित्वर, प्रसृत्वरयशोभरो भवतु रत्नकीर्त्तिर्मुदे ॥७॥ प्रसर्प्यद्वै यन्ति प्रशमनपटुः सौगतशिरःकरोटीकुट्टाककपितखरचावकिनिकरः । अहंकारस्मेरः स्मरदमनदीक्षापरिकरः । प्रभाचन्द्रो जियाज्जिनपतिमतांभोनिधिविधुः ॥८॥ श्रीपद्मनन्दिविद्वन्विख्याता त्रिभुवनेऽपि कीर्त्तिस्ते । हारति हीरति हसति हरोत्तंसमनुहरति ॥९॥ ये के (एके तर्कवितर्ककर्कशधियः केचित्परं । सादसा अन्ये लक्षणलक्षणा परम · · · ·धौरेकसाराः परे । सर्वग्रन्थरहस्यधौतधिपणो (वि)ज्ञानवाचस्पतिः, क्षोणीमण्डलमण्डनं भवति हि श्रीपद्मनन्दिर्गुरु' ॥१०॥ श्रीमत्प्रभेन्द्रपट्टेऽस्मिन्पद्मनन्दीयतीश्वरः । तत्पट्टाम्बुधिसेवीव शुभचन्द्रो विराजते ॥११॥ गंभीरध्वनिसुन्दरे समकरे चारित्र्यलक्ष्म्याकरे कारुण्यामृतदैवतै गुणगणश्रेणीमणिदुस्तरे ! स ·········समुल्लसत् · ········ मावेला कुले सागरेः पट्टे श्रीमुनिपद्मनंदि······ · भेन्दुर्गणी ॥१२॥ महाव्रतैः योऽत्र विभूषितोऽपि संसक्तचेताः समितौ गरिष्ठः । तथा हि कीर्त्या समलिगकश्च श्रीहेमकीर्त्तिरभवद्यतीन्द्र' ॥१३॥ शिष्योयं शुभचन्द्रस्य हेमकीर्त्तिर्महान्सुधीः येन वाक्यामृतेनापि पोषिता भव्यपादपाः ॥१४॥ नि······धिकेयं सकला × × × × × ×

विशुद्धा श्रीहेमकीर्त्तिर्यतिनः सुसिद्ध ॥ आस्तां च तावज्जगतीतलेऽस्मिन् यावत् स्यवो(?) चन्द्रदिवाकरौ च ॥१५॥ सं० ४१८० वर्षे फाल्गुन शुद ८ चन्द्र ।

शिला लेख नं० १ बावड़ी के उत्तर ।

चिद्रूपं सहजोदितं निरवधि ज्ञानैकनिष्ठार्पितम् नित्योन्मीलितमुल्लसत्वरकलं स्यात्कारविस्फारितं । सद्युक्तं परमाद्भुतं शिवसुखानंदास्पदं शाश्वतम् नौमि स्तौमि जपामि यामि शरणं तज्ज्योतिरात्मस्थितम् ॥१॥ नास्तं गतः कुग्रहसंग्रहो वा नो तीव्रतेजा··· ······ वः । ·············नैव सुदुष्टदेहा पूर्वो रविस्तात्समुदो वृ वः ॥२॥ भवेच्छ्रीशान्ति · सा सुत्तविभवभगी भवभृत्तां, विभो यया भाति स्फुरितनखरोचि करयुगम् । विनम्राणामेषामखिलकृतिनां मंगलमयीं, स्थिरीकर्तुं ललक्ष्मीमुपरचितरंगावृजमिव ॥३॥ नासाश्वासेन येन प्रबलबलभृतो पूरितः पांचजन्यः । ·· ·· · ······खरदरमोलत · ·········पद्माग्रे दशौ ॥ हस्ताङ्गुष्ठेन शार्ङ्गधनुरतुलबलं कृतसमारोप्य विष्णोरंगुल्यां दोलितोऽयं हलभृदि वनितं तस्य नेमैस्तनोमि ॥४॥ प्रांशुप्राकारकान्तात्रिदशपरिवृढव्यूहवद्धावकाशा । वाचाला केतुकोटिकणद्य मणिमसी किंकिणीभिः समन्तात् ॥ यस्य व्याख्यानभूमिमहह किमिद-

मित्याकुला कौतुकेन। प्रेक्षन्ते प्राणभाज: स खलु विजयतां तीर्थकृत्पार्श्वनाथ ॥५॥ वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमानमहोदय वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमानमहोदय ॥६॥ शारदाम् सारदाम् स्तौमि सारदानविशारदाम्। भारतीं भारतीं भक्तभुक्तिमुक्तिविशारदाम् ॥७॥ नि प्रत्यूहमुपास्महे जिनपतीन्त त्रानपि स्वामिन। श्रीनाभेयपुरःसरा परस्पापीयूषपाथो निधीन्॥ यज्ज्योति परभागभाननतया मुक्तात्मतामाश्रिता। श्रीमुक्तिनितम्बिनी स्तनतट हारश्रिय बिभ्रति ॥८॥ भव्यानां हृदयाभिरामसवि सद्धर्मत सस्थिति। कर्मोन्मूलनसगति शुभततिनिर्बाधबाधोद्धृति॥ जा (जी) वानामुपकारकारणरति श्रेय श्रिया सद्गतिर्दियान्मे भवभूति शिवमतिर्जैने चतुर्विंशति ॥९॥ श्रीचाहमान क्षिमीराजवशपौर्वाप्ययावपि जडावतद्वा। विस्तोत्तवानन्नृपरम्प्रयुक्तो नो निष्फल सार युतो नतो नो ॥१०॥ लावण्यनिर्मलमहोज्वलिताग्रयष्टिक्षीरचलच्चूचिपरिधानचाली॥

गपर्यतपयोधरभारभुग्ना सा नर्मदानि जनीन ततोऽपि विप्रो ॥११॥ विप्र श्रीवत्सगोत्रेऽभूदहिच्छत्रपुरे पुरा। सामन्तोऽनन्तसामन्तपूर्णे तल्लनृपस्ततः ॥१२॥ तस्मात्सच्छ्रीनयदानविग्रहनृपो श्रीचन्द्रगोपेन्द्रको। तस्माद्दुर्लभराजशासिनृपो गूवाक सद्बन्धनो॥ श्रीमद्गूवकराजनि र्यनृपति श्रीसिंहराट्विग्रहो। श्रीमद्दुर्लभगुन्दवाक्पतिनृपा श्रीवीर्यरामोऽनुज ॥१३॥ श्रीचण्डोऽवनिपेति राणकवर श्रीसिंहटदूसलस्तभ्राताथ ततोऽपि वीसलनृप श्रीराजदेवीप्रिय॥ पृथ्वीराजनृपोऽथ तत्तनुभवो रासल्यदेवी विभु॥ तत्पुत्रो जयदेव इत्यविनय सोमलदेवीपति ॥१४॥ हत्वा गर्मि चलाधिपयत्रो राजादिवीर वय क्षिप्र भ्रूरहता तनयनुहरे श्रीमागदुदान्वितम्॥ श्रीमत्सोल्लणदण्डनायकवर संग्राम जीव घनियन्त्रित करभके य नष्ट सात् ॥१५॥ ध्यर्णोराजास्य सूनुधृतहृदयहरि सत्वनासिष्टसीमो गाम्भीर्यौदार्यवर्य सममवनपराह्लप्रमध्यो नन्दनास। तद्भिन्न अन्तनायस्थितिरधृतमहाफलहेतु मध्यो, न श्राभुत्ता नदीनाकरचितरति।

सैन्य ॥१६॥ यद्राज्य कुशवारण प्रति हत राजाकुत्रा स्वय येनानैयनचित्र मेतत्पुनमन्यामहे ता प्रति। तद्विन्नप्रतिभासते सुभ्रातेना निराण नारायणन्यग्राराचरणन भगवरणं श्रीदेवराजं प्रति ॥१७॥ कुवलय निकाशकर्त्ता विग्रहराजो चित्र तत्तनयस्त्वचित्र यन्न जडतीणमकलङ्क ॥१८॥ आदानत्व घन आदानपा परस्य भाग्रा। यस्य दधन्फरयाद फरात्र करताल ॥१९॥ कृतान्तपथसज्जोऽभूत्सज्जनोऽसज्जनो भुव। वैकुन्तं कुन्तपालो नामतो वैकुन्तपालक ॥२०॥ जायालिपुरं ज्वालापुरं कृता पहिका पिपली। वानडल तुम्य रोषानङ्ग्ले या शौर्येण ॥२१॥ प्रतोल्या चरलभ्या च येन विश्रामितं यशः। दिल्लिकाग्रहणं त्रान्तमेलिका लाभ्यं भत ॥२२॥ तज्ज्यण्न्भ्रानृपुत्रोऽभूत्पृथ्वीराज पृथुपम। तस्मादनितहेमांगो हेमपृत्तोऽमरत्तत ॥२३॥ श्रीविधमायतनादि पार्श्वनाथ

स्वयंभुवे। दत्तं मेराद्दरीग्रामं मुक्तिभुक्त्योश्च हेतुना ॥२४॥ स्वर्णादिदाननिवहैर्दशभिर्महद्भिः तोलाचयै नगरदानपरैश्च विप्राः। येनार्चिताश्चतुरभूपतिवस्तुपालचाक्रस्य चाहमनसिद्धिकरीगृहीतः॥२५॥ सोमेश्वरलब्धराज्यस्ततः सोमेश्वरो नृपः। सोमेश्वरनुतो यस्माद्यतः सोमेश्वरो भवेत्॥२६॥ प्रतापलंकेश्वरइत्यभिख्यां यः प्राप्तवान्प्रौढप्रभुःप्रतापः। यस्माभिमुख्यैर्वरवैरमुख्याः केचिन्मृताः केचिदभिद्रुताश्च ॥२७॥ येन श्रीपार्श्वनाथाय रेवातीरे स्वयंभुवे। शासने रेवणाग्रामं दत्तं स्वर्गाभिकांक्षया ॥२८॥ अंधकाराय कवं शानुक्रमः‥‥ ‥‥ तीर्थे श्रीनेमिनाथस्य राज्ये नारोयणस्य च। अम्भोधिमथनाऽेव वलिभिर्वलशालिभिः ॥२९॥ निर्गतः प्रवरो वंशो देववृन्दैः समाश्रितः। श्रीमालपत्तने स्थाने स्थापितः शतमन्युना ॥३०॥ श्रीमालशैलप्रवरावचूलः परोत्तरः सत्त्वगुरुः सुवृत्तः। प्राग्वाटबंशोऽस्ति वभूव तस्मिन्मुक्तोपमो वैश्रवणाभिधान ॥३१॥ तदा मनोहरे चेत्रे कारितम् जिनमंदिरम्।‥‥‥‥ क्राग्वायस (क्रान्त्वायश) तत्वमेकत्र स्थिरतां गतम्॥३२॥ यो चीकश्चन्द्रशुचिप्रमाणि थांग्रे रकादौ जिनमंदिराणि। कीर्त्तिद्रुमाराम-संमृद्धिहेतौ विभान्ति कंदा इव यान्यमेदाः ॥३३॥ कल्लोलमांसलितकीर्त्तिसुधासमुद्रः। सद्बुद्धि बंधु खधूद्धरणे ‥‥॥ पारोपकार्यकरणे प्रगुणान्तरात्मा। श्रीबन्धुतमस्य तनय‥‥ ‥ पदेऽभूत्॥३४॥ श्चुमंकरस्तस्य सुनोऽजनिष्ट शिष्यैर्महिष्टैः परिकीर्त्यकीर्त्तिः। श्रीजासटो सूतवदेकजन्मा यदंगजन्मा खलु पुण्यराशिः ॥३५॥‥‥‥‥ ‥‥‥॥३६॥ चत्वारश्चतुराचाराः पुत्रा पात्रं शुभश्रियः। अमुष्यामुष्यधर्माणो बभूवुर्भार्ययोर्द्वयोः॥३७॥ एकस्यां द्वावजायेतां श्रीमदाम्बटपद्मटौ। अपरस्यां‥‥‥‥‥‥लक्ष्नटदेसलौ ॥३८॥ प्राकारंनखेरवीरवेश्मकारणपाटवम्। प्रकटितं खोयवित्तेन वानुनेय महीतलम्॥३९॥ पुत्रौ पवित्रौ गुणरत्नपात्रौ, विशुद्धमात्रौ समशीलसूत्रौ। बभूवतुर्लक्ष्मटकस्य नेत्रौ मुनीन्द्ररामेन्द्वभिधौ प्रसन्नौ ॥४०॥ षड्वंडागमवद्धसौहृदभराः षड्गीव रत्नेश्वराः षड्भेदेन्द्रियवश्यजाः परिकरा षड्कर्मकल्पता दश॥ षड्वंडावनिकीर्त्तिपालनपराः षाड्गुण्य-चिन्ताकराः। षट्द्रुष्यम्बुजभास्कराः समभवन् षड्देशलस्यां गजाः ॥४१॥ श्रेष्ठी दुद्दलनायकः प्रथमकः श्रीमांसलो कामजिद्देवपर्श इतोऽपि सीयकवरः श्रीसाहको नामतः॥ यतेसंक्रमतो जिनक्रमयुगाम्भोजोकभूयोपमा। मान्या राजशतैर्वदान्यमतयो राजंति जम्भूत्सवः॥४२॥ हर्म्यं श्रीवर्द्धमानस्याजयमेरोर्विभूषणम्। कारितं यैर्महाभोगैर्विमानमिव नाकिनाम्॥४३॥ तेषामन्तःश्रियः पात्रं सोयकश्रेष्ठिभूषणम्। मेरडणाकरमहादुर्गं भूषयामास मूर्तिना ॥४४॥ यो न्यायांवरसेचनैकजलदः कोर्तेर्निधानं परं। सौजन्याम्बुजनीविकासनरविः पापाद्रिभेदे पविः॥ कारुण्यामृतबारिधेर्विलसने राकाशशांकोपमो नित्यं साधुजनोपकारकरणव्यापारबद्धादरः॥४५॥ येनाकारि जितारिनेमिभुवनं देवाद्रि

ष्ट गोद्धर । चचत्काचनचारुदडकलशश्रेणीप्रभाभासुरम् ॥ खेलत्खेचरसुन्दरीप्रभमरं भज जोर्वीजनैध रोश्वापदशैलप्ट गजिनभूत्प्रोद्दामस यश्रिय ॥४६॥ श्रीसीयकस्य भार्ये स्तो नागश्रीमामशाभिधे आद्यायास्तु त्रय पुत्रा द्वितीयाया सुतद्वयम् ॥४७॥ पचाचार परायणात्ममतय पंचागमत्तोज्ज्वला पंचज्ञानविचारणासुचतुरा पंचेंद्रियार्थोज्झया ॥ श्रीमत्पंचगुरु प्रणाममनस पचाणुव्रवृत्ता पचैतेतन्यामह रया श्रीसोयक श्रेष्ठिन ॥४८॥ आद्य श्रीनागदेवोऽभूल्लोलाकश्चोज्ज्वलस्तथा । महीधरो देवधरो ह्यावेतावनुजो ॥४९॥ उज्ज्वलस्यागज मानौ श्रीमद्दुर्लभलक्ष्मणो अभूता भुवनो द्भासियशोदुर्लभलक्ष्मणो ॥५०॥ गांभीर्यं जलधे स्थिरत्वमचलात्तेजस्विता भास्वत सौम्यं च द्रमस शुचित्वम् स्रोतस्विनीत परम् । प्रत्येक परिगृह्य विस्मयविदिता यो वेधसा सादरं, म ये बीजहृते ृत सुकृतिना सल्लोलकश्रेष्ठिन ॥५१॥ अथागम मन्दिरमेव कीर्त्ते श्री वि यवल्लीं घनधा यवल्ली । तत्रातु तलस्तुरा फणिप्ररेश पुरत स्थित स ॥५२॥ उवाच कस्त्व किमिहाभ्युपेत कुत सत प्राह फणीश्वरोऽहम् । पातालमूलात्तव दर्शनाय श्रीपार्श्वनाथ स्वयमेष्यतीह ॥५३॥ प्रातस्तेन समुत्थाय न कचन विवेचितम् स्वप्नस्यान्तर्मनो भावा यतो धातादिमूपित ॥५४॥ लोलाकस्य प्रियास्तिस्रो बभूवुर्मनस प्रिया ललिता कमला श्रीश्च लक्ष्मीलक्ष्मी सत्तामय ॥५५॥ तत सभक्ता ललिता बभाषे गत्ता प्रिया तस्य निशि प्रसुताम् शृणुष्व भद्रे धरणोहमेहि श्री दर्शयामि ॥५६॥ तथा स चोक्तो यत्यमदिशत्—मेतत् श्रीपार्श्वनाथाय समुद्धर्ति स प्रासादमध्य च करिष्यतीह ॥५७॥ गत्वा पुनर्लोलिकमेवमूचे भो भक्तमुक्तानुमतासिरक्ता । देवे धने धर्मविधौ जिनेशो श्रीरेवतीतीर मिहापपार्श्वं ॥५८॥ समुद्धरेन कुरु धर्मकार्य त्वं कारय श्रीजिनचैत्यगेह । येनाप्स्यसि श्रीकुलकीर्तिपुत्रपौत्रीससतानसुखाविवर्धि ॥५९॥ तदेत भीमाख्य वनमिह निवासो जिनपतेस्तवा त प्रावाणा शठकमठमुक्तागगनत । सुधारमि द्रवयत कुण्डसरित सद्गैतत्स्थान रगम पापपरमम् ॥६०॥ अत्रास्त्युत्तममुत्तमाद्रिशिखर साधुर्मं चोच्छ्रित, तीर्थं श्रीवरतापिकात्परमम् देवोतिमुक्ताभिध सन्यश्चात्र घटेश्वर सुरनुतो देव कुमारेश्वर, सौभाग्येश्वरवत्तिणेश्वरसुरो माकर्दाईरिस्येश्वरा ॥६१॥ सत्योम्त्रेश्वरोदेवो महामहेश्वरादीप । ॥६२॥ ॥६३॥ कर्त्तिनाथ च य स्वामिन । सगमेश कुटीशश्च मुखेश्वरवटेश्वरौ ॥६४॥ नित्य प्रमोदितादेवो सिद्धेश्वरमयायुत । गगा भेद च सोमीश गणनाथ त्रिपुरान्तक ॥६५॥ सस्या त्रिकोटिलिङ्गाना यत्रास्ति कुटिला नदी । स्वर्णज्योतभ्वरो देव सर्म कपिलधारया ॥६६॥ नाल्पमृत्युन धा रोगा न दुर्भिक्ष इत्येव ॥६७॥ श्ररावतारक्रियाम् । कृत्वा पारजिनेश्वरोऽत्र कृपया सौधायवास पति । शक्तेर्यं

क्रिथिकश्रियस्त्रिभुवनं प्राणी प्रबोधप्रभुः ॥६६॥ इत्याकर्ण्य वचो विशुद्धमनसा तस्योरग-स्वामिनः। संप्रातः प्रतिबुद्धय्यपार्श्वममितः क्षोणीं विदार्य क्षणात्। तावत्तत्र विभुं ददर्श सहसा निःप्राकृताकारिणम्। कुण्डाभ्यर्णतपश्च ध्यानं दधतं स्वायंभुव· श्रीश्रितम् ॥७०॥ नासीद्यत्र जिनेन्द्रपादनमनं नो धर्मकर्मार्जनं न स्नानं न विलेपनं न च तपो ध्यानं न दानार्चनम्। नो वा सन्मुनिदर्शनम् .. .. बभूव सदनं ... .॥७१॥ तत्कुण्डमध्यादथ निर्जगाम श्रीसीय कस्यागमनेन पद्मस्याम् ॥७२॥

यदावतारमाकार्षीदत्र पार्श्वजिनेश्वरः। तन्नागह्रदे यत्तं गिरिस्तंव· प्रयातसः ॥७३॥ यत्तोऽपि दत्तवान् स्वप्नं लक्ष्मणाब्रह्मचारिणः। तत्राहमपि प्राप्स्यामिऽयत्र पार्श्वविभुर्मम ॥७४॥ रेवतीतीरकुण्डेन या नारी स्नानमाचरेत्। सा पुत्रभर्तृसौभाग्यं लक्ष्मीं च लभते स्थिराम् ॥७५॥ ब्राह्मण क्षत्रियो वापि वैश्यो वा शूद्रजोऽपि वा। . .. . स्नानकर्त्ता स प्राप्नोत्युत्तमां गतिम् ॥७६॥ धनं धान्यं धरा धौरेयतांधियम्। धराधिपनि सन्मानं लक्ष्मीं प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥७७॥ तीर्थाश्चर्यमिदम् जनेन विदितं यद् गीयते सांप्रतं। कुष्ठप्रेतपिशाचकुज्वररुजाहीनांगगंडापहम्। सन्यासं च चकार निर्गतभयम् घूकश्रृगालोद्दयं। काकीनाकभवापदेव कलया किं किं न संपद्यते ॥७८॥ श्लाघ्यं जन्म कृतं धनं च सफलं नो तीर्थ सिद्धि मति सद्धर्मापि च दर्शित तनुरुहः स्वप्नोर्पितसत्यतां। ... .. रद्दष्टिदूषितमनाः संदृष्टिमार्गे कृतो, जैन... ....त्रिलोलकश्रेष्ठिनः ॥७९॥ किं मेरोः श्रृंगमेतत्किमुत हिमगिरेः कूटकोटिः प्रकाण्डं किंवा कैलासकूटं किमुत सुरपतेः स्वर्विमानं स्वविमानं। इत्थं यत्तर्क्यतेस्म प्रतिदिनममरैर्मर्त्यराजोत्करैर्वा। मध्ये श्रीलोलकस्य त्रिभुवनभरणादुच्छ्रितं कीर्तिपुंजं ॥८०॥ पवनोद्धूतपताका पाणिको भव्यमुख्यान्पटुपरहनिनादा दाह्वयत्येश जैनकलि कलुष मथोच्चैर्दूरमुत्साहयेद्वा, त्रिभुवनविभु—भान्नृत्यती ॥८१॥ काश्चित्स्नानकमाधरंति दधते काश्चिच्च गीतोत्सवं काश्चित् बिभ्रति तालवंशललितं कुर्वन्ति नृत्यंचका। काश्चिद्वाद्यमुपाह्वयन्ति निभृतं वीणास्वरं काश्चन यत्रोच्चैर्ध्वजकिंकिणी युवतयः केषां मुदे नाभवन् ॥८२॥ यः सद्वृत्तयुतः मुदोपि कलितस्त्रासादिदोषोज्झितश्चिन्ताख्यातपदार्थदानचतुरश्चिन्तामणेः सोदरः सोऽभूच्छ्रीजिनचन्द्रसूरिसुपुरुस्त्युतपादपंकेरुहो यो भ्र्व्यापतपोऽथ लोलकवरस्तीर्थं चकारैष सः ॥८३॥ रेवत्याः सरितस्तटे तरुवराः यत्र व्हयन्ते भृशं शाखा वाहुलतोत्करैर्नखरान्पुंस्कोकिलानां रुतैः। मत्पुष्पोच्चयपत्रसत्फलचयैरानिर्मलैः भो भोभ्यर्चयत् अभिषेकयत् वा श्रीपार्श्वनाथजिनम् ॥८४॥ यावत्पुष्करतीर्थसैकतकुलं यावच्च गंगाजलं यावत्तारकचन्द्रभास्करकराः यावच्च दिक्कुंजराः। यावच्छ्रीजिनचंद्रशासनमिदं यावन्महेन्द्रं पदं तावत्तीर्थयुतं प्रशास्मसहितं जैनं

स्थिरं मंदिरम् ॥८५॥ पूर्वतो रेवतीसिंधु पिपुर तथा। दक्षिणस्यां मठस्थानमुदीच्या कुण्डमुत्तमम् ॥८६॥ दक्षिणोत्तरतो धाटी नानावृक्षैरलंकृतम्। कारितं लोलिकेनैतत्सप्तायतनसंयुतम् ॥८७॥ श्रीमन्माथसिंहे ऽभूद्गुणभद्रो महामुनि। कृता प्रशस्तिरेषा कवीना कण्ठभूषणम् ॥८८॥ नैगमान्वयकायस्थच्छितिपस्य च सूनुना। लिखितं केसवेनेदं मुक्ताफलमिवोज्वलम् ॥८९॥ हरसिंहसूत्रधारस्य तत्पुत्रो पाल्हणो भवितद् गजेनाहडनापि निर्मापि जिनमंदिरम् ॥९०॥ नाल्मि पुत्रगोविन्द पाल्हणसुत देल्हण। उत्कीर्ण प्रशस्ति कीर्तिस्तम्भम् प्रतिष्ठितम् ॥९१॥ प्रसिद्धिमगमद्देय कलिविक्रमभास्वत। षड्विंशद्वादशशतं फाल्गुने कृष्णपक्षके ॥९२॥ तृतीयाया तिथौ वारे गुरोस्तारे च हस्तके धृतिनामनि योगे च करणे तैतिले तथा ॥९३॥ संवत् १२२६ फाल्गुन वदी ३ तीज का खणग्राम गुहिलपुत्र रा० दाढ़ा म्ह द (?) णसिंहहाभ्यां क्षेत्रडोहली (?) १। डुंगराग्रामवास्तव्य मोडसोनिगवासुदेवाभ्या सडोहलिका (?)।१। मोतराप्रतिगणे रायताग्रामीय मत्र ० बडीयोयसीगर्या दत्तक्षेत्रडोहालिका (?) बडावाग्रामवास्तव्य पारिग्रही आल्हणेन दत्त क्षेत्रडोहलिका (?) लघुनी सी ग्रामसगुहिलपुत्राल्पारमहत्तम मादयाया दत्तक्षेत्रडोहलिका (?)॥

> बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभि।
> यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥१॥

नोट—बिजोलिया के इन दोनों शिलालेखों मे पद पद पर भद्दी गलतियाँ मिलती हैं। मौलिकता नष्ट होने के ख्याल से ही वे नहीं सुधारी गया। —के बी० शास्त्री



संस्कृत में दूतकाव्य साहित्य का निकास और विकास

(ले०—श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती, एम.ए., काव्यतीर्थ)

संस्कृत साहित्य में 'दूतकाव्यों' अथवा संदेशरूप पद्यों को मुख्य स्थान प्राप्त है। संस्कृत साहित्य में जो गीत-पद्य (Lyric Poetry) का एक अभाव सा है उसकी पूर्ति इन दूतकाव्यों एवं पञ्चकों, अष्टको, दशकों और शतकों से हो जाती है। किन्तु इन सब में दूतकाव्य ही विशेष मूल्यमयी रचनायें हैं। इनमें कविता भी उच्च आदर्श को लिये हुये हैं और वह प्रेमियो के विरह-व्यथा-वर्णन में सरसता को प्रकट करती है। साथ ही उनका महत्व प्राचीन अथवा मध्यकालीन भारत के किसी भाग के भौगोलिक वर्णन परिपूर्ण होने के कारण और भी बढ़ा हुआ है। अतः इन पद्यों के निकास और विकास सम्बन्ध में विचार करना असंगत न होगा।

अनेक विद्वानों ने अपने ज्ञान में आये हुए 'दूतकाव्यों' की सूचिया प्रकट की हैं। हिज हाईनेस महाराज रविवर्म ने मालावार में विकसित छह दूत काव्यों का उल्लेख किया है[1]। उधर ऑफ्रेट सा० इनसे भिन्न अन्य दश काव्य बतलाते हैं[2]। मनमोहन चक्रवर्ती इन दोनों को मिला कर अपनी लिस्ट में सोलह दूतकाव्यों की गणना करते है।[3] किन्तु मैंने अविकल परिश्रम के फलरूप ऐसे पचास काव्यों का पता लगा लिया है; जिनका विवेचन मैं यहां करूंगा। तो भी इनके अतिरिक्त कुछ और दूतकाव्य हैं, जिनका पता अभीतक नहीं लग पाया है।

उपलब्ध दूतकाव्यों का विवेचन।

दूतकाव्य साहित्य के संभव निकास और विकास के प्रश्न पर विचार करने के पहले इस साहित्य का सामान्य अवलोकन कर लेना उचित है। यहां हम उनका उल्लेख अकारादि क्रम से करेंगे। समयापेक्षा उल्लेख करना इस समय अशक्य है; क्योंकि सबही काव्यों का रचनाकाल उपलब्ध नहीं है। छंद भी विशेषतः 'मन्दक्रान्ता' व्यवहृत हुआ है।

(१) इन्दुदूतम्[4]—की रचना लोक प्रकाश, कल्प सुबोधिका और हैमलघुप्रक्रिया (वि० सं० १७१०)[5] के कर्ता विनयविजयगणि द्वारा हुई है। इसमें कुल १३१ श्लोक हैं; जिनमें यह जैनकवि योधापुर (जोधपुर) से चन्द्रमा को अपना दूत बनाकर सूरत में अवस्थित अपने गुरु के पास अपने समुचित चारित्रपालन का संदेशा देकर भेजता है। जोधपुर से सूरत तक बीच में आये हुये जैन मंदिरों और तीर्थों का वर्णन भी इसमें खूब आया है।

१। जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८८४, पृ० ४०१... २। Z D. M G. vol. 54, p. 616.
३। जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, १९०५, पृ० ४२। ४। काव्यमाला गुच्छ १४ पृ० ४०–६०।
५। बेलवेल्कर—Systems of Sanskrit Grammar, p. 79.

(२) उद्धवदूतम्[1]—माधव शर्मा की रचना है। १४१ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण की ओर से गये हुये दूत उद्धव का वर्णन है कि कैसे उनने गोपियों को कृष्ण का संदेश देकर शान्त किया था, जो हिन्दुओं के भागवतपुराण (१०।४७) के अनुसार है।

(३) उद्धवसंदेश[2]—रूपगोस्वामिन् की कृति बतलाया जाता है। इसमें भी १३८ श्लोकों में उद्धव जी द्वारा कृष्ण जी का संदेश मथुरा पहुंचाने का वर्णन है। कवि का अन्य ग्रंथ हंसदूतम् भी है।

(४) कीरदूतम्[3]—के कर्ता रामगोपाल को महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी नवद्वीप (बंगाल) के राजा कृष्णचन्द्र के दरबार का कवि अनुमान करते हैं।[4] इसमें मथुरा की गोपियों ने एक तोते को दूत बना कर कृष्ण जी के पास अपना सन्देश लेकर भेजा है। १०४ काव्य हैं।

(५) कोकिल संदेश[5]—उत्तर अर्काट् के निवासी रंगनाथ के पुत्र उद्दण्ड कवि की रचना है जो पन्द्रहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में हुये हैं।[6] कहा जाता है कि भृङ्गसंदेश के उत्तर में यह काव्य लिखा गया था, जिसे इसके कर्त्ता वासुदेव ने उद्दण्ड कवि के प्रति भेजा था। इसमें काञ्ची के एक प्रेमी के द्वारा कोयल को अपना दूत बना कर केरल में स्थित अपनी प्रेमिका के पास भेजने का वर्णन है।

(६) कोकिल संदेश—नृसिंहरचित। (अड्यार लायब्रेरी लिस्ट, मद्रास पृष्ठ १२८)।

(७) कोकिल संदेश—लाय के पुत्र वङ्कटाचार्य द्वारा संकलित। (बर्नेल—संस्कृत ग्रंथ इन्डेक्स, पैलस लायब्रेरी, तंजोर पृष्ठ १६७)।

(८) चकोर-संदेश—उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ १६८)।

(९) चन्द्रदूत[7]—कृष्णचन्द्र तर्कालङ्कार की कृति है जो गोपीनाथ भट्टाचार्य के पुत्र थे। इसमें लङ्का से हनुमान जी के लौट आने पर रामचन्द्र जी के माल्यवान् पर्वत से चन्द्रमा को दूत बनाकर अपना संदेश सीताजी के पास लङ्का को भेजने का वर्णन (वैदिक रामायण के अनुसार) है।

(१०) चन्द्रदूत[8]—जम्बूकवि रचित। मालिनी छन्द के २३ पद्यों में समाप्त है, जिसमें अन्त्ययमक को प्रत्येक पद्य में चित्रित किया गया है।

(११) चन्द्रदूत—विनयप्रभ द्वारा संकलित। (रिपोर्ट खोज संस्कृत ग्रंथ सन् १८८४ ८५—भाण्डारकर नं० ३६४)।

१। Haeberlin's Sanskrit Anthology, pp 384 ff काव्यकलाप (बम्बई १८६४) पृ ५८

२। Ibid pp 323—347 और काव्यसंग्रह (कलकत्ता) ३।२१६।

३। संस्कृत साहित्य परिषत् कलकत्ता के पास एक प्रति मौजूद है।

४। Notices of Sanskrit Mss I XXXIX

५। मद्रास सरकारी लायब्रेरी की सूची भाग १० नं० ११८३६।

६। (इण्डियन हिस्टा० क्वार्टर्ली भाग ३ पृ० २२३)।

७। Notices of Sanskrit Mss Vol II p 153

८। A Third Report of operations in Search of Sanskrit Mss Bombay Circle p 292

(१२) चातक-सन्देश[१]—१४१ श्लोकों में है। इसमें एक ब्राह्मणद्वारा चातक को दूत बनाकर त्रिवन्द्रम के महाराज रामवर्मा के पास संदेश भेजने का वर्णन है, जिसमें राजा का अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयास है।

(१३) चेतोदूत[२]—१२६ पद्यों में पूर्ण हुआ है। इसमें एक शिष्य का अपने ही मन को दूत बनाकर गुरुजी के पास संदेश भेजने का जिक्र है। इसके प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण मेघदूत के एक पद्य के अन्तिम चरण के समान है।

(१४) जैन मेघदूत[३]—यह ई० १५वीं शताब्दी में हुए अञ्चलगच्छ के मेरुतुङ्ग जी की रचना है। यह कवि प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रंथों के कर्ता से भिन्न हैं। (JBBRAS., IX. 147) इसमें राजमती जी द्वारा मेघ को दूत नियत करके श्री नेमिनाथ जी के पास अपनी विरह-व्यथा का संदेश भेजने का वर्णन है। यह चार सन्धियों में समाप्त हुआ है जिनमें प्रत्येक के क्रमश ५०, ४९, ५५ और ४२ पद्य है।

(१५) तुलसीदूत[४] की रचना सं० १७०६ में वैद्यनाथ भट्टाचार्य ने की है। कवि ने तुलसी के पत्ते को दूत बना कर गोपियों का संदेशा कृष्ण जी के पास भेजने का चित्र अङ्कित किया है।

(१६) नेमिदूत[५]—यह विक्रम कवि की रचना है और इसका भाव जैन मेघदूत के समान है। इसमें १२३ श्लोक हैं, जिनमें से प्रत्येक का अन्तिम चरण कालिदास के मेघदूत का एक चरण है अर्थात् मेघदूत के चरण की समस्यापूर्ति इसमें की गई है।

(१७) पदाङ्कदूत[६]—नवद्वीप (बंगाल) के प्रसिद्ध राजा महाराज कृष्णचन्द्र के पिता राजा रघुराम राय के दरबारी कवि कृष्णसार्वभौम ने रचा था। यह गोपी-कृष्ण-वार्ता को बतलानेवाला काव्य सं० १६४५ में पूर्ण हुआ था। बंगाल के पण्डितों में मेघदूत के बाद इस काव्य की ही प्रसिद्धि है।

(१८) पवनदूत[७]—धोई कवि की रचना है जो बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के (१२वीं श०) दरबार के एक कवि थे। उनने इसमें दक्षिणभारत की निवासिनी एक गंधर्व-कन्या का संदेश पवन-द्वारा लक्ष्मणसेन राजा के पास भेजने का वर्णन किया है. जो इस राजा पर आसक्त थी।

(१९) पवनदूतम्[८]—श्रीवादिचंद्रजी सूरि की रचना है जो ई० १७वीं शताब्दी में हुए हैं। इसके १०१ श्लोकों में कवि ने बतलाया है कि किस तरह उज्जैन के राजा विद्यानरेश ने पवन को दूत बनाकर अपनी रानी तारा के पास संदेश भेजा था, जिसे एक विद्याधर ले गया था।

१। J R A S, 1884, p 451

२। आत्मानन्द-ग्रन्थरत्नमाला नं० २५।

३। श्री जैन आत्मानन्द-ग्रन्थमाला नं० ७६।

४। संस्कृत साहित्य-परिषद् कलकत्ता के पास एक प्रति है।

५। काव्यमाला (द्वितीय गुच्छ)।

६। काव्यकलाप (बंबई १८७४) पृष्ठ ५३।

७। कलकत्ता संस्कृत साहित्य-परिषत् सीरीज नं० १३ व J. A. S. B. 1905, pp 53—68.

८। काव्यमाला गुच्छ १३ पृष्ट ६—२४ और हिन्दी जैन-साहित्य सीरीज नं० ३।

(२०) पान्यदूत[1]—भोलानाथ की रचना है, जिसमे १०१ पद्य शार्दूलविक्रीडित छन्द में हैं। लेखक तिकुरी का एक वैष्णव ब्राह्मण है।

(२१) पिकदूतम् के ३१ शार्दूलविक्रीडित पद्यों मे गोपियों द्वारा कृष्ण के प्रति कोयल को दूत मानकर सदेश भेजने का वर्णन है। (इसकी एक प्रति लेखक के पास है)।

(२२) भक्तिदूतो[2]—काली प्रसाद कृत। इस अलकृत काव्य मे कवि ने भक्ति को दूती नियत करके अपनी मानी हुई वल्लभा मुक्ति के पास एक सदेश भेजा है। कुल २३ पद्य हैं।

(२३) भृङ्गसदेश[3]—कालीकट के राजा रविवर्मा और गोदवर्मा के दरबार के कवि वासुदेव की रचना है। इसमे एक पुरुष ने अपनी स्त्री को जो सदेश भेजा है वह वर्णित किया गया है। १९२ श्लोका म पूर्ण है।

(२४) भ्रमरदूत[4]—वद्यानिवास के पुत्र रुद्रन्यायवाचस्पति द्वारा लिखित है, जो न्यायसूत्रों के टीकाकार प्रतीत होते हैं। यह भावविलास के कर्ता से भिन्न हैं।[5] इसका भाव चन्द्रदूत (न० ६) की तरह है। अन्तर सिर्फ इतना है कि यहां दूत का काम भ्रमर कर रहा है।

(२५) मनोदूत[6]—विष्णुदास ने रचा है, जो बगाल के प्रसिद्ध सुधारक 'चैतन्य' के एक निजी सबधी थे। इसके १०१ वसन्ततिलका पद्यों मे 'कवीन्द्र' ने अपने मन को ही दूत बनाकर विष्णु के पास भेजा है।

(२६) मनोदूत[7]—तैलङ्ग व्रजनाथ ने स० १८१४ मे रचा था। यहां द्रौपदी ने चीरहरण के समय अपने मन को दूत बनाकर कृष्ण के पास सदेश भेजा, यह भाव चित्रित किया गया है।

(२७) मनोदूत[8]—विष्णुदास के प्रशिष्य रामराम की कृति प्रतीत होता है। यद्यपि इसका भाव भी न० २५ के अनुसार है, परन्तु यह उससे भिन्न है। इसमे शिखरिणी छंद की प्रधानता है।

(२८) मनोदूत काव्य[9]—मे आत्मा और जीव का सम्बन्ध दरसाया गया है।

(२९) मेघदूत—यह सभवत जैनकृति है। अत उपर्युक्त से भिन्न है। (स्व० जैन ग्रथावली पृष्ठ ३३२)।

(३०) मयूर संदेश—रङ्गाचार्य कृत। (अड्यार लायब्रेरी की स० व प्रा० ग्रथ लिस्ट, मद्रास पृष्ठ १३०)।

१। Catalogue of Skt Mss in the India office Library VII 3890

२। Notices of Skt Mss—R L Mitra vol III p 27

३। Descrip Cat of Skt Mss in the Madras Orient Library XX No 11865

४। Notices of Skt Mss—H P Sastri—vol II p 153 etc

५। H P Sastri—*op cit* Preface p 4 etc

६। Catal of Skt Mss in the India Office Library VII, Nos 3897—3899

७। काव्यमाला (१४वां गुच्छ) पृ० ८४—१३०।

८। बङ्गीयसाहित्यपरिषत्, कलकत्ता—स० प्रति नं० १२८२।

९। Catal of Skt Mss in the Raghunath Temple Library of H H The Maharajah of Kashmir—Stein—p 70 287 Intro XXV

(३१) मेघदूत[1]—कवि-सम्राट् कालिदास-कृत। यह दूत काव्यों में सर्वप्राचीन, सर्वोत्तम और बहुप्रसिद्ध है। इसकी कथा से प्राय हर कोई परिचित है कि कैसे एक विरही यक्ष ने एक बादल को अपना दूत बनाकर अपनी यक्षी के पास संदेशा भेजा था, जिससे वह एक शाप-द्वारा अलग किया गया था। अन्य बहु प्रचलित ग्रंथों की तरह इसका भी आकार अन्य कवियों की कृपा से बढ़ गया है। वल्लभदेव की टीका के अनुसार हल्ज़श सा० इसके १११ श्लोक बतलाते हैं, किन्तु दूसरी ओर के० बी० पाठक महोदय 'पार्श्वाभ्युदय' के अनुसार १२१ श्लोक बताते हैं। दक्षिणावर्तनाथ, मल्लिनाथ और पूर्ण सरस्वती (विद्युल्लता) की टीकाओं में क्रमश. ११०, ११८ और ११० श्लोक हैं।

(३२) मेघदूत—मंत्री विक्रम-कृत। (जैनग्रंथमाला—श्वे० कान्फ्रेन्स—पृष्ठ ३३२)

(३३) मेघदूत-समस्यालेख[2]—न्याय, व्याकरण, काव्य और ज्योतिष-विषयक विविध ग्रंथों के कर्ता मेघविजयजी की कृति है। हैमकौमुदी के कर्ता भी यही हैं, जो सिद्धान्त कौमुदी का 'मोडेल' (Model) समझी जाती है और सन् १६६१ में पूर्ण हुई थी। मेघदूतसमस्यालेख में ग्रंथकर्ता मेघ को दूत बनाकर अपना संदेशा अपने गुरु विजयप्रभसूरि के पास भेजते हैं। यह सं० १७२७ को पूर्ण हुआ था। मेघदूत के पद्यों के चतुर्थ चरणों की समस्या-पूर्ति इसमें की गई है।

(३४) रथाङ्गदूत—(भूमिका, जैनमेघदूत, पृ० १०)।

(३५) विप्रसंदेश[3]—लक्ष्मणसूरि-विरचित। इसमें रुक्मिणी ने कैसे एक वृद्ध विप्र को अपना दूत बनाकर कृष्णजी के पास भेजा था, इसका वर्णन हिन्दुओं के भागवतपुराण (१०।५२) के अनुसार है।

(३६) शीलदूत[4]—महीपालचरित्र, कुमारपालमहाकाव्य और आचारादर्श के कर्त्ता चारित्र सुन्दर-गणि की रचना है। यह स्वयं दूतकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कोई दूत कहीं नहीं भेजा गया है। इसके १३१ श्लोक हैं, जिनमें से पहले के १२५ श्लोकों के अन्तिम चरण कालिदास जी के मेघदूत के श्लोकों के अन्तिम चरणों के समान हैं। मेघदूत के चरणों का समावेश इसमें होने के कारण ही शायद इसका नामोल्लेख दूतकाव्यरूप में हुआ है। इसमें स्थूलभद्र राजकुमार के गृहत्याग करने और भद्रबाहु स्वामी के निकट दीक्षा लेने का वर्णन है। पुस्तक वि० सं० १४८७ में खम्भात (गुजरात) नामक स्थान में वहां के सरदार के आश्रय में समाप्त हुई थी। (शीलदूत श्लोक १३१)।

(३७) शुकसंदेश—लक्ष्मीदास की रचना है, जिसमें एक प्रेमी ने स्वप्न में अपनी प्राणवल्लभा का विछोह न सह सकने के कारण उसके पास तोते को दूत बनाकर अपना संदेश लेकर भेजा, यह वर्णन है। इसमें पूर्व संदेश और उत्तर संदेशरूप दो भाग हैं, जिनमें क्रमश ७४ और ८६ श्लोक

१। अनेक आवृत्तियां प्रकट हो चुकीं, जिनमें दो अच्छी हैं; (१) के० बी० पाठक वाली (Oriental Book Supplying Agency, Poona 1916) और डॉ० हल्ज़श की (Royal Asiatic Society, London, 1911).

२। आत्मानन्द-ग्रन्थमाला नं० २४।

३। पूर्णचन्द्रोदय प्रेस, तंजोर द्वारा प्रकाशित (१९०६)।

४। श्रीयशोविजय-ग्रन्थमाला, १४ (बनारस सन् १९१५)।

हैं। रामेश्वरम् और गुणपुर के मध्यवर्ती स्थल का भूगोल भी खूब आ गया है। (J R A S, 1884, p 449)

(३८) शुकसदेश—करिङ्गपल्लि नम्बूदि रचित। (List of Skt Mss Private Libraries of South India Oppert, Nos 2721, 6241)

(३९) शुकसदेश[1]—रङ्गाचार्य कृत। मालूम नहीं इसके कर्त्ता भी वही हैं जो मयूरसंदेश (न० ३०) के हैं।

(४०) सिद्धदूत—अवधूतराम रचित। (Report of a Search of Skt Mss, Kathavate, No 596)

(४१) सुभगसदेश—नारायण कृत १३० श्लोकों में पूर्ण है। (J R A S, 1884, p 449)

(४२) हंसदूत[2]—रूपगोस्वामिन् की रचना है, यद्यपि किन्हीं प्रतियों में उनके भतीजे जीव गोस्वामिन् को इसका कर्त्ता लिखा है। रूपगोस्वामिन्[3] १६वीं श० में हुए हैं और यह बंगाल के सुधारक चैतन्य के निकट शिष्यों में से एक थे। गौड़ के बादशाह अल्लाउद्दीन हुसैन शाह के दरबार में यह वैष्णव होने के पहले किसी शाही पद पर नियत थे। उपरान्त यह वैष्णवधर्म के उत्कट प्रचारक हुये और तत्सम्बन्धी अनेक ग्रंथ इनने लिखे। हंसदूत में गोपियों के द्वारा हंस को दूत बनाकर कृष्ण जी के पास भेजने का वर्णन शिखरिणी छंदों में है। इनकी संख्या किसी प्रति में १०१ और अन्यों में इससे ज्यादा मिलती है।

(४३) हंस संदेश[4]—श्रीवैष्णवों के प्रसिद्ध आचार्य और प्रख्यात विद्वान् वेङ्कटेश की कृति है, जो वेदान्तदेशिक अथवा वेदान्ताचार्य नाम से भी परिचित हैं। इनने अनेक विषयों पर संस्कृत में १२१ ग्रंथ रचे थे। और तामिल में २४ ग्रंथ अलग ही लिखे थे[5]। हंससंदेश में इनने राम द्वारा हंस को दूत बनाकर लंका में सीताजी के पास भेजने का वर्णन किया है। यह दो आश्वासों में पूर्ण है, जिनमें क्रमशः ६० और ५० श्लोक हैं।

(४४) हंससंदेश[6]—भट्टग्रामनकृत। शाप पाये हुए एक यक्ष ने अपनी पत्नी को हंस द्वारा जो संदेश भेजा, उसका वर्णन है। भाव कालिदास जी के मेघदूत के ही समान है।

(४५) हंस सन्देश—यह सैद्धान्तिक काव्य ११० श्लोकों में पूर्ण है। (J R A S, 1884 p 450)

(४६) हंसदूत—रघुनाथदास कृत। (बङ्ग साहित्य परिचय—डी० सी० सेन, पृ० ८१०)।

(४७) हृदयदूत—भट्टहरिहर की रचना वसंततिलका छंदों में है। (Weber, I, No 571)

१। Catalogue of Skt Mss in Mysore and Coorg Rice No 2250
२। Haeberlin s Skt Anthology pp 323 ff etc
३। Cf Des Catl of Skt Mss in the Govtt Skt College Ms No 162)
४। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लायब्रेरी मैसूर (१९१३) द्वारा प्रकाशित।
५। भूमिका, हंससंदेश—मैसूर एडीशन—पृष्ठ ६।   ६। A Des Catl of Skt Mss in the Govt Orient Library Madras vol.XX No 11912

(४८) हंसदूत—कवीन्द्राचार्य सरस्वती-कृत ४० श्लोकों में है।[१]

इनके अतिरिक्त दूतकाव्य ढंग के कुछ ग्रंथ और हैं परन्तु वह हाल की रचनायें हैं, इसलिये उपर्युक्त लिस्ट में उनकी गणना नहीं की गई है। वे भारत के विविध प्रान्तों के कवियों द्वारा ई० १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग और २०वी शताब्दी के प्रारंभ में रचे गये है। इनमें से किन्हीं की रचना तो बहुत ही ऊँचे दर्जे की है। उदाहरणस्वरूप मे बंगाल के कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन के वातदूत[२] का उल्लेख किया जा सकता है; जिसमें रामद्वारा सीता को संदेश भेजने का वर्णन है। इसके बाद द्वितीय श्रेणी के काव्यो में यादवचन्द्र विद्यारत्न (सं० १७८६) का शुकदूतम्[३] और दधीच ब्रह्मदेव शर्म्मन् का पिकसंदेश[४] का नाम लिया जा सक्ता है। पिकसंदेश में एक कोयल ने मधुमक्खी को दूत बनाकर कवि के पास भेजा है और उसके द्वारा भारत की वर्तमान शोचनीय दशा का वर्णन किया है। कालिदास जीके मेघदूत के समान दो अन्य रचनाये ताजी हुई है। मन्दिकल रामशास्त्री के मेघप्रतिसंदेश में[५] यक्ष की स्त्री ने उसी मेघ के हाथों अपना संदेशा यक्ष को भेजा है। और वह वर्णन बड़ा ही सरस और मनोहारी है। दूसरे त्रैलोक्यमोहन गुह नियोगी कविकीर्ति के मेघदौत्य[६] में यक्षी उसी मेघ के द्वारा कुबेर के पास यक्ष को मुक्त करने का संदेश भेजती है, जिसे वह अन्त में मान लेता है और यक्ष-यक्षी का मिलाप हो जाता है।

दूतकाव्य का विकास—

दूतकाव्यों में सर्व-प्राचीन कविवर कालिदास जी का 'मेघदूत' है। कालिदासजी के काव्य का मुख्य भाव दूतरूप में एक अजीव व्यक्ति-द्वारा एक प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति प्रेमसंदेश भेजना है। यहा पर यह ध्यान में रहे कि प्राय दूतकाव्यों में प्रेमियों द्वारा किसी अजीव पदार्थ के हाथों अपना प्रेम-संदेश भेजने का नियम मुख्यता से मिलता है। कालिदासजी की इस अनोखी और कविकल्पनामय सूझ का आधार, यदि कोई था, तो वह क्या था यह मालूम नहीं है। तो भी ऐसी सूझ के चिह्न हमें कालिदास जी के समय से पहले अवश्य ही मिलते हैं। उदाहरणत. 'ऋग्वेद' (१०।१०८) में 'सरमा' नामक कुत्ते को पणि लोगों के पास दूत बना कर भेजने का उल्लेख है। रामायण और महाभारत में भी मूक पशुओं द्वारा प्रेम-सन्देश भेजने के उदाहरण मिलते हैं। रामने हनुमान को, (जिनको वैदिकशास्त्रों में पशुजाति का अनुमान किया गया है) अपना दूत बनाकर सीता जी के पास भेजा था, जिनके हाथों सीताजी ने भी अपना संदेशा रामचंद्रजी के पास पहुंचाया। (रामायण ४।४४ व ५।४०) (महाभारत ३।५३३१—२) में दमयन्ती ने जो राजा नल के पास से आये हुये हंस के द्वारा अपना संदेशा उनको भेजा था, उसका उल्लेख है। किन्तु इन दूतों के सम्बन्ध में इतनी बात अवश्य है कि इनको निरा मूक पशु ही नहीं माना गया, किन्तु इनके मनुष्य जैसी वाक्शक्ति आदि का होना वैदिक शास्त्रों मे लिखा है। इस कारण उनको दूत बनाकर भेजने में कविकल्पना का कुछ भी चामत्कारिक भाव नजर नहीं पड़ता! किन्तु इतने पर भी यह मानना कुछ

१। A classified List of Skt Mss, in the Palace Library at Tanjore—Burnell, p. 1637

२। Calcutta, S. E. 1822.

३। Ryot's Friend Press.

४। झालरापाटन राजकीय सरस्वती-भवन-द्वारा प्रकाशित।

५। जयालय प्रेस मैसूर (१९२३)।

६। Sanyal & Co Calcutta, 1909.

अनुचित प्रतीत नहीं होता कि कालिदास भी इन उपर्युक्त उक्तियों से प्रभावित नहीं हुए थे। वह स्वयं इस प्रभाव को मेघदूत के १०४वें श्लोक द्वारा ध्वनित करते मालूम होते हैं, यथा —"इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा।" इससे साफ प्रकट है कि जिस समय कालिदास जी मेघदूत की रचना कर रहे थे, उस समय उनके नेत्रों के सामने सीता जी द्वारा हनुमान को दूत बनाकर संदेश भेजने की घटना मौजूद थी। मल्लिनाथ ने अपनी टीका में भी एक ऐसे कथानक का उल्लेख किया है। (सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि निधाय कविः कृतवान् इत्याहुः।) इनसे भी पहले के मेघदूत-टीकाकार दक्षिणावर्तनाथ भी इसका आधार इसी तरह स्वीकार करते हैं।

किन्तु उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भी भारत एवं भारतेतर ग्रंथों में कालिदास जी के पहले के रचे हुए ग्रंथ और थे जिनमें दूतकाव्यों जैसे विचारों का संचार था। जैसे 'शामविनोद जातक' (स० -१७) में आपत्ति में फँसे हुए एक पुरुष द्वारा कौआ को दूत बना कर अपनी स्त्री के पास भेजने का उल्लेख मिलता है। चीन देश के हेकान (Hekun) (१२६—२२१ ई०) नामक कवि ने भी एक स्थान पर एक भद्र महिला द्वारा एक मेघ को दूत नियत करके अपने स्वामी के पास भेजने का वर्णन किया है। इसका नागार्जुन ने 'प्रज्ञापूत शास्त्रीय' का अनुवाद चीनी भाषा में किया था।

यद्यपि हमें यह विदित नहीं कि कालिदासजी को इस चीनी कवि के उपर्युक्त उदाहरणवाले ग्रंथ का पता था या नहीं, परन्तु यह तो निस्संदेह मानना पड़ता है कि वे रामायण—महाभारत एवं जातक ग्रंथों से अवश्य परिचित हो सके हैं। इस अवस्था में उनने अपने दूतकाव्य के मूलभाव का आधार इन ग्रंथों में पाया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। सुतरां चीनी कवि की उक्त कल्पना किसी रूप में किसी तरह से भारत में न आई हो और उसके ज्ञात अथवा अज्ञातरूप में कालिदास जी ने लाभ न उठाया हो, इसके लिए भी प्रमाणाभाव से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन बातों से कवि महोदय की यश:कीर्ति में कुछ भी कमी नहीं आ सकती है। क्योंकि अन्य देशों के बड़े बड़े कवियों ने भी जैसे प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर ने अपने ग्रंथों के लिए 'प्लाट' (Plots) अपने से प्राचीन स्रोतों से ग्रहण किये थे। स्वयं कालिदास जी को पुराणों और काव्यों से अपने अन्य ग्रंथ जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलम्, रघुवंशम् और कुमारसंभवम् के रचने में सहायता लेनी पड़ी है। कवि का महत्व तो उसके वर्णन शैली, मनुष्यस्वभाव की जानकारी एवं और शब्दों के ठीक और प्रभावशाली चुनाव पर ही निर्भर है। और इस कारण यदि यह मान भी लिया जाय कि मेघदूत के रचने में कवि को अन्य स्रोत का आधार लेना पड़ा था तो भी इस कारण भारतीय कवियों में उनका दर्जा कविशिरोमणि से रत्तीभर कम नहीं होता है, मेघदूत काव्य में चार सात्विक वर्णन के कुछ ऐसे नमूने मौजूद हैं, जो पुराणों में नहीं मिलते हैं और संस्कृत दूतकाव्य के यह एक आधार (Prototype) अथवा नमूने कहे जा सकते हैं।

किन्हीं किन्हीं का कहना है कि कालिदासजी की उपर्युक्त सूझ कवि घटकर्पर के 'घटकर्पर काव्य' का रूपान्तर ही उद्भूत हुई थी। यह कवि कालिदास जी के समकालीन और विक्रमादित्य की नौ रत्नों में से एक बतलाये जाते हैं। 'घटकर्पर' में एक पत्नी की विरह-गाथा भी 'मेघदूत' के ढंग से वर्णित है कि कैसे पतिवियोगिनी ने वर्षा ऋतु के आगमन पर मेघों द्वारा अपनी विरहकथा का संदेश अपने पति के पास भेजा था। (घटकर्पर श्लोक ८—१२) किन्तु ऐसी कल्पना का आधार कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है—इस कारण इस सम्बन्ध का निश्चयात्मक निर्णय करना बड़ा कठिन है।

जैसे कि सिंहलीय भाषा में ऐसी रचनायें (मयूरसंदेश,[1] कोकिलसंदेश[2] आदि) बहुत बताई जाती हैं। १७वी शताब्दी के नरसिंहदास का रचा हुआ पुरातन बंगला भाषा में भी एक 'हंसदूत' मिलता है[3]। इसी नाम के दो और काव्य माधवगुणाकर और कृष्णचंद्र के हैं।[4]

दूतकाव्य के साहित्यविकाश में जैनकवियो का हाथ—

दूतकाव्यों द्वारा धार्मिक एवं सैद्धान्तिक तत्त्वों और नियमों का प्रचार करने का सर्वप्रथम श्रेय संभवतः जैन कवियों को ही है। क्योंकि आठवीं शताब्दी जैसे प्राचीन समय के रचे हुए श्रीजिनसेनाचार्य के 'पार्श्वाभ्युदय' में, जिसमें कि जैनधर्म के संभवतः सर्वप्रथम ऐतिहासिक संस्थापक श्रीपार्श्वनाथ जी का जीवनचरित्र और उनकी शिक्षा को प्रकट किया गया है, समूचा का समूचा मेघदूत समस्यापूर्तिरूप में समाविष्ट कर लिया गया है। हाँ, ऐसा करने मे कवि ने कहीं कहीं कालिदास के अर्थ और भाव से विभिन्न रूप में उनका व्यवहार किया है। जैन कवियों की ऐसी और भी रचनायें, मेघदूत के आधार पर रची गई हैं, और उनमें उनके रचयिताओं ने संस्कृत भाषा पर अपने पूर्ण आधिपत्य को प्रकट किया है और वे दूतकाव्य साहित्य के इतिहास में मुख्य स्थान को ग्रहण किये हुये हैं। शीलदूत चेतोदूत, नेमिदूत और मेघदूत समस्यापूर्ति के ऐसे जैनकाव्य है जिनमे मेघदूत के प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण समावेशित किया गया है। इनमें भी काव्यरचना की श्रेष्ठता का अभाव नहीं है। हां, यह अवश्य है कि अपने भाव को प्रकट करने के लिये, इनकी भाषा सरल और मधुर नहीं रही है। किन्तु उनमें जो मेघदूत के चरण मौजूद हैं उनसे उन ग्रंथकर्ताओं के समय वह जिस रूप में प्राप्त था उसका खासा दिग्दर्शन होता है, जिससे उसका असली रूप प्रकट हो जाता है।

जैनियों ने जिस प्रकार इस साहित्य के द्वारा धार्मिक तत्त्वों को प्रकाशित करने का प्रारंभिक उद्योग किया, उसी तरह उसका एक नया रूप भी उनके द्वारा हुआ। प्रायः सब ही जैनकाव्य हिन्दूकाव्यों के शृङ्गारादि विषय पोषक रसों के विपरीत शान्ति और भक्ति रस से परिपूर्ण है। इस सम्बन्ध में उनके 'विज्ञप्ति पत्रों को' हमें नहीं भुला देना चाहिये, जो पर्यूषणपर्व के समय जैनसाधुओं द्वारा उनके आचार्यों को लिखी हुई चिट्ठियां हैं और जो दूतकाव्यों के ढंग पर लिखी गई है (जैसे चेतोदूत, मेघदूतसमस्यालेख, इन्दुदूत आदि)।

दूतकाव्यों से भौगोलिक परिज्ञान—

किन्हीं दूतकाव्यों में दूत को मार्ग बताने के विवरण में अच्छे रूप का भौगोलिक परिचय दिया हुआ मिलता है, यद्यपि अधिकांश में वह प्रायः नाम मात्र को है। किन्तु जो कुछ भी है वह संतोषप्रद है, क्योंकि भारतीय साहित्य मे इस विषय का प्रायः नही के बराबर उल्लेख मिलता है। कालिदासजीने रामगिरि से अलका तक का जो भौगोलिक वर्णन अपने काव्य में लिखा है, उसके महत्त्व से प्रायः सब ही विद्वान् परिचित हैं। धोयी कवि के 'पवनदूत' में मलयपर्वतावली से राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी विजयनगर (बंगाल) तक के प्रदेश का अच्छा वर्णन है जिसका विवेचन

१। Prof Geigei, Litteratur und spiache der Singhalessen pp. 9—17.

२। Ceylon Antiquary, vol III pp 13 ff,

३। बङ्गीय साहित्य-परिचय पृष्ठ ८५०—६०।

४। हिस्ट्री आफ बंगाली लेन्ग्वेज एण्ड लिट्रेचर पृष्ठ २२५।

भी कई बार हो चुका है। (J A S B 1905 Vol I pp 43—.. & Intro to my edition of Pavanduta pp 19—26) वेदान्तदेशिक के हंससन्देश में माल्यवत पर्वत से लङ्का तक के मार्ग का परिचय खूब कराया गया है। लक्ष्मीदास के शुकसन्देश में रामेश्वरम् और गुणपुर के मध्यवर्ती नगरों, ग्रामों, मन्दिरों आदि का मनोरंजक वर्णन है। इसी तरह मेघदूत समस्यालेख में औरंगाबाद से द्वीपपुरी (दीव बन्दर गुजरात) तक के रास्ते का बड़ा ही सूक्ष्म परन्तु विशद विवरण मिलता है। विनयविजयगणि के 'इन्दुदूत' में योधपुर (जोधपुर) से सूरत तक का मार्ग बताया गया है। इन अन्तिम दो जैनकाव्यों के वर्णन का महत्व मार्ग में के अगणित जैन मन्दिरों और तीर्थस्थानों के उल्लेखों के कारण बहुत बढ़ गया है। किन्तु आश्चर्य है कि बङ्गाली कवियों द्वारा लिखे हुए कृष्णपरक जो दूतकाव्यों में इस विषय का कुछ भी वर्णन नहीं है। उनके ग्रन्थों में वृन्दावन या मथुरा का कुछ भी भौगोलिक वर्णन नहीं मिलता है।

नोट—यह महत्वशाली साहित्यिक लेख मूल में अंग्रेजी के प्रसिद्धपत्र "दी इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली" (भाग ३ अंक २ पृष्ठ २७३—२८७) में प्रकट हुआ है। उसी का यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के सामने सधन्यवाद उपस्थित है। सचमुच कवि कालिदास जी के 'मेघदूत' के आदर्श ने भारत में एक स्वतन्त्र दूतकाव्य साहित्य की सृष्टि करा दी है, जिसका महत्व उपर्युक्त लेख से प्रकट है। हिन्दी भाषा में भी ऐसे काव्यों का अभाव नहीं है। ढूंढने से उसमें इस टाइप की मौलिक रचनायें भी मिल जायेंगी—जैसे कालिदासजी के मेघदूत का पद्यमय अनुवाद तो हो ही चुका है। जैन-कवियों ने भी इस साहित्य के उन्नत बनाने में बहुत कुछ कार्य किया है, यह हमारे लिये गौरव की बात है। जयसागर उपाध्याय की विज्ञप्तित्रिवेणी भी एक विज्ञप्तिस्वरूप का काव्य है जिसे सिन्धु देश के मलकवाहण स्थान से अणहिलपुरपत्तन को लिखा गया था। इसमें भी भौगोलिक वर्णन अच्छा है—परन्तु यह शायद 'दूतकाव्य' कहने का नहीं है।

—का०



प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार की समीक्षा

(ले०—पंडित वंशीधर व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, साहित्य-शास्त्री)



(क्रमागत)

पाठक देखेंगे कि इसमें उपनय, निगमन का कितना भावपूर्ण समावेश कर के उनकी अनुमानाङ्गता का निराकरण किया गया है। यहां पर इनका उद्देश हो जाने के कारण इनके लक्षण सूत्रों की भी संगति हो जाती है। सूत्र नं० ३७ में "नोदाहरणम्" के स्थान में "नोदाहरणादिकम्" ऐसा पाठ नहीं रखने का भी गंभीर आशय है। एक तो इस सूत्र के पहिले किसी भी सूत्र में उपनय, निगमन का कथन नहीं है। इसलिये आदि शब्द से उनका अनुसंधान हो नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यहां पर आदि शब्द का पाठ करने से उसके आगे के सूत्र नं० ३८ में "तत्" पद से "उदाहरणादिकम्" इसका अनुसंधान होता, जो कि अनिष्ट था कारण कि उपनय और निगमन का प्रयोजन साध्यप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु उदाहरण के प्रयोग से पक्ष में साध्य और साधन के सद्भाव के विषय में उत्पन्न हुए संदेह को दूर करना है। ऐसी हालत में सूत्र नं० ३८ मे "तत्" पद के स्थान में "उदाहरणम्" ऐसा पाठ करना पड़ता तथा आगे सूत्रों में किसी प्रकार का परिवर्तन हो नहीं सकता था जिससे सूत्रों में गौरव होता, इसलिये सूत्र नं० ३७ में 'उदाहरणम्' ऐसा पाठ ही परीक्षामुख में किया गया है। वास्तव में सूत्रों में इसी तरह की लघुता, संबद्धता आदि का ध्यान रखना ग्रन्थकर्त्ता का परम कर्त्तव्य होता है। पाठक देखेंगे कि इनका ध्यान प्रामाणनयतत्त्वालोकालंकार में कहां तक रक्खा गया है।

यों तो इस ग्रन्थ में निरर्थक पदों का बहुत स्थानों पर प्रयोग किया गया है, लेकिन कहीं कहीं पर तो पदों की निरर्थकता का स्पष्ट अनुभव होता है।

साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिः ॥६९—३॥

प्र० न० तत्त्वा०।

इसमें अविरुद्धोपलब्धि हेतु के व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर इन छः भेदों का नाम निर्देश किया है। सूत्र नं० ७० में कारण हेतु का समर्थन किया गया है। सूत्र नं० ७१ इस प्रकार है।

पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्यकारणभावौ तयोः कालव्यहितावनुपलम्भात् ॥७१—३

प्र० न० तत्त्वा०।



श्रीऋषभदेव

([illegible])

यह चित्र १म किरण में प्रकाशित "जैन मूर्तियाँ" लेख से सम्बद्ध है

THE S. P. W., ARRAH



इसमें पूर्वचर उत्तरचर हेतुओं का स्वभाव, कार्य, कारण हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है इसलिये इनको स्वतन्त्र स्वीकार करना चाहिये, इस बात का समर्थन किया गया है। सूत्र नं० ७२, ७३, ७४, ७५ में इसी की पुष्टि की गयी है। सूत्र नं० ७६ इस प्रकार है—

सहचारिणो परस्परस्वरूपत्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः, सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च, सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः ॥७६—३॥

इस सूत्र में "सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः" इतना अंश बिल्कुल निरर्थक ही है, कारण कि जिस प्रकार सूत्र नं० ७१ में "पूर्वचरोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणेषु नानुप्रवेशः" इसका अनुसंधान ग्रन्थकर्त्ता को बाहिर से करना पड़ता है, उसी प्रकार यहां पर भी किया जा सकता है। यह बात नहीं है, कि सूत्र नं० ७१ में इस पद का अनुसंधान ही न करेंगे, कारण कि इस पद का अनुसंधान नहीं करने से सूत्र नं० ७१ का इतना ही अर्थ होता है कि "पूर्वचर और उत्तरचर में स्वभाव अथवा कार्यकारण भाव नहीं है क्योंकि स्वभाव और कार्यकारणभाव काल का व्यवधान होने पर नहीं देखे जाते हैं।" लेकिन इतने मात्र अर्थ से आकांक्षा की निवृत्ति नहीं होती, किन्तु "इसलिये पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का स्वभाव, कार्य, कारण हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है" इतना अंश उस अर्थ के साथ संबद्ध करने से ही वाक्यार्थ पूरा होता है। इतना अवश्य है कि यह अर्थ तात्पर्य से निकल ही आता है इसलिये इसके बोधक वाक्य का सूत्र में पाठ करने की जरूरत नहीं है। इसी प्रकार सूत्र नं० ७६ में भी पूर्वोक्त अंश के पाठ करने की आवश्यकता नहीं है।

यहां पर "प्रोक्तेषु" पद असंबद्ध भी है। यह पद पहिले कहे हुए का अनुसंधापक होता है। यहां पर इस पद से "स्वभावकार्यकारणेषु" इस पद का अनुसंधान अभीष्ट है। टीकाकार ने रत्नाकरावतारिका में यही अर्थ "प्रोक्तेषु" पद का किया भी है, लेकिन इस सूत्र के पहिले किसी भी सूत्र में "स्वभावकार्यकारणेषु" यह पद नहीं पढ़ा गया है जिससे कि "प्रोक्तेषु" पद से उसका अनुसंधान किया जा सके। इसलिये "सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः" इस अंश को पृथक् करने से ही सूत्र संगत हो सकता है। यह आवश्यक है कि इस अंश के निकल जाने से सूत्र में "सहचारिणो" पद के आगे अपि शब्द अपेक्षित हो जाता है जो कि सूत्र नं० ७१ में कहे हुए "न स्वभावकार्यकारणभावौ" इस पद का दोनों सूत्रों में अन्वित होने का बोध कराता है, इस तरह से सूत्र का स्वरूप निम्न प्रकार हो जाता है।

सहचारिणोरपि परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च ॥७६—३॥

इसमें सूत्र नं० ७१ से "न स्वभावकार्यकारणभावौ" पद की अनुवृत्ति लाकर अन्त में उसका संवन्ध करने से सूत्र से संगत अर्थ की प्रतीति होने लगती है। इस सूत्र में "तदुत्पत्तिविपत्तेश्च" इस अंश में विपत्ति शब्द का पाठ कर के भी ग्रन्थकार ने अर्थ को कठिन वना दिया है। यहां पर विपत्ति शब्द का अर्थ अभाव ही अभीष्ट है जिससे पूर्ण पद का अर्थ होता है—तदुत्पत्तिरूप संबन्ध का अभाव! लेकिन इस अर्थ के समझने में अवश्य ही कठनाई का अनुभव होता है। परीक्षामुख में इसके स्थान में यह सूत्र पाया जाता है।

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४—३॥

षष्ठ परिच्छेद मे प्रमाण और उसके फल की भेदाभेद-व्यवस्था सिद्ध करते हुए प्रमाण और फल की व्यवस्था कल्पनामात्र नहीं, किन्तु वास्तविक है इस आशय को ग्रन्थकार ने इस प्रकार प्रकट किया है।

संवृत्त्या प्रमाणफलव्यवहार इत्यप्रामाणिकप्रलापः परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधात् ॥२१—६॥

ततः पारमार्थिक एव प्रमाणफलव्यवहारः सकलपुरुषार्थ-सिद्धिहेतुः स्वीकर्त्तव्यः ॥२२—६॥

इनमें नं० २२ का सूत्र विल्कुल निरर्थक है कारण कि उसका अर्थ तो नं० २१ के सूत्र का तात्पर्य ही है। इन सब बातों के देखने से यह धारणा होती है कि यह ग्रन्थ सूत्र का समुदाय नहीं किन्तु वाक्यों का ही समुदाय है।

सप्तभंगों के उल्लेखों में भूल।

सप्तभंगी-प्रकरण में सप्तभङ्गों का उल्लेख ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

(१) स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ॥१५—४॥

(२) स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः ॥१६—४॥

(३) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीय ॥१७—४॥

(४) स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः ॥१८—४॥

(५) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधि-निषेधकल्पनया च पञ्चमः ॥१९—४॥

(६) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेध-कल्पनया च षष्ठः ॥२०—४॥

(७) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम ॥२१—४॥ प्र० न० तत्त्वा ॥

इन भगों में तृतीय, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम विचारने योग्य हैं। इसके पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि ये सात भग क्यों होते हैं ?

(१) वक्ता की सात प्रकार से वस्तु के कहने की इच्छा होती है इसलिये वह इन सात वाक्यों का प्रयोग करता है।

(२) उसकी सात प्रकार से वस्तु के कहने की इच्छा इसलिये होती है कि जिज्ञासु उससे सात प्रकार के प्रश्न करता है।

(३) जिज्ञासु सात प्रकार के प्रश्न इसलिये करता है कि उसे सात प्रकार से वस्तु के जानने की इच्छा होती है।

(४) उसको सात प्रकार से वस्तु का जानने की इच्छा इसलिये होती है कि वस्तु में उसे सात प्रकार का संदेह पैदा होता है।

(५) सात प्रकार का संदेह इसलिये होता है कि वस्तु में प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा विधि निषेध रूप सात प्रकार के धर्म पाये जाते हैं। इस प्रकार परम्परा से सात भगों में वस्तु के सात प्रकार के धर्म ही कारण हैं। एक एक धर्म की विवक्षा में एक एक वाक्य का प्रयोग होता है।

जब स्वरूप से सत्व धर्म की प्रधानता से वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यादस्त्येव सर्वम्" यह प्रथम भग होता है। जब पररूप से असत्व धर्म की प्रधानता से वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यान्नास्त्येव सर्वम्" यह दूसरा भग होता है। जब क्रमार्पित स्वरूप पररूप से अस्तित्व नास्तित्व रूप तीसरे धर्म की प्रधानता से वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यादस्ति नास्त्येव सर्वम्" यह तीसरा भंग होता है। इस भंग में अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म वाच्य रहते हैं इसलिये पहिले, दूसरे भगों से इसमें भेद होता है। कारण कि पहिले भंग में केवल अस्तित्व वाच्य रहता है, दूसरे भग में केवल नास्तित्व वाच्य रहता है। इतना अवश्य है कि तीसरे में ये दोनों धर्म स्वतंत्र अनुभूयमान नहीं होते हैं किंतु समूहरूप से ही इनका अनुभव होता है। जिस प्रकार बादाम, लायची मिर्च, शक्कर आदि द्रव्यों से तैयार किये हुए पानक में इन सब का समूह-रूप से अनुभव होता है इसलिये बादाम, लायची, मिर्च, शक्कर आदि की अपेक्षा सब का मिश्रणरूप पानक स्वतंत्र एक वस्तु लोक प्रसिद्ध है, उसी प्रकार प्रत्येक अस्तित्व, नास्तित्व की अपेक्षा दोनों का समूह भी एक स्वतंत्र धर्म सिद्ध होता है। इसको अस्तित्वविशिष्ट नास्तित्व या नास्तित्वविशिष्ट

अस्तित्व कह सकते हैं। इसकी प्रधानता से जब वस्तु के कहने की इच्छा होती है तब "स्यादस्ति नास्त्येव सर्वम्" या "स्यान्नास्त्यस्त्येव सर्वम्" इस प्रकार तीसरा भंग होना चाहिये। ग्रन्थकार ने जो इसके स्थान में "स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव सर्वम्" इस प्रकार उल्लेख किया है इसमें उनका अभिप्राय क्या था सो नहीं कहा जा सकता। कारण कि इस भंग में दो जगह स्यात् और एव शब्दों का कथन करने से "स्यादस्त्येव" तथा "स्यान्नास्त्येव" इनसे अस्तित्व, नास्तित्व दोनों धर्म भिन्न भिन्न प्रतीत होने लगे हैं, लेकिन इस तरह की यह प्रतीति पहिले और दूसरे भंग से होती है इसलिये तीसरे भंग की इस अवस्था में कोई सार्थकता नहीं रह जाती है। दूसरी बात यह है कि जब तृतीय भंग में क्रमार्पितोभय-रूप धर्म ही वाच्य रहता है तब दोनों की भिन्न भिन्न प्रतीति कराने वाला ऐसा उल्लेख हो भी नहीं सकता है इसलिये तीसरे भंग का स्वरूप "स्यादस्ति नास्त्येव सर्वम्" या 'स्यान्नास्त्यस्त्येव सर्वम्' ऐसा ही होना चाहिये। इसी प्रकार पञ्चम, षष्ठ और सप्तम धर्म भी अपने अपने रूप में एक हैं इसलिये उनमें भी एक एक ही स्यात् और एव पद होना चाहिये, अन्यथा उन भंगों का प्रयोग भी निरर्थक सिद्ध होगा, कारण इस तरह से पूर्वोक्तानुसार वे भी पुनरुक्त सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर बहुत विषय समालोच्य हैं, लेख बढ़ जाने के भय से इस समालोचना को यहीं समाप्त करता हूँ। फिर कभी दूसरे लेख-द्वारा विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

ग्रन्थकार।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्वेताम्बराचार्य श्रीवादिदेव सूरि हैं। ये विक्रम की बारहवीं सदी के विद्वान् माने गये हैं इसलिये इसमें कोई संदेह नहीं कि ये परीक्षामुख के कर्त्ता श्रीमाणिक्यनन्दी से बहुत पीछे के विद्वान् हैं। कारण कि श्रीमाणिक्यनन्दी का समय विक्रम की आठवीं सदी माना गया है। इनके विषय में श्वेताम्बर ग्रन्थों की मान्यता यह है कि इन्होंने दिगम्बराचार्य उन कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में विजित किया था जिन्होंने ८४ शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी जैसा कि निम्न पद्य से प्रकट होता है।

> येनार्दितश्चतुरशीतिसुवादिलीलालब्धोल्लसज्जयरमामदकेलिशाली॥
> वादावहे कुमुदचन्द्रदिगम्बरेन्द्रः श्रीसिद्धभूमिपतिसंसदि पत्तनेऽस्मिन्॥७४॥
>
> (गुर्वावल्यां श्रीमुनिसुन्दरसूरय.)

अर्थात्—जिन श्रीवादिदेव सूरि ने चौरासी शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करने वाले दिगम्बराचार्य श्रीकुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया। श्रीवादिदेव सूरि के विषय में

श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसी तरह के अनेक उल्लेख प्रशंसापूर्वक पाये जाते हैं, उन सब के लिखने का यह स्थान नहीं है इतना अवश्य है कि ये दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र कौन थे? इनकी गुरुपरंपरा या शिष्यपरंपरा क्या थी? इसका उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थों में अभी तक की खोज से नहीं मिला है। यदि वास्तव में ये आचार्य चौरासी शास्त्रार्थों के विजेता थे तो अवश्य ही इनकी कीर्ति महत्वशाली ग्रन्थों के रूप में विद्यमान रहना चाहिये थी। लेकिन प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार को देखते हुए श्वेताम्बर ग्रन्थों के उपर्युक्त कथन पर सहसा विश्वास नहीं होता है। जो हो, इस विषय पर अवश्य ही विद्वानों को प्रकाश डालना चाहिये।

श्रीवादिदेव सूरि का ग्रन्थ स्याद्वाद रत्नाकर भी है जो कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार की टीका है। इसके विषय में भी यह प्रसिद्धि है कि यह ग्रन्थ चौरासी हजार श्लोक प्रमाण है, लेकिन प्रकाशित ग्रन्थ को देखने से इसकी चौथाई होने में भी संदेह है। यह ग्रन्थ पांच भागों में प्रकाशित हुआ है। हो सकता है कि आचार्य का महत्व दिखलाने के लिये उनसे पीछे के विद्वानों की यह कल्पना मात्र हो। इसकी भी खोज बहुत आवश्यक है।



कविवर श्रीजिनसेनाचार्य्य और पार्श्वाभ्युदय

(ले०—त्रिपाठी भैरव दयालु शास्त्री, बी० ए०, साहित्योपाध्याय)



समय और समाज किसी भी व्यक्तिविशेष की कृतियों के साधन का असाधारण अङ्ग है। आग की चिनगारी चाहे असीम भस्मचय के अन्तर्गर्भ में ही क्यों न छिपी हो, सामयिक वायु अपनी अप्रतिहत प्रगति से भस्मचय को उड़ाकर उसे बाहर निकाल लाती है, और समाज उसमें उद्दीपक साधनों की आहुति देकर उसे प्रज्वलित कर देता है। यही कारण है कि वैयक्तिक विकास में समय और समाज का विशेष हाथ रहता है। फिर, राजसत्ता के अनुराग और प्रोत्साहन तो उसके जीवन के मूल स्रोत हैं ही। इसीलिये आलोचकों की तीक्ष्ण दृष्टि पुरुष विशेष पर गड़ने के पहले समय, समाज और शासन की तत्कालीन प्रवृत्तियों पर पड़ती है। अस्तु, सहृदय पाठकवृन्द! अभीष्ट विषय पर पहुंचने के पूर्व अपने महाकवि के समय और समाज का यत् किञ्चित् उल्लेख कर देना मुझे परमावश्यक प्रतीत पड़ता है, क्योंकि काव्य जिस वातावरण में किये जाते हैं उससे वे पूर्ण प्रभावित होते हैं।

आइये पाठक ! अब हम अपने दुर्धर्ष महाकवि और उनकी असुरमित कृति पार्श्वाभ्युदय की चर्चा करें। जिन दिनों राष्ट्रकूट-वंशीय महाराज प्रथम अमोघवर्ष कर्णाटक और महाराष्ट्र के संयुक्त राष्ट्र पर शासन कर रहे थे, उन्हीं दिनों महाकवि श्रीजिनसेनाचार्य्य ने अपने अमर काव्य श्रीपार्श्वाभ्युदय की रचना की। आचार्य्य वीरसेन हमारे महाकवि और उनके सहपाठी विनयसेन के गुरु थे। 'सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्' के अनुसार इन्हीं महापुरुष श्रीविनयसेनाचार्य्य की अभ्यर्थना एवं अनुनय-विनय से समुत्साहित हो श्रीजिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय को सङ्कलित किया। यह घटना जैन समाज के इतिहास में कोई नयी बात नहीं है। संस्कृत-साहित्य की प्रायः सारी शाखायें जैनाचार्य्यों की उपकृतियों के ऋणभार से लदी है। हेमचन्द्रादि कोष, वाग्भट्टादि अलङ्कारग्रन्थ, स्याद्वादमंजरी आदि दर्शन, अगणित काव्यग्रन्थ, शाकटायन एवं हेमचन्द्रानुशासन आदि व्याकरण ग्रन्थ, अनेक नीति एवं अगणित-शतक ग्रन्थ इत्यादि इस बात की सत्यता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। महाराज श्रीअमोघवर्ष ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा साहित्य की अनल्प सेवा की है। ऐसा सुषमामय वातावरण, ऐसे साहित्यसेवी कवि और काव्य के प्राण नरपति, ऐसे विद्याविनोदी बन्धु क्या कभी निष्फल जा सकते हैं? पार्श्वाभ्युदय की रचना कवि ने ७३६ शकाब्द में की थी। इसमें उन्होंने महाकवि कालिदास-कृत खण्ड काव्य मेघदूत के श्लोकों के एक एक या दो दो चरणों को लेकर समस्यापूर्ति की है। इस सम्बन्ध में टीकाकार श्री योगिराट् पण्डिताचार्य्य का कथन है कि महाराज अमोघवर्ष की सभा में कालिदास ने अपने मेघदूत को उपस्थित किया। जिनसेनाचार्य्य राजपण्डित थे। उन्होंने श्लोकों को प्राचीन और पूर्व-रचित उद्घोषित किया, और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये ही जिनसेनाचार्य्य ने पार्श्वाभ्युदय को रच डाला। जान पड़ता है टीकाकार ने भोजप्रबन्ध में वर्णित कथाओं की छाया लेकर ही, अथवा ग्रन्थ के महत्त्व को सूचित करने के लिये ही ऐसी कोरी कल्पना कर डाली है। योगिराट् ने शकाब्द १३२१ के उपरान्त ही पार्श्वाभ्युदय की टीका बनायी है, क्योंकि टीका में समुद्धृत नानार्थ-रत्नमाला का निर्माण १३२१ शकाब्द में हुआ था। जैनकवि श्रीरविकीर्त्ति के ५५६ शकाब्द के लेख में कालिदास का वर्णन है। अत कालिदास और जिनसेनाचार्य्य की समकालीनता की टीकाकार की कल्पना सर्वथा निर्मूल है। जो हो, कवि ने कालिदास के मेघदूत को अपने समस्या-जाल में उद्ग्रथित कर अपनी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय दिया है। मेघदूत का नायक यक्ष अपनी प्रोषितपतिका पत्नी के पास मेघ के द्वारा अपना सन्देश भिजवाता है, अतः उस काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार की सरिता एकाकिनी प्रवाहित होती है। शृङ्गार रस से ओतप्रोत श्लोकों के चरणों को तेइसवें तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ

जी की पौराणिक वार्त्ता के साँचे में ढालने का प्रयास कवि के अद्भुत उत्कर्ष को उद्योतित करता है। यक्ष ने अपने स्वामी कुबेर की आज्ञा के पालन में अनवधानता की थी इसी कारण उसे अलकापुरी से वर्षभर के लिये निर्वासित किया गया था। आठ महीने का समय काट चुकने पर उसे आषाढ के प्रारम्भ में मेघ का दर्शन होता है और उसके चिरसञ्चित पत्नीप्रेम के सागर में तूफान उठ आता है। इसीलिये विवश हो प्रेम में उन्मत्त होकर वह अचेतन मेघ को चेतन समझ उसे दूत बनाकर पत्नी के पास भेजता है। मेघ को वह दीन यक्ष रामगिरि से अलकापुरी जाने का रास्ता दिखाता है और मार्ग में पड़ने वाले नगरों, वनों, पर्वतों एवं नदियों का वर्णन करने के पश्चात् उसे अपना सन्देश सुनाता है। अपने वर्णनों में महाकवि कालिदास ने अपनी स्वभावसिद्ध वैदर्भी रीति का आश्रय लिया है, एवं अपने इष्ट शृङ्गार रस का स्थान स्थान पर इन्होंने अद्भुत प्रस्फुटित रूप दिखाया है।

अब हमें यह देखना है कि कविवर जिनसेनाचार्य्य ने किस प्रकार श्रीपार्श्वनाथ की पौराणिक कथा में शृङ्गार का समावेश किया, और किन किन स्थलों पर अपने इष्ट साधन के लिये उन्होंने उक्त कथा में घटाव, बढाव या परिवर्त्तन किये हैं तथा अपने महाकाव्य की रचना में साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने कहाँ तक सफलता पायी है। परन्तु इतने बड़े कार्य्य को एक छोटे से लेख में समाविष्ट करना उतना ही असम्भव है जितना गागर में सागर का भरना। तथापि हम 'स्थालीपुलाक न्याय' का आश्रय लेकर कुछ न कुछ अपने प्रिय पाठकों की उत्सुकता का समाधान करना आवश्यक समझते हैं। महाराज अरविन्द के शासन काल में कमठ और मरुभूति नामक दो सहोदर भाई राज दरबार को अलङ्कृत करते थे। एक समय मरुभूति महाराज के साथ युद्धस्थल को गया था। इस अवसर पर बड़े भाई कमठ ने भ्रातृ पत्नी वसुन्धरा के रूप पर आसक्त हो अपनी पत्नी के द्वारा उसे वश में कर लिया। युद्ध से लौटते ही महाराज ने इस अन्याचार का पता पा कमठ को चिरनिर्वासन का दण्ड दे नगर से निकाल दिया। कमठ इसे अपने छोटे भाइ की चाल समझ वन में जाकर वैरशोध के लिये तपस्या करने लगा। शीलवान् मरुभूति का हृदय बड़े भाइ की इस दुरवस्था पर पसीज गया, और वह उस से क्षमा माँगने को वन में जा उसके चरणों पर गिर पड़ा। क्रोधान्ध कमठ ने एक भारी चट्टान से उसे दे मारा। वही मरुभूति किसी दूसरे जन्म में तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ का अवतार धारण कर काशी में तपस्या कर रहा था। कमठ भी देह त्याग कर शम्बर के रूप में अवतीर्ण हुआ, इसी स्थल से पार्श्वाभ्युदय के कथानक का आरम्भ होता है। जिनसेनाचार्य्य ने शम्बर को मेघदूत का यक्ष बनाया है और उसके आजीवन निर्वासन को केवल वर्ष भर का दण्ड बताकर उन्होंने समस्या पूर्ति की कठिनाइयों को सरल किया है।

सेनवीरसुवीर्यभद्रसमाख्यया मुनिपुङ्गवाः
नन्दिचन्द्रसुकीर्त्तिभूषणसंज्ञया ऋषिसत्तमाः।
सिंहसागरकुंभ(?)आख्यनामभिर्यतिनायकाः।
देवनागसुदत्ततुंगसमाह्वयैर्मुनयोऽभवन् ॥१७॥
तेभ्यो नमस्कृत्य मया मुनिभ्यः
शास्त्रोदधेः सूक्तिमणींश्च लब्ध्वा।
हारं विरच्यार्यजनोपयोग्यं
जिनेन्द्रकल्याणविधिर्व्यधायि ॥१८॥
वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो
यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्जितः।
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसंधीरितः
तेभ्यस्स्वाहृतसारमा (?) यैरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः ॥१९॥
तर्कव्याकरणागमादिलहरीपूर्णश्रुताम्भोनिधेः।
स्याद्वादाम्बरभास्करस्य धरसेनाचार्यवर्यस्य च
शिष्येणार्यपकोविदेन रचितः कौमारसेनेर्मुनेः (?)।
ग्रन्थोऽयं जयताज्जगत्त्रयगुरोर्बिम्बप्रतिष्ठाविधिः ॥२०॥
पूर्वस्मात् परमागमात्समुचितान्यादाय पद्यान्यहम्।
तन्त्रे प्रस्तुतसिद्धयेऽत्र विलिखाम्येतन्नरोपायतत् (?)
कल्याणेषु विभूषणानि धनिकादानीय निष्किञ्चनः।
शोभार्थं स्वतनुं न भूषयति किं सा राजते नास्य तैः ॥२१॥
जिनेन्द्रवाणीमुनिसंघभक्त्या जिनेन्द्रकल्याणनुतिं प्रणीय
जिनेन्द्रपूजां रचयन्ति येऽमी जिनेन्द्रसिद्धश्रियमाश्रयन्ति ॥२२॥

मध्यभाग (४६ पृष्ठ ७ पंक्ति)

अतिनुतजलगन्धैरक्षतैरक्षतांगैर्वरकुसुमनिवेद्यैर्दीपधूपैः फलैश्च।
जिनपतिपदपद्मं योऽर्चयेदर्चनीयम् स भवति भुवनेशो मोक्षलक्ष्मीनिवासः॥

ॐ ह्रीं नमो ध्यातृभिरभीप्सितेभ्यः स्वाहा
नमः पुरुजिनेन्द्राय नमोऽजितजिनेशिने।
नमः संभवनाथाय नमोऽभिनन्दनार्हते॥
नमः सुमतये तुभ्यं नमः पद्मप्रभाय च।
नमः सुपार्श्वदेवाय नमश्चन्द्रप्रभाय ते॥

अन्तिम पद्य —

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रं द्विगुणं भवेत्।
लग्नन्तु त्रिगुणं तेषां शुभाशुभफलं भवेत्।
× × ×

ग्रन्थकर्त्ता के मंगलाचरणगत १९वें श्लोक से यह ज्ञात होता है कि वीराचार्य, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणभद्र, वसुनन्दी, इन्द्रनन्दी, आशाधर और हस्तिमल्ल इन आठ साहित्यिकारों ने प्रतिष्ठा ग्रन्थ लिखे हैं। और इन्हीं के आधार पर आर्यप या अय्यपार्य ने इस विद्यानुवादाङ्ग प्रतिष्ठा ग्रन्थ की रचना की है। किन्तु इस समय उल्लिखित इन प्रतिष्ठाग्रन्थ प्रणेताओं के सभी ग्रन्थ प्राय उपलब्ध नहीं होते। इसके २०वें श्लोक से यह भी विदित होता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता धरसेनाचार्य और कुमारसेन मुनि को अपना गुरु मानते थे। इन्होंने इन्हें तर्क व्याकरण एवं सभी आगमों का मर्मज्ञ भी लिखा है। इसी श्लोक में "कौमारसेनेमुने" यह पद जो मिलता है, वह व्याकरण की दृष्टि से चिन्तनीय है। क्योंकि नियमानुसार "कौमारसेनस्य" होना चाहिये था। किन्तु इस शुद्धरूप की प्रवृत्ति से छन्दोभंग हो जाता है। यह प्रति बहुत अशुद्ध है, अत जिन महाशयों के पास इसकी दूसरी कोई प्रति हो व उससे इसका मिलान कर इस संदिग्ध बात पर प्रकाश डालें। संभव है कि दूसरी प्रति शुद्ध हो।

भवन की इस प्रति में तो प्रशस्ति नहीं है। किन्तु "Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Central Provinces & Berar" में— जिसका सम्पादन राय बहादुर हीरालालजी ने किया है उसमें आयप या अय्यपार्य का संक्षिप्त परिचय प्रदर्शन पूर्वक कारंजा शास्त्रभाण्डार से प्राप्त प्रति में निम्न लिखित प्रशस्ति उद्धृत की है —

शाकाब्दे विधुवेदनेत्रहिमगे (?) सिद्धार्थसंवत्सरे
माघे मासि विशुद्धपक्षदशमीपुष्याकवारेऽहनि।
ग्रन्थो रुद्रकुमारराज्यविषये जैनेन्द्रकल्याणभाक्
सम्पूर्णोऽभवदेकशैलनगरे श्रीपालबन्धूर्जित ॥

इति श्रीसकलतार्किकचक्रवर्तिश्रीसमन्तभद्रमुनीश्वरप्रभृतिकविवृन्दारकवन्द्यमानसरोवरराजहंसायमानभगवदर्हत्प्रतिमाभिषेकविशेषविशिष्टबोधकपवित्रीकृतोत्तमाङ्गेनाय्यपार्येण श्रीपुष्पसेनाचार्यपदेशक्रमेण सम्यग्विचार्य पूर्वशास्त्रेभ्य सारमुद्धृत्य विरचित श्रीजिनेन्द्रकल्याणाभ्युदयापरनामधेयजिनेन्द्राभ्युदयोऽर्हत्प्रतिष्ठाग्रन्थ समाप्त ॥

इस प्रशस्ति से यही बात ज्ञात होती है कि अप्पयार्य ने सिद्धार्थ नामक संवत्सर १२४१ माघ शुक्ल दशमी रविवार एवं पुष्य नक्षत्र में पुष्पसेनाचार्य के आदेश से रुद्रकुमार के राज्य में एकशैलनामक नगर में यह ग्रन्थ लिखकर समाप्त किया है। उल्लिखित समय खृष्ट शक २०वीं जनवरी १३२० A. D. होता है। न मालूम किस आधार पर हीरालालजी ने अपने सम्पादित कैटलग में अप्पयार्य को पुष्पसेन का शिष्य लिखा है। ज्ञात होता है कि मंगलाचरण का १६वाँ श्लोक आपकी नजरों से नहीं गुजरा है। क्योंकि पुष्पसेन तो प्रेरक ही मालूम होते हैं।

उक्त यह एकशैल वर्त्तमान वरंगल का प्राचीन नाम है[1]। वरंगल के और भी कई नाम हैं[2]। यह प्राचीन तैलंग की राजधानी थी[3]। काकतेयों ने इस पर ईस्वी सन् १११० से १३२३ ईस्वी तक राज्य किया है[3]। इसी वंश में राजा रुद्रदेव हुए हैं[4]। इनकी यहीं राजधानी थी। मालूम होता है राजा रुद्रदेव इस वंश के अन्तिम राजा थे, क्योंकि इस प्रशस्ति से पता चलता है कि इस ग्रन्थ की रचना ईस्वी सन् १३२० में हुई है और उस समय रुद्रदेव ही शासन कर रहे थे।

प्रशस्तिगत धरसेन, कुमारसेन, पुष्पसेन, श्रीपाल इन विद्वानों के सम्बन्ध में मेरा इस समय कुछ भी विशेष वक्तव्य नहीं है। क्योंकि श्रवणवेलगोल के कतिपय शिलालेखों में धरसेन जी को छोड़कर शेष तीन नाम उपलब्ध होते हैं अवश्य, परन्तु इनमें से कुछ शिलालेखों में तो इनका समय ही नहीं दिया गया है। जिन लेखों में समय दिया गया है, वह भी "अप्पयार्य" के समय से मेल नहीं खाता। "दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" में आये हुए इन उल्लिखित नामवाले ग्रन्थकर्त्ताओं की कृतियों को देखने से संभवतः इनका विशेष परिचय मिल सकता है।

---

१ हिन्दी-विश्वकोष भाग ३ पृष्ठ ४६६ और List of the Antiquarian Remains in the Nizam's Territories By cousens "Another name of Warrangal × ×, is Akshalingar, which in the opinion of Mr. consens is the same yekshilangara"
—The Geographical Dictionary of Ancient & Medieaval India By Nandoo Lal Dey P. 8

२ अनुमकुन्दपुर, अनुमकुन्दपट्टन, कोरुंकोल (of Ptolemy), वेणाकटक, एकशैलिनगर आदि। (The Geographical Dictionary P. 262.)

३ रुद्रदेव का शिलालेख JASB, 1838 P. 903 साथ ही Prof Wilson's Mackenzie collection P. 76.

४ The Geographical Dictionary, P 8

५ 'वरंगल के काकतीय वंशी एक राजा × × ×।' हिन्दी-विश्वकोष भाग १२, पृष्ठ ६२७

नोट—विश्वकोषकार ने संख्या ३ देकर इनके सिवा एक और का भी उल्लेख किया है। "एक हिन्दू राजा ये तैलंगाधिपति थे" सम्भवत यह विश्वकोष-कार के तैलंग और वरंगल इन दोनों को दो भिन्न स्थान समझने की भूल है।

(५) ग्रन्थ न० $\frac{२०५}{ख}$

निदान-मुक्तावली

कर्त्ता—पूज्यपाद (?)

विषय—वैद्यक

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१३। इञ्च चौड़ाई—८। इञ्च पत्रसंख्या—६

मङ्गलाचरण

(अभाव)

प्रथम श्लोक—

रिष्टं दोषं प्रवक्ष्यामि सर्वशास्त्रेषु सम्मतम्।
सर्वप्राणिहितं दृष्टं कालारिष्टश्च निर्णयम् ॥१॥

मध्य भाग (पृष्ठ ४ पंक्ति ११)

पीत्वा जलं यस्य न याति तृष्णा भुक्त्वा भृशं न क्षुदपैति यस्य।
शक्तिक्षये चाथ सुवर्णनाशा मासेऽष्टमे तस्य हि कालमृत्यु ॥
खण्डं भवेद्यस्य पदं कदाचित् पङ्काङ्किते वा भुवि पांसुलेपात्।
ते सप्तक (?) मासि विहाय सर्वं प्रयाति याम्यं सदनं मनुष्य ॥

अन्तिम भाग—

गुरौ मैत्रे देवेऽप्यगदनिकरैर्नास्ति भजनम् तथाप्येवं विद्या श्रुतिनिगदिता शास्त्रनिपुणै ।
अरिष्टं प्रत्यक्षं सुभगमनुमारूढसुभगम् विचार्य्य तच्छ्व्यन्निपुणमतिभि कर्मणि सदा ॥
विज्ञाय यो नरं कालं लक्षणैरेवमादिभि । न भूयो मृत्यवे यस्माद्विद्वान्कर्म समाचरेद् ॥

इति पूज्यपादविरचितायां स्वस्थारिष्टनिदानं समाप्तम्।

× × ×

इसमें दो ही निदान है—(१) कालारिष्ट और (२) स्वस्थारिष्ट।

इस ग्रन्थ की प्रति मद्रास राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत ग्रन्थ की प्रति से करायी गयी है।

इस ग्रन्थ के पद्यों में पूज्यपादजी का नाम कहीं नहीं मिलता। किन्तु मूल प्रति में प्रकरणसमाप्ति-सूचक वाक्य 'पूज्यपादकृत' लिखा रहने के कारण प्रतिलिपि-कर्त्ता लेखक को भी 'पूज्यपादकृत' ज्यों का त्यों लिख देना अनिवार्य था। अस्तु, इस ग्रन्थ के विषय और संस्कृत-रचना की ओर ध्यान देने से सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों के निर्माता प्रातः-स्मरणीय हमारे प्रख्यात पूज्यपादजी को इस ग्रन्थ के रचयिता मानने में मन हिच-किचाता है। सम्भव है कि यह कृति किसी दूसरे पूज्यपाद जी की हो। इस सन्देहास्पद विषय को हल करने के लिये और और प्रतियों की जरूरत है। आशा है कि अन्यान्य पण्डित-मण्डली भी इसकी ओर ध्यान देगी।

---

(६) ग्रन्थ नं० २०६/ख

मदनकामरत्नम्

कर्त्ता—पूज्यपाद (?)

विषय—वैद्यक

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३॥ इञ्च चौड़ाई ८। इञ्च पत्रसंख्या ६४

मङ्गलाचरण

(अभाव)

प्रारम्भिक भाग—

महापूर्णचन्द्रोदयः

मृतं सूतलोहाभ्ररौप्यं समांशम्

· · · ··मृतस्वर्णगन्धं (?)

ससर्व (?) विनिक्षिप्य खल्वे विमर्द्येत्ततः स्वर्णतैलोद्भवेन त्रिवारम् ॥१॥

ततः शाल्मलीसारनिर्यासगुञ्जां प्रयुञ्जीत तज्ज्ञः सुहृद्यानुपानैः।

त्रिदोषत्रयं चापि हन्यात्परेषाम् (?) वयस्तम्भकारी गदोन्मादहारी ॥२॥

वधूगर्वहारी रतौ वृद्धिकारी कृशत्वापहारी कलापूर्णधारी

समस्तेषु योगेषु भूमौ विशेषात् प्रसिद्धो महापूर्णचन्द्रोदयोऽयम् ॥३॥

मध्यभाग—(पृष्ठ ३० पुष्पबाणरस)—

रसभस्म त्रिभागस्यादष्टभाग च गन्धकम् । चतुर्थं मौक्तिकं प्रोक्तं द्विभागा मौक्तिकी शिला ॥
तारमभ्रकलोहाना षड्भागादिकनागयो । अयस्कान्त प्रवालाद्यौ तुल्यभाग प्रकल्पयेत् ॥

अन्तिम भाग—(पञ्चबाणरस)

सुवर्ण रजत कान्त वैक्रान्त तीक्ष्णमभ्रकम् । प्रवाल मुक्तमसित नागवङ्गञ्च भास्करम् ॥
एकैकसमभाग च सर्वतुल्य रसेन्द्रियम् । तत्सम शुद्धगन्धञ्च हंसपादीरसेन च ॥
कौमारीरससंप्रोक्त मर्दितञ्च दिनत्रयम् । काचकुप्यन्तरे क्षिप्त्वा विलेप्य वस्त्रमृत्तिकाम् ॥
वालुकायन्त्रके पक्त्वा यड्यामान्ते समुद्धरेत् । चूर्णीकृत तत खल्वे शतपत्ररसेन च ॥
दिनत्रयञ्च यत्नेन चाधिक सहमाजनात् । कस्तूरिका च कर्पूर भावयेत यथाविधि ॥
शाल्मलीकानि लाक्षाथ गान्धारी समन्वयेत् । वराचन्दनसंयुक्त कणक्षौद्र सिताज्यकम् ।
विंशतिञ्च प्रमेहाणा राजयक्ष्मानानेकान् । शुक्रवृद्धिकरश्चैव वन्ध्या च लभते सुतम् ॥
वन्ध्यनष्ट पुष्पनष्ट मन्दज्वरम् । रक्तपित्त चाम्लपित्त अस्थिस्रावहलीमकम् ॥
अहन्येव रम स्त्रीणा भवन्ति प्रियदर्शनात् । वीर्यवृद्धिकरश्चैव नारीणा रमते शतम् ॥
पञ्चबाणरसो नाम पूज्यपादेन निर्मित ॥

× × ×

पूर्वोद्धृत 'निदानमुक्तावली' और यह वर्तमान 'मदनकामरत्नम्' दोनों ग्रन्थ प्रशस्ति नहीं रहने एवं विषयविच्छेद नहीं होने से ज्ञात होता है कि अपूर्ण हैं। साथ ही साथ इन दोनों के रचयिता भी एक ही पूज्यपाद मालूम होते हैं।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ मदनकामरत्न को कामशास्त्र कहना अनुचित नहीं होगा। क्योंकि ६४ पृष्ठों में से केवल १२ पृष्ठ तक तो महापूर्ण चन्द्रोदय, लोह, अग्निकुमार, ज्वरवलपणिगरुड कालकूट, रत्नाकर, उदयमार्तण्ड, सुवर्णमाल्य प्रतापलंकेश्वर राजेश्वर बालसूर्योदय (दो प्रकार का) इन अन्यान्य ज्वरादि रोगों के विनाशक रसों का विवरण और कर्पूरगुण, मृगहार भेद, कस्तूरी भेद, कस्तूरी गुण, कस्तूर्यनुपान और कस्तूरीपरीक्षा आदि है। बाकी जो ५२ पृष्ठ हैं वे कामदेव के जो पर्यायवाची शब्द हैं उन्हीं भिन्न भिन्न नामों से अङ्कित ५४ प्रकार के कामेश्वररसमय हैं। साथ ही वाजीकरण औषध, तैल, लिङ्ग-वृद्ध लेप, पुष्पवाध्यकारी औषध, स्त्रीवश्यभेषज, मधुरस्वरकारी औषध और गुटिका निर्माण विधि भी है। कार्यसिद्धि के लिये कुछ मन्त्र भी आये हैं। उक्त दिग्दर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ के सभी पृष्ठ कामविषयक विधिविधानों से ही भरे पड़े हैं।

यों तो यह सारा ग्रन्थ पद्यबद्ध है किन्तु एक जगह पञ्चबाण रस के पद्याङ्कित पद्य की संस्कृत गद्य में व्याख्या कर दी गयी है।

(७) ग्रन्थ नं० २०७/ख

जिनयज्ञफलोदयः

कर्त्ता—मुनि कल्याणकीर्त्ति

विषय—पूजाफलविवरण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२। इन्च चौड़ाई ७।। इन्च पत्रसंख्या ८६

मङ्गलाचरण

सर्वज्ञं सर्वविद्यानां विधातारं जिनाधिपम् ।
हिरण्यगर्भं नाभेयं वन्देऽहं विबुधार्चितम् ॥१॥
अन्यानपि जिनान्नत्वा तथागणधरादिकान् ।
कथ्यते मुक्तिसम्प्राप्त्यै जिनयज्ञफलोदयः ॥२॥
जीयाल्ललितकीर्त्तीशो मद्गुरुर्मुनिपुङ्गवः ।
देवचन्द्रमुनीन्द्राच्यों दयापालः प्रसन्नधीः ॥३॥
मादृशोऽपि च यच्छक्तिजिनयज्ञफलोदयः ।(?)
न तच्चित्रं क्रमायातगुरुपर्वावलम्बनात् ॥४॥
कल्याणकीर्त्तिदेवस्य भारतीकविवेधसः ।
सतां चेतसि पीयूषधारां धत्ते निरन्तरम् ॥५॥
वृद्धिं व्रजति विज्ञानं कीर्त्तिश्चरति निर्मला ।
प्रयाति दुरितं दूरं जिनयज्ञफलस्तुतेः ॥६॥

मध्यभाग—(पृष्ठ ४१ श्लोक १९)

जिनशासनमासाद्य ये सम्यक्त्वसमन्वितम् ।
सद्व्रतं नहि कुर्वन्ति म्लेच्छास्ते पशुभिः समाः ॥१९॥
दुर्गन्धिविग्रहाः क्रूराः सर्वलोकतिरस्कृताः ।
काणपङ्गुविवर्णाङ्गाः मलिनच्छिद्रवाससः ॥२०॥
विरूपा विगतच्छाया धनबन्धुविवर्जिताः ।
लभन्ते यन्नरा दुःखं तत्फलं पापकर्मणः ॥२१॥

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(सम्पादक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन)

---

(३) श्री दि० जैन लोहिया अग्रवाल मन्दिर मैनपुरी (गंज)

१ नैमिनाथ—श्वेतपाषाण—१८ अं०—'शुभ सं० १६२० फाल्गुण वदि ३ गुरुवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये श्रीमद्भट्टारक जिनेन्द्रभूषणजिदेवस्तत्पट्टे श्रीमद्भट्टारक महेन्द्रभूषणजिदेवस्तत्पट्टे श्रीमद्भट्टारक राजेन्द्रभूषणजिदेवस्तदुपदेशात् श्रीमदग्रवालान्वय वासिलगोत्रोत्पन्न ॥ काष्ठासंघ बाबू ब्रजमोहनदासस्तद्भार्या सुन्दरि कुंवरितत्पुत्रौ बाबू जगमोहनदास बाबू मुनिसुव्रतदासौ। तद्भार्या कांताकुंवरि दुर्गाकुंवरि सपरिवारे एतैः प्रतिष्ठाकृता आरातनाथा केसरीमलस्तत्पुत्र डालचंद जमधार गरगगोत्रान्वय मस्तके कृता।"

२ चन्द्रप्रभ—कृष्ण पा०—१८ अं०—"सं० १६३५ वर्षे वैशाख सुदी ७ श्रीमूलसंघ ग्रामसराचार्य ।" (पढ़ने में नहीं आता)।

३ अर्हत्—माणिक्यरत्न—२॥ अं०—लेखरहित ।

४ शांतिनाथ—हरित पा०—१४ अं०—"श्री मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वय गरगगोत्र अग्रवालवंश मक्खनलाल प्रतिष्ठितं सं० १६४५ माघवदी २ ।"

५ पार्श्वनाथ—हरित पा०—११ अं०—लेख नं० ४ के अनुरूप ।

६ सुपार्श्वनाथ—हरित पा०—१० अं०—लेख नं० ४ के अनुरूप ।

७ पार्श्वनाथ—हरित पा०—११ अं०—लेख नं० ४ के अनुरूप ।

८ महावीर—श्वे० पा०—२० अं०—"श्री सं० १६४८ माघ शुक्ल १२ प्रतिष्ठितं ।"

९ पार्श्वनाथ—श्वे० पा०—२८ अं०—"श्री सं० १६४८ माघ शुक्ल १२ दिगम्बराम्नाय प्रतिष्ठितं हाथरसे ।"

नोट—जो प्रतिमायें गङ्गामल हैं उनके साथ "गङ्गामल" लिख दिया है परन्तु सब पाषाण समझना चाहिए ।

सौभाग्य हुआ हो जान के रास्ता में "प्रतिमा-लेख-संग्रह" के लेखों की अनेक अशुद्धियाँ ठीक नहीं छप गयी हैं । —सम्पादक

१० आदिनाथ—श्वे० पा०—२२ अं—"सं० १४७० श्रीयुत राजचक्रवर्ती लो मुनाम राजरद्दि श्री जोधपुरमाही प्रतिष्ठा करापिता कल्याणदास मैनपुरीगंज।"

११ चंद्रप्रभ—स्फटिक पा०—१३ अं०—लेख नं० ४ की भांति।

१२ शांतिनाथ—धातु—१८ अ—"सं० १६११ फाल्गुन मासे शुक्लपक्षे ६ गुरुवासरे को प्रतिष्ठितं मैनपुरी मद्दे श्रीमूलसंघ बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्य० कौसल गोत्रे लाला मलैरामतत्संग भ्रात कल्याण नित्यं प्रणमत श्रीस्व०॥

१३ आदिनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १६५७ .....।'

१४ पार्श्वनाथ—धातु—७ अं०—"सं० १६११ फाल्गुण सुदी ७ अगौ भाई मलैराम सुरायो प्रणमंत नित्यं।"

१५ सुपार्श्वनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १६५२ प्यारेलाल मैनपुरी।"

१६ चंद्रप्रभ—श्वेत पाषाण—१६ अं०—"स० १६४५ ..।' इत्यादि

१७ चंद्रप्रभ—स्फटिक—"सं० १६४५ माघ सुदी ७ प्रतिष्ठितं।"

१८ पार्श्वनाथ—धातु—१४ अं०—"सं० १६११ फाल्गुन मासे शुक्ल पक्षे ७ भृगौ प्रतिष्ठितं ......मध्ये भाई मलराम नित्यं प्रणमंति।'

१९ अजितनाथ—श्वेत पाषाण—७ अं०—'सं० १६४५ माघकृष्ण २ प्रतिष्ठितं।"

२० पार्श्वनाथ—पाषाण—८०—"सं० १६५७ प्रतिष्ठितं।"

२१ सुपार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १६५७ चैतवदी २ मलैराम मैनपुरी।"

२२ अरहंत—धातु—४ अं०—"सं० १६४५ प्रतिष्ठितं।"

२३ चंद्रप्रभ—धातु—४ अं०—"सं० १६५७।"

२४ महावीर—धातु—४ अं०—"सं० १६५७।"

२५ महावीर—धातु—४ अं०—"सं० १६५७।"

२६ नेमिनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १६५७ श्री भौगाँव प्रतिष्ठितं।"

२७ श्रेयांसनाथ—धातु—४ अं०—"सं० १६५७ वकरेमल प्र० भौगाँव मध्ये।"

२८ चंद्रप्रभ—धातु—४ अं०—' सं० १६५७ वकरेमल दिगंबर आम्नाय।'

२९ महावीर—धातु—४ अं०—उपर्युक्त लेख।

३० सुपार्श्वनाथ—धातु—४ अं०—उपर्युक्त लेख।

(४) निम्नांकित प्रतिमायें श्री दि० जैन-मन्दिर (भगतजी का) मैनपुरी (गंज) में विराजमान हैं और इनके लिंग-चिह्न प्रकट नहीं हैं।

१ आदिनाथ चतुर्मुख मंदिर सहित—श्वेत पाषाण—मंदिर सहित ऊंचाई २८ अं०—मूर्ति की ऊँचाई ८ अं०—"सं० १५४५ माघ कृष्ण २ श्री मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वय अगरवारगोत्रे झम्मनलालेन प्रतिष्ठापित कल्याण ददातु।"

२ सुपार्श्वनाथ—श्वेत पाषाण—१० अ—"सं० १५४५ इत्यादि उपर्युक्त की भाँति।

३ सुपार्श्वनाथ—मूंगावर्ण पा०—८ अं०—लेख उपयुक्त की भांति।

४ अनंतनाथ—श्वेत पाषाण—८ अं०—"श्रीमूलसंघ बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये अगरवार झम्मनलालेन प्रतिष्ठित सं० १५४५।"

५ विमलनाथ—श्वेत पाषाण—७ अं०—"सं० १५४५ माघ० कृ० २ प्रतिष्ठित मूल संघ झम्मनलालेन प्रतिष्ठित।"

६ अर्हत् चतुर्मुख मन्दिर सहित—श्वेत—५ अं०—३॥ अं०—लेखरहित।

७ महावीर—कृ० पा०—२२ अं—"श्री सं० १५४५ शुक्ल १२ बुधे सिद्ध आम्नाय प्रतिष्ठित जानकीदास मैनपुरा।"

८ शांतिनाथ—श्वेत पा—८ अं०—"सं० १५४५ माघ कृष्ण २ झम्मनलाल प्रतिष्ठितं।

९ नमि—श्वेत—८ अं०—"सं० १५४५ माघ कृष्ण २ श्रीमूलसंघे ब० ग० स० ग० कु० झम्मनलालेन।"

१० चन्द्रप्रभ—श्वेत—७ अं०—उपर्युक्त के समान लेख।

११ अर्हत्—मूंगावर्ण—८ अं० "

१२ अर्हत्—हरित पा०—८ अं० "

१३ श्रेयांसनाथ—श्वेत—७ अं० "

१४ महावीर—हरित कृ०—७ अं० "

१५ नमिनाथ—श्वे०—७ अं० "

१६ चन्द्रप्रभ—श्वे०—१८—"शुभ संवत् १८२० फाल्गुण वदि ३ गुरुवासरे श्रीमूलसंघ बलात्कारगण सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाय श्रीमद्भट्टारक जिनेन्द्रभूषणजित्तत्पट्टान्वय श्रीमद्भट्टारक महेन्द्रभूषण" इत्यादि।

१७ चन्द्रप्रभ—श्वेत—१८ अं०—लेख पढ़ने में नहीं आता।

१८ ऋषभनाथ—श्वेत—११ श्रं०—"श्री मूलसंघ बलात्कारगणे श्रीसरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये सं० १६४५ माघकृष्ण २ झम्मनलालेन प्रतिष्ठितं ।"

१९ अर्हत्—हरितकृष्ण—७ श्रं०—लेख पूर्ववत् ।

२० कुंथुनाथ—श्वेत—८ श्रं०—लेख पूर्ववत् ।

---

(५) मैनपुरी (कटरा) के दिगम्बर जैन मंदिर में स्थित ताम्रपत्रों की प्रशस्तियां ।

१ षोडशकारणयंत्र—"सं० १५२५ वर्षे चैत्र सुदि ७ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्रीसुभचंद्र देवा तत्पट्टे भट्टारक श्रीनेमिचंद्र देवा तत्पट्टे भ० जिनचंद्रदेव तत्पट्टे श्रीसिंहकीर्तिदेव तदाम्नाये साह लोणा षोडसकारण यंत्र करापितं । कर्मक्षयनिमित्तं ।"

२ दशलक्षणधर्मयंत्र—"सं० १६४२ वर्षे फाल्गुण सुदि ६ दिने श्रीसत्काष्टासंघे हेमचंद्र आम्नाये । ब्रह्मदीप तस्य शिष्य—तस्य आम्नाये वासलगोत्रे सा० गुणदास तस्य भार्या जाही इत्यादि ।"

३ सिद्धयंत्र—"सं० १७५२ का वर्षे जेष्ट वदि ६ शुक्र वासरे श्रीमूलसंघे भं० श्री जसकीर्ति जी देवा भ० श्रीरत्नकीर्ति जो तदाम्नाये खंडेलवालान्वये जोवनपुर वास्तव्ये श्रीविजैस्यंघ राजे ।"

४ षोडशकारणयंत्र—"सं० १७८३ वर्षे वैशाख वदि ८ बुधवार श्रीमूलसंघ भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये वासपाहकर्वट्टे लुहाड्यागोत्रे संघ ही श्री हृदयराम विवि प्रतिष्ठा पं० भामनि ।"

५ षोडशकारणयंत्र—"सं० १६०६ फाल्गुण वदि १० मूलसंघ सरस्वतीगच्छे भ० श्रीपद्मकीर्ति उपदेशात् ज्ञातौ गहतू राजमल सेठ भार्या सावाई पुत्र जगड सेठ भार्या शिवबाई सुराय सेठे प्रणमन्ति ।"

नोट—इनके अतिरिक्त इस मंदिर में करीब १००-१२५ यंत्र और हैं जो अभी पढ़े नही गये है ।

---

(६) मैनपुरी (कटरा) के दिगम्बर जैन मंदिर में विराजमान लिंगचिह्न-सहित प्रतिमाओं का लेखसंग्रह ।

१ पार्श्वनाथ—धातु—६ श्रं०—"संवत् ११२० ।"

२ चंद्रप्रभ—श्वेतपाषाण—२१ श्रं०—"सं० १२३४ वर्षे मास कातिक सुदी १ गुरुवासरे भट्टारक आम्नाय सा० बुधमल अग्रवाल गर्गगोली प्रतिष्ठाणाम् मंगलाल विमलं अष्टसिद्धि नवनिधिदायक बिंबस्थापनं । गुरु आचार्जकाल ।"

३ अर्हत् तीन—(खड्गासन)—धातु—२४ अ०—"सं० १४३७ वैसाख सुदी १० बुधे काष्ठासंघे भ० गुणभद्र जैसवाल सा० सूपचन्द्र भार्या नैमा पुत्र धनपा नैमा कारितम् ।"

४ अर्हत् तीन—धातु—४ अ०—"स० १५०२ ।"

५ पार्श्वनाथ—धातु—७ अ०—"स० १५०२ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीजिनचन्द्र पाडुलिया गोत्रे साहु प्रममी तत्पुत्र राजदेव नित्य प्रणमति ।"

६ महावीर समवशरण—धातु—११ अ०—"स० १५०३ मागसिर सुदी ४ श्रीमूलसंघे भ० श्री पद्मनंदि देवा ।"

७ चन्द्रप्रभ—श्वेत पाषाण अमनेजाला—३२ अ०—"सम्वत् १५०६ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्रे काष्ठासंघे श्रीकमलकीर्ति देव तदाम्नाये सा० थिरू स्त्री भानदे पुत्र सा० जयमाल जाइश्वाले प्रणमन्ति महाराज पुत्र गोपाल ।"

८ शांतिनाथ—श्वेत पा०—२६ अ०—"स० १५०६ वर्षे चैत्र सुदी १३ रविवासरे श्री मूलसंघे भट्टारक श्रीपद्मनंदि देवतत्पट्टे श्रीशुभचन्द्रदेव तत्पट्टे श्रीजिनचंद्रदेव श्रीडीपैग्रामस्थाने महाराजाधिराज श्रीप्रतापचन्द्रदेव राज्ये प्रवर्तमाने यदुवंशलम्बकञ्चुकान्वये साधु श्री उदयस्तत्पुत्र अर्जी तस्य भार्या सूगा तत्पुत्र संघाधिपति घघे भार्या मूला पुत्र भानराज तिन जिनबिंब प्रतिष्ठापण ते नित्य प्रणमति ।"

९ अर्हत् तीन (खड्गासन)—धातु—१० अ—"स० १५१० माघसुदि १३ सोमे श्रीकाष्ठासंघे आ० मलयकीर्तिदेवा तथा प्रतिष्ठितम् ।"

१० महावीर समवशरण मध्यवर्ती आमडल आदि सहित—धातु—१६ अ०—"स० १५२० वर्षे आषाढ़ सुदी ७ गुरौ श्रीमूलसंघे भ० श्रीजिनचन्द्र तत्पट्टे भ० श्रीसिंहकीर्ति लंबक चुकान्वये अठली वास्तव्ये साहु श्री दिपा भार्या इदा सुपुत्र सा० सूर भार्या सेमा दि पुत्र सालव भार्या रामा सुपुत्र प्रणमति इष्टिकापथ प्रतिष्ठितं ।"

११ चौबीसी पट—तीन खड्गासन, शेष पद्मासन—धातु—११ अ०—"सं० १५२५ वर्षे चैत्रसुदि ५ सोमवासरे काष्ठासंघे माथुरान्वये भ० समीरसिंहदेव तत्पट्टे हेमकीर्तिदेव ।"

१२ श्रेयांसनाथ—धातु—४ अ०—"स० १५२५ चैत्र शुक्ल ३ बुधे श्रीमूलसंघे श्रीसिंहकीर्ति प० ६० पु० लम्बकञ्चुकान्वये सा० मिरउ भार्या साना पुत्र सा० रतन् भार्या मना प्रणमन्ति ।"

१३ पारस—"स० १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदि ८ श्रीभट्टारक विजयमनित साह्नीनरतमव ।"

१४ अर्हत तीन (खड्गासन)—धातु—५ अ०—"स० १५६० "

१५ आदिनाथ—धातु—खड्गासन—१० अ०—"स० १६२८ वर्षे फाल्गुण सुदी २ श्रीकाष्ठासंघे

भ० श्री भानुकीर्ति तदाम्नाये जैसवाल साह मिथी भा० भानी तया पुत्र विसाद भा० तूरा तयोपुत्र रिषभदास भा० मणिकदेवि साहा नित्यं प्रणमति।"

१६ अर्हत्—खड्गासन—धातु—१० अं०—लेखरहित।

१७ अनंतनाथ—धातु—६ अं०—"सं० १५४५ ज्येष्ठ सुदि ५ श्रीमूलसंघे भ० जिनचंद्राम्नाये सं० ...."

१८ पार्श्व—यक्षादिसहित—धातु—७ अं०—'सं० १६४६ ....।"

१९ पद्मप्रभ—श्वेत पा०—२१ अं०—"सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदी २ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीजिनचन्द्रदेव. स जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमंति शरणं श्रीराजाय।

२० पार्श्व—धातु—६ अं०—'सं० १५६३ ज्येष्ठसुदी ३ श्री मूलसंघे ... ."

२१ पार्श्व—धातु - ४॥ अं०—"सं० १५३१ मूलसंघे सा० ... ."

२२ महावीर—श्वेत पा०—२३ अं०—"स० १६६२ वर्षे वैसाख वदी २ शुभ दिने श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्रीअभयचन्द्र देवे तत्पट्टे भ० श्री अभयनन्दुदेव तत्पट्टे आचार्य श्रीरत्नकीर्ति तस्य शिष्याणी बाई वीरमती नित्तं प्रणमति श्री महावीरम्।"

२३ अर्हत् खड्गासन—धातु—२७ अं०—लेखरहित।

२४ पार्श्व—कृष्ण पा०—२४ अं०—"सं० .. ..माव सुदी ३ सोमवार अखेरा महाराजधिराज महाराजा श्री ....मानसियो यसकीर्ति तत्सम्नवो दमकीर्ति तस्य प्रधाने (?) सरस्वती देवी .....मण्डलाचार्य......गीया गोत्रे संघई मामसेन—"

२५ नेमिनाथ—श्वेत पा०—३० अं—"सं० १५३७ वैसाख सुदी १० बुधे काष्ठासंघे भ० मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये गोअलगोल सा० राजू भार्या जाल्ही पुत्र छाजू टूडा स्त्री धीकी पुत्र कामराज भार्या उदी पुत्र ३ रामचन्द्र चन्द्रपाल जिनदास रामचन्द्र स्त्री चार्युदे पुत्र ताराचन्द्र वन्द्यम् महाराज श्री कल्याणमल्ल राज्ये।"

२६ चन्द्रप्रभ—श्वेत पा०—१२ अं०—"सं० १५४६ वर्षे वैसाख सुदी १४ श्री जिनचंद्रदेव सा० जीवराज पापडीवाल मूलसंघे सरस्वतीगच्छे......"

२७ चन्द्रप्रभ—श्वेत पा०—१४ अं०—"सं० १५७८ वरप वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे श्रीजीवराज पापड़ीवाल......"

२८ आदिनाथ—श्वेत—२८ अं०—लेख पढने में नहीं आता।

२९ नेमिनाथ—श्वेत—२० अं०—"सं० १५४८ वरपे वैसाप सुदि ३ श्री मूलसंघे भ०——सा० जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमंति।"

३० धोमुखी अर्हत्—खड्गासन—धातु—१० अ०—"सं० १५६६ वैसाष सुदि १२ सामदिने भिमा माता गदा तसु पुत्र वाघा ।"

३१ चन्द्रप्रभ—श्वेत पा०—१०॥ अ०—"सं० १५२८ वर्षे वैसाष सुदि ३ श्रीभानुचन्द्र भट्टारकजी श्रीनिमराज पापड़ीवाल "

३२ आदिनाथ—श्वेत—२८ अ०—"सं० १५४८ वरष वसाष सुदी ३ श्री मुलसंघ भट्टारक जी श्रीभानुचन्द्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमति सहर सुहाला श्रीराना सबसघ ।"

३३ अर्हत्—श्वेत—१० अ०—'सं० १५७७ इत्यादि—'

३४ अर्हत्—कृष्ण पा०—४ अ०—'सं० १६६६"

३५ पार्श्व—खड्गा० ४ अ—लेखरहित ।

३६ श्रेयासनाथ (गैंडा)—श्वेत पा०—३२ अ०—"सं० १६८८ वर्षे फाल्गुण सुदी ८ शनौ श्री मूलसंघ भ० श्रीज्ञानभूषणदेव तत्पट्टे भ० श्री जगद्भूषणदेव तदाम्नाये पुल ज्ञातिय पोमिज गोत्रे साधु तारन तद्भार्या मैना भार्या जमुना तत्पुत्र साधु भान तस्य भार्या नरायनदे तत्पुत्र साधु रानाराय प्रेमकरण एतेषां मध्ये साधु मानो बिम्ब प्रणमन्ति ।"

३७ अर्हत्—धातु—२३ अ०—पद्मादि चमरछत्रादि सहित—लेख रहित ।

३८ अर्हत्—(खड्गासन)—धातु—२ अ०—लेख रहित ।

(कुल १४० प्रतिमायें हैं, जिनमें २६ लिङ्गचिह्न सहित और शेष लिङ्गचिह्न रहित हैं)

---

(७) मैनपुरी (मुहम्मगंज) के दि० जैन पंचायती (बड़ा) मंदिर में विराजमान लिंगचिह्न-सहित प्रतिमाओं पर का लेख-संग्रह ।

१ नेमिनाथ—कृष्ण पा०—५० अ० ऊंचाई—"श्री सं० १९५२ का मिती माघसुदी ५ काष्टासंघे माथुरगच्छे पुष्करगण लाहाचार्याम्नाये भ० मुनीन्द्रकीर्ति देवस्तदाम्नाये अगरवाल वंश्यजश बाबू रामदासजी तत्पुत्रा बाबू छेदीलाल विष्णुचंद जी नरोत्तमदासजी श्री जिनमन्दिर पूर्वक श्री जिनबिम्ब प्रतिष्ठा करापिता अंगरेज बहादुर श्रीमती रायी विक्टूरिया शहशाह राज्य प्रवर्तमाने शुभम् ।"

२ तीन भगवान खड्गासन—छत्रसहित—मध्य में शीतलनाथ—इधर उधर नेमिनाथ और अभिनन्दनाथ—१३ अ०—"सं० १२११ माघ सुदी ५ साधु उदयचंद पुत्र अयचन्द ।"

पट्कोलं च चतुर्जातं वत्सनाभस्तु कट्फलं ।
वंध्या कर्कोटकी कन्दधन्याकं कटुरोहिणी ॥२॥
विषतिन्दुकबीजानि सामुद्रं मरिचानि च ।
एतेषां समभागानां पटगाल्तिचूर्णितम् ॥३॥
कज्जलीं तत्समां दत्वा विमृज्य परिमर्द्य च ।
शिग्रू मूलस्य निर्गुंड्याः जयंत्याश्चित्रकस्य च ॥४॥
द्रवैश्चैवमेकं दिवसं (?) मर्दयेच्चातियत्नतः ।
पश्चाद्धिगुजलं दत्वा कुर्याच्चणमिता वटी ॥५॥
अयं ज्वालामुखो नाम पूज्यपादेन भाषितः ।
उष्णोदकानुपानेन सेविता च वटी नृणां ॥६॥
शुलं च गुल्मरोगं च दुःसाध्यं श्लेष्मगुल्मकं ।
ज्वरान् कफकृतान् हंति कफरोगान्विशेषतः ॥७॥
गलामयान् स्वरभ्रंशं पांडु शोफं कफं तथा ।
ग्रहणीं चातिमंदाग्नि चामकोष्टं विशेषतः ॥८॥
दुस्तरं चामवातं च जीर्णवातगदं तथा ।
सर्वव्याधिहरः शीघ्रं नाम्ना ज्वालामुखो रसः ॥९॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, गोदंती हरताल, ताम्र भस्म तथा शुद्ध मेनसिल, वज्रअभ्रक का भस्म, सब समान लेकर सब की कज्जली करे, फिर ३ तोला चतुर्जात (दालचीनी, इलायची, तेज पत्र, नागकेशर) लेवे एवं शुद्ध विष नाग, कायफल, बांझ-ककोड़ा, विदारीकंद, धनियाँ, कुटकी, शुद्ध कुचला, समुद्र नमक, काली मिरच, इन सबका एक एक तोला लेकर कूट कपड़छान कर इन सब के चूर्ण बराबर ऊपर की कज्जली लेकर मर्दन कर मीठे सोजना की जड़ और निर्गुंडी जयंती (अरनी) चित्रक इन सबके स्वरस में या काढ़े में अलग अलग एक एक दिन भावना देकर सुखावे। पश्चात् हींग का पानी देकर चना बराबर गोली बांधे तब यह ज्वाला मुख नामक रस तैयार हो जाता है। यह पूज्यपाद स्वामी का बताया हुआ रस है। इसको गर्म पानी से सेवन करने से शूल रोग तथा दुःसाध्य कफजन्य गुल्म रोग, कफजन्य ज्वर, गले के रोग, स्वरभंग, पांडु रोग, शोथ रोग, कफजन्य कोई भी रोग, ग्रहणी, अत्यन्त मंदाग्नि, विशेष कर आम कोष्ठ को तथा कठिन आमबात, जीर्ण बात आदि सम्पूर्ण रोगों को अनुपानयोग से यह नाश करता है।

१०—सन्निपाते–सन्निपातान्तको रस

रस विष रवि कृष्णा गंधक चोषणं क्रमात्।
द्विचतु पंचविंशाग्रसुमस्त्यक (?) चाष्टक ॥१॥
अर्कपत्ररसेनैव याममात्र तु मर्दयेत्।
गुंजाप्रमाणवटिका छायाशुष्का तु कारयेत् ॥२॥
आर्द्र कद्रवसंयुक्ता सन्निपातकुलान्तिका।
सर्वदोषविनाशघ्नी पूज्यपादेन भाषिता ॥३॥

टीका—शुद्ध पारा २ भाग, शुद्ध विषनाग चार भाग, ताम्रभस्म पाँच भाग, पीपल १३ भाग, शुद्ध गंधक ८ भाग, काली मिर्च ८ भाग इन सबको लेकर अकौआ के पत्ते के स्वरस में एक प्रहर तक मर्दन करके एक एक रत्ती प्रमाण गोली बांध लेवे और छाया में सुखावे। इस गोली को अदरख के रस के साथ देने से सन्निपात शान्त होता है तथा यह सब दोषों का नाश करनेवाला है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

११—जलोदरादौ पचाग्नि गुटिका

पंचाग्नि पचलवण द्विक्षार रामठ बचा।
कटुत्रयाजमोदा च सर्षप जीरकद्वय ॥१॥
रसुन त्रिवृताग्रन्थि समभागानि कारयेत्।
सुधाक्षीरेण संपिष्य सूरणस्योदर लिपेत् ॥२॥
घृतालिप्त च कर्तव्य पचेद् गोमयवह्निना।
स्वांगशीतलमादाय सर्वं पिष्ट्वा सुधारसे ॥३॥
कोलबीजाधमात्रेण वटकान् कारयेद्भिषक्।
लेहयेद्विसारेण जलकुम्भ च कुम्भज ॥४॥
पथ्य दध्योदन तत्र हिता सर्वान्रोगापहा।
पूज्यपादप्रयुक्तेयं सर्वाग्निकुलान्तनी ॥५॥

टीका—पाँच भाग चित्रक, पाँचों नमक (समुद्र नमक, काला नमक, सैंधा नमक, बिड नमक, साँभर नमक) सज्जीखार, जवाखार, हींग दूधिया, बच, सोंठ, मिर्च, पीपल अजमोदा, सफेद सरसों, दोनों जीरा, लहसुन, निशोथ, पीपरामूल ये सब एक एक भाग

लेकर सबको कूट कपड़छान कर थूहर के दूध से पीस कर सूरण का कुछ दल निकाल कर उसके भीतर सब दवाइयों को भर दे और उसको घी से लिप्त कर ऊपर से कपड़मट्टी कर सुखावे, इसके उपरांत जंगली कंडों की अग्नि में पकावे, जब स्वांग शीतल हो जाय तब सबको फिर से थूहर के दूध से पीस कर बेर की गुठली के आधे परिमाण के बराबर गोली बाँधे और उस गोली को दही के तोड़ से एक एक या दो दो गोली खावे। इसके खाने से जलोदर, कूर्मोदर शांत होते हैं। इसके ऊपर दही भात पथ्य है। यह पूज्यपाद स्वामी की कही हुई सब प्रकार के उदर रोगों को नाश करनेवाली है।

१२—उपदंशादौ कंदर्पो रसः

सुरसं दशभागं च गंधकस्य तथैव च।
नवसारार्धभागं तु सर्वमेवं प्रमर्दयेत् ॥१॥
हंसपादी जयंती च स्वरसैः कृष्णधूर्तकैः।
कोचकूप्यां विनिक्षिप्य चावरुध्य प्रयत्नतः ॥२॥
ज्वालयेदग्नि यत्नेन दिनत्रयविनिर्मितम्।
स्वांगशीतलमुद्धृत्य ग्राह्यं यत्नेन भस्मकं ॥३॥
देवकुसुमं च कर्पूरं दापयेत् समभागकम्।
गुंजाद्वयं त्रयं चैव मधुना लेहयेन्नरः ॥४॥
उपदंशहरप्रयोगोऽयं धातुवर्धनतत्परः।
कंदर्पसमतनुं कृत्वा पूज्यपादेनभाषितः ॥५॥

टीका—शुद्ध पारा १० भाग, शुद्ध गंधक १० भाग और नौसादर ५ भाग, सबको एकत्रित कर कज्जली बनावे तथा हंसराज, गनयारी, (अरनी) काला धतूरा इसके स्वरस में मर्दन करके सुखावे तत्पश्चात् काँच की शीशी में भरकर बालुकायंत्र में तीन दिन तक पकावे जब ठीक पाक हो जाय तब ठंडा होने पर यत्नपूर्वक निकाल ले तथा उसमें लवंग और कपूर समान भाग मिलाकर २ रत्ती अथवा तीन रत्ती मधु के साथ दे तो यह अनेक कठिन से कठिन उपदंश को नाशकर मनुष्य के शरीर को कामदेव के सदृश बनाकर धातु को बढ़ाने में समर्थ होता है यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३—विषमज्वरे चतुर्थज्वरहरवटिका

टङ्कणं दरदं सूतं कणाबोलं तु तुल्यकं ।
कांतं गंधं शिलातालं नरसारं तथा विषं ॥१॥
कारवल्लीरसैर्मर्द्य वटी गुंजाप्रमाणिका ।
गुडेन सह मिश्रं तु चातुर्थिकहरीपरम् ॥२॥

टीका—शुद्ध चौकिया सुहागा, शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध पारा, पीपल, शुद्ध बोल, शुद्ध तूतिया, कान्तिसार, शुद्ध आमलासार गंधक, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध तबकिया हरताल, शुद्ध नौसादर, शुद्ध सिंगिया, इन सबको घोट, कूट कूट, पीस और कपड़छन कर, करेले के स्वरस में १ रत्ती प्रमाण गोली बनावे तथा पुराने गुड़ के साथ चौथिया ज्वर आने के पहले, एक एक गोली खाने से लाभ होता है।

१४—अग्निमांद्ये अग्निकुमाररस

रसगंधकयोः कृत्वा कज्जलीं तुल्यभागयोः ।
पादांशममृतं दत्वा शुक्तिभस्मसमांशकम् ॥१॥
हंसपादीरसैः सम्यङ् मर्दयित्वा दिनत्रयम् ।
स्थूलगोलांस्ततः कृत्वा परिशोष्य खरातपे ॥२॥
निरुध्य वालुकायंत्रे क्रमवृद्धेन वन्हिना ।
पचेदेकमहोरात्रं ततः शीतं विचूर्णयेत् ॥३॥
पादांशममृतं दत्वा मर्दयेदार्द्रकद्रवैः ।
नियुज्य स्थालिकामध्ये ततोऽन्यस्थालिकोदरे ॥४॥
पलार्धममृतं दत्वा रसस्थालीं च तन्मुखे ।
न्युब्जां दत्वा दृढं रुध्वा तु यामार्धं यत्नतः ॥५॥
यामं प्रज्वालयेदग्निं विचूर्ण्य तदनंतरम् ।
करंडके विनिक्षिप्य स्थापयेदति यत्नतः ॥६॥
रसोऽग्निकुमाराख्यो पूज्यपादेन भाषितः ।
हन्त्यादेशोऽग्निमांद्यं ज्वरगदमरितं वातजातां क्षयार्तिं ॥
शोथाढ्यं पांडुरोगं कफजनितगदान् प्लीहगुल्मौ गदार्तिं ।

सर्वाङ्गीणं च शूलं जठरभवरुजं खंजतां पङ्गुलत्वम् ।
सर्वांश्चासाध्यरोगान् जिन इव दुरितं रक्तगुल्मं वधूनाम् ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक ये दोनों बराबर बराबर लेकर उनकी कज्जली बनावे तथा पारे से चौथाई भाग शुद्ध विष लेवे और विष के बराबर शुक्तिका भस्म लेकर सबको तीन दिन तक हंसराज के रस से घोंटे, तत्पश्चात् उसका गोला बना कर तेज घाम में सुखावे, सूख जाने पर बालुकायन्त्र में रख कर क्रम से मृदु, मध्यम और तीव्र अग्नि से एक दिन-रात पकावे फिर ठंढा होनेपर सबका चूर्ण कर उससे चौथाई शुद्ध विषनाग मिलाकर अदरख के रस के साथ घोंटे तथा उसको एक कोरी हंडी के अंदर रख देवे या लेप कर देवे। बाद दूसरी हंडी में २ तोला विषनाग के चूर्ण को पानी से गीला कर सब में छिड़क देवे। पहली हंडी पर दूसरी हंडी को उलटी कर (मुख से मुख मिलाकर) रख दे। दोनो के मुख को कपड़मिट्टी से बंद कर और सुखाकर चूल्हे पर रख एक प्रहर तक आँच देवे और ठंढा होने पर चूर्ण करके शीशी में रख लेवे, बस ऐसे ही अग्निकुमार रस तैयार हो जाता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ रस है। यह अग्नि की मन्दता, सर्व प्रकार के ज्वर, बातरोग, क्षय, शोथरोग, पांडुरोग, कफजन्य रोग, प्लीहा, गुल्मरोग, सर्वांग का शूल, उदरशूल, खंजपना, लंगड़ापन, स्त्रियों के रक्त गुल्म तथा और भी असाध्य रोगों को यह रस नाश करता है जैसे जिन भगवान पापों को नाश करते है।

५५—उदर-रोगे राजचंडेश्वररसः

रसं गंधं विषं ताम्रं सप्ताहं मर्दयेत् दृढं ।
निर्गुंड्यार्द्रकनिर्यासैः पृथक् सिद्धो भवेद्रसः ॥१॥
राजचण्डेश्वरो नाम गुंजैकं चार्द्र-वारिणा ।
उदररोगनिवृत्यर्थं पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध विष, ताम्रभस्म इन चारों को सात दिन तक निर्गुन्डी के स्वरस में तथा अदरख के स्वरस में अलग अलग घोंटकर एक एक रत्ती की गोली बनावे और उस एक एक गोली को सुबह, शाम अदरख के स्वरस के साथ सेवन करे तो सर्व प्रकार के उदर रोग शांत हो जाते है ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१६—ज्वरादौ ज्वरांकुशरस

सूतभस्म दरद सम मृत शखनाभिरशुद्धगधक।
नागरक्वथितमर्दित च तद्वल्लमात्रमिह नूतनज्वरे ॥१॥
आर्द्रकद्रवविमिश्रित ददेत् त्र्यूषणस्य त्रिफलारज समै ।
पूज्यपादकथितो महागुणा सर्वदोषप्रशम ज्वरांकुश ॥

टीका—पारे का भस्म, शुद्ध सिंगरफ, ताम्रभस्म, शुद्ध शखनाभि, शुद्ध गधक इन सबको बराबर लेकर सोंठ के काढे से मर्दन करके गोली बनावे और इसको एक वल्ल अथवा रोगानुसार मात्रा कल्पना करके नवीन ज्वर में अदरख के रस के साथ तथा सोंठ, कालीमिर्च, पीपल के काढे के साथ और त्रिफला के काढे अथवा चूर्ण के साथ देवे, तो सब प्रकार का ज्वर शात होवे।

१७—सन्निपातादौ भूतादिभैरवरस

सूत च गधक चेति ग्राह्य चैव समाशकम्।
समात्र्योषसमिश्र मर्दयेन्निम्ब—वारिणा ॥१॥
दिनेनैकेन सतत सूर्यतापेन शोषित।
चतुर्थांशविष ग्राह्य रससिद्धिर्भविष्यति ॥२॥
भक्षयेद्गुञ्जमात्रेण चार्द्रकस्य रसेन तु।
सर्वाणि संनिपातानि त्रिदोषद्वन्द्वन हरेत् ॥३॥
सर्वशल्य च मूकत्व प्रलाप तद्रिक हरेत्।
भूतादिभैरवो नाम पूज्यपादेन भाषित ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा तथा शुद्ध गधक दोना समान भाग लेकर कज्जली बनाय फिर दोना के बराबर सोंठ, मिर्च, पीपल लेकर मिलावे और नीम की पत्ती के स्वरस में दिन भर घोंटता रहे और धूप में सुखावे तत्पश्चात् उस सम्पूर्ण औषधि से चौथाई शुद्ध विष लेकर मिलावे और खूब घोंटे बस रस तैयार होगया। इसको १ रत्ती प्रमाण अदरख के रस के साथ सेवन करने से सब प्रकार के सन्निपात, त्रिदोषज ज्वर, द्वन्द्वज ज्वरों को नाश करता है तथा सब प्रकारके शीत रोग, मूकता, प्रलाप, तंद्रा इत्यादि रोगो का भी नाश करता है। यह भूतादिभैरव नाम का रस पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ बहुत उत्तम है।

१८—सर्वज्वरे चन्द्रोदयरसः

रसगंधं तथा वंगं चाभ्रकं सममागतः।
मेलयित्वा तु वंगेन समं सूतं विमर्दयेत् ॥१॥
तद्वीकृत्य वंगाभ्रे जंबीराम्लेन मर्दयेत्।
सामान्यपुटमादद्यात् सप्तधा भावितो रसः ॥२॥
कुमार्या चित्रकेणापि भावयित्वा तु सप्तधा।
गुडेन जीरकेणापि ज्वराजीर्णे प्रयोजयेत् ॥३॥
इत्येवं रोगतापघ्नचन्द्रोदयरसः स्मृतः।
सर्वदोषविनिर्मुक्तः पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, वंग भस्म और अभ्रकरस ये चारों बराबर लेवे, यहां पर पहले बंग को गलावे जब बंग गल जाय तब उसमें पारा डालकर मिलावे पश्चात् दूसरी औषधि मिलावे और जंबीरी नींबू के रस से मर्दन करे और पुट देवे, इस प्रकार सात बार भावना देकर पुट लगावे, कुमारी के स्वरस से तथा चित्रक के स्वरस से सात सात भावना देकर पुट लगावे इस प्रकार जब इक्कीस पुट हो जाय तब तैयार हुआ समझे। यह पुराना गुड तथा सफेद जीरा के साथ सेवन करने से सब प्रकार का ज्वर एवं अजीर्ण रोग को नाश करनेवाला है। यह सब दोषों से रहित चन्द्रोदय रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

१६—नवज्वरे नवज्वरहरवटिका

वचामृता रसं गंधं मरिचं ताम्रभस्मकं।
टंकणं च समं कृत्वा अंकोलरसमर्दितां ॥१॥
द्विदिनं गुंजमात्रां तु वटिकां कारयेद्भिषक्।
आर्द्रकस्य रसैर्देया नवज्वरहरी च सा ॥२॥
पथ्यं दध्योदनं कुर्यात् पूज्यपादेन भाषिता।

टीका—दूधिया वच, गिलोय, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, काली मीर्च, ताम्र भस्म, सुहागे का भस्म इन सबको एकत्रित कर अंकोल के स्वरस में दो दिन तक मर्दन करके एक एक रत्ती की गोलियां बांध लेवे तथा अदरख के रस के साथ सेवन करे तो नवीन ज्वर शांत हो जाता है। इसके ऊपर दही-भात का पथ्य सेवन करे। यह पूज्यपाद स्वामी की कही हुई नवज्वरहरवटिका उत्तम है।

ಶ್ರೀ

THE JAINA ANTIQURY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol I]   September 1935   [No 2

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 4   Foreign Rs 4-8   Single Copy Rs 1-4

Om

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्या द्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयातत त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम् ॥"

Vol 1 No II | ARRAH, (INDIA) | September, 1935

WHO WAS THE FOUNDER OF JAINISM?

(By Kamta Prasad Jain, M R A S)

A right answer of the question given above as title is yet to be searched and worked out since the theory given as an established fact in the Text Books of Indian History of our schools and colleges besides the general books on the subject is that most probably the founder of Jainism was *Parsvanatha*, whom the Jainas regard as their 23rd *Tirthankara*[1] This proposition is far from the truth There was a time when European scholars regarded Jainism to be a religion of medieval advent and then others came forward to call it an off shoot of Buddhism[2] But

---

1 Most probably *Parsva* the 3rd *Tirthankara* was the founder of Jainism
—Encyclo of Religion and Ethics vol VII p 465

Parsva was indeed the Royal f unde of Jainism
—Harmsworth a History of the world II p 1198

Oxford Students History of India, p 43 Early History of India p 31; Cambridge History of India vol I pp 153 154 etc etc

2 Elphinstone's History of India, p 47 and 199 Barth Wilson a c quoted in the Jaina *Itihasa* Series No I—p 6

their opinions, though honest, were not based on sound knowledge and so could not stay long Soon after came Prof Jacobi in the field and studied Jaina Canonical books along with the Buddhist Suttas and he proclaimed for the first time the authenticity of Jainism as an independent and pre-Buddhistic religion[1]. He however, regarded *Parsva* as an historical person and founder of Jainsim quite wonderfully : but at the very time he had to remark also that :—

> " But there is nothing to prove that *Parsva* was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha, the first *Tirthankara* (as its founder) . . . There may be something historical in the tradition which make him the First *Tirthankara*[2]. "

Unfortunately, inspite of this clear statement that no evidence is available to displace Jaina tradition of the first *Tirthankara* as its founder in this cycle of time, the queer view has come to be held that *Parsva* is the founder of Jainism. The main reason for the prevalance of this view is perhaps the hoary antiquity of Rishabhadeva, the first *Tirthankara*, which makes it not an easy task to believe the tradition at all His life time goes most anterior to that of *Rama* and *Lakshamana* and the history of India has been also assumed to begin with the 8th. or 10th. century B C But how this assumption can be relied upon now, when the literary and moreover epigraphical evidence is available to push back the beginning period of the ancient history of India not only by decades but by centuries ? The Jaina and Buddhistic literatures of the Mauryan period and the antiquities of Mohenjo-Daro and Harappa cannot be overlooked in this respect Recently it has been pointed out by Prof Pran Nath of the Hindu University, Benares, that a copper-plate grant belonging to the period of Babylonian ascension mentions the name of Nemi, the 22nd. *Tirthankara* of the Jainas*. It means that the real history of India and the beginning of Jainism go back anterior to the 10th. century B C

Under the circumstances, sound scholarship demands a review of the ancient traditions of our *Puranas* with more reliability, and, as such, we cannot be justified in passing the great personality of Rishabha as a myth only, and proclaiming *Parsva* as the founder of Jainism ! Rather

1 Jaina Sutras, S. B E XLV, Intro p XXI f f

2. Indian Antiquary, vol IX p 163

* " Dr Pran Nath, Professor of the Hindu University, Benares, has been able to decipher the copper plate grant of Emperor Nebuchandneyyar I (Circa 1140 B C) or II (Circa 600 B C) of Babylon, found recently in Kathiawad The inscription is of great historical value .. ....It may go a long way in proving the antiquity of the Jaina religion, since the name of Nemi appears in the inscription."—Times of India, 19th March 1935, p. 9.

the Jaina and non Jaina literary and epigraphical evidences establish it beyond doubt that there had been a real person of the name of Rishabha in ancient India who was in fact the founder of Jainism in this cycle of time as we shall see below

In the Jaina literature the *Agama* (Canonical) texts of the *Swetambara* sect are regarded by a certain scholar of the type of Jacobi as belonging to the Mauryan period * & they clearly narrate† the life of Rishabha & name him as the first *Tirthankara* of the Jainas Similarly the available *Agama* (canonical) portion and the other texts of the first century B C of the Digambara sect mention this great Hero in the same way[1]

In the non Jain literature our eyes naturally turn to the Vedic literature and we find mentioned in a work of no less importance than the Rigveda itself the name of Rishabha[2] but scholars doubt and say that there is nothing to show that he was a Jaina Tirthankara[3] Of course *Sayana* and other commentators of the said Veda undoubtedly establish it to be a personal name but they are also not clear as to the identity of the person named[4] and it seems that either they had no knowledge of him, or they did not want to disclose it owing to religious animosity which indeed made many alterations and additions in the Vedas[5] But to remove our gloom of ignorance at this place the Hindu Puranas come to our rescue and they give one and all the same story of Rishabhadeo as is found in the Jaina Literature[6] Then why not should we regard

* Jaina *Sutras* S B E Introduction

† *Acharanga* Sutra; Kalpasutra S B E pp ° ° 53 *Samavayanga*-Sutra —(Hyderabad ed) pp 97—104

1 जयधवला—महाधवला—प्रवचनसार आदि ।

2 ऋषभ मासमानानां सपत्नानां विषा सहिं । हन्तार शत्रूणां कृधि विराजं गोपित गवाम् ॥

ऋग्वेद १०।१२।१६६

3 Historical Gleanings p 76

4 *Sarvanukramantika* (London) p 161

5 Pargiter A I H T p 11 & Asur India, Intr iv

6 cf Jain account of Rishabha (*Harivamsa* 8 6 —161) with the following quotations from the Hindu *Puranas* —

"अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रम । दर्शयन्वर्त्म धीराणां सर्वाश्रम नमस्कृत ॥१३॥ इत्यादि"

—भागवत प्रथम स्कन्ध तृ० अ०

मार्कण्डेयपुराण अ० ५० पृष्ठ १५०; कूर्मपुराण अ० ४१ पृष्ठ ६१; अग्निपुराण अ० १० पृष्ठ ६२; गरुडपुराण अ० १ पृ० ६

"नाभे निसर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधत । नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युति ॥५९॥

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् । ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥६०॥

नाभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्रव्रज्यामास्थितः । हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥६१॥

ब्रह्माण्डपुराण १४ अ०

Rishabha of the Vedic text to be that of the Jaina literature? Moreover when the Vedic commentator insists on the elucidation of Vedic tradition with the help of traditional history in the Epics and the *Puranas*[1], it is but natural for us to regard the Vedic Rishabha to be the son of Patriarch *Nabhi* and his wife *Marudevi* and the founder of Jainism in this cycle of time. This agreement of the Jaina and the Brahmanical texts is so striking and singular that we cannot deny its validity[2], and, moreover, there are Vedic scholars like Prof. Virupaksh Wadiyar, M.A., Veda-Tirtha and others who clearly express that Rishabha of the Rigveda hymn is the same as the first Tirthankara of the Jainas[3].

Likewise the epigraphical evidence also bears testimony to the real personality of Rishabhadeva. Most ancient Mohanjo Daro seals may be pointed out in this respect, the nudity and the pose of eyes of the figures engraved on them [4] are the characterising elements and marks of the Jain images Rai Bahadur Ramprasada Chanda, M.A., remarks rightly about them:—

> "Yoga or religious meditation is the common element of all historic Indian religions with the exception of Vedic ritualism .. .. ..The *Kayotsarga* (dedication of the body) posture is peculiarly Jaina It is a posture not of sitting, but of standing. In the *Adipurana* (XVIII) *Kayotsarga* posture is described in connection with the penances of Rishabha or Vrishabh, the first Jina of the Jainas . . Not only the seated deities engraved on some of the Indus seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus valley in that remote age, the standing deities on the seals also show *Kayotsarga* posture of Yoga described above A standing image of Jina Rishabha is in *Kayotsarga* posture on a stelle . in the Curzon Museum, Mathura . It will be seen that the pose of this image closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jina Rishabha The standing deity figured on seals 3 to 5 may be the proto-type of Rishabha "[5]

---

1 Asur India, Int IV.

2. Prof Stevenson remarked "It is so seldom that Jainas and Brahmanas agree, that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where they do so"—*Kalpasutra*, Intro. XVI

3. जैनपथप्रदर्शक भाग ३ अंक ३ पृष्ठ १०६।

4 Mohenjo Daro, I, 52—78

5. Modern Review, Aug 1932 pp 156—159.

There is not only the resemblance of Jaina image of Rishabha the first Jina with the figures on the Indus seals but certain seals bear an inscription which Prof Pran Nath reads as Jineshwara[1] It is enough to prove the authentic antiquity of the Jaina tradition of Rishabhadeva

Besides it the ancient Hathi *Gumfa* inscription of king *Kharvela* mentions clearly an image of Agra Jina (*i e* the first Jina Rishabha) which was a national asset of the Kalinga people and was taken away to Magadha by a Nanda King[2]

It means that the tradition of Rishabhadeva is more ancient than that of Nanda period The religious votaries of the times of Buddha and *Mahavira* no doubt regarded Rishabha as a real person and worshipped his images

The images of Rishabhadeva and other Jaina deities bearing inscriptions dedicated to Rishabha in the Curzon Museum Muttra and excavated from Kankali Tila also prove this very thing There were images of Jinas engraved on the plane of that Stupa which was regarded in the Indo Scythian period as the work of Devas and which Profs Bulher and Smith assigned to the time of *Parsvanatha i e* 8th century B C This evidence pushes back the Jaina tradition of 24 *Tirthankaras* including Rishabhadeva far anterior to Nanda and *Mahavira s* time

Now if Rishabha was not a real personage there is no reason why some people of ancient India should make and worship his images and dedicate inscriptions to him

Hence we should regard Rishabha as a real personage and as the founder of Jainism in this cycle of time

1 IHQ Vol VIII No 2 Suppl

2 JBORS III 465-67

3 Jain Stupa and other Anti of Muttra

MATHEMATICS OF NEMICANDRA

(By Bibhūtibhūsana Datta)

Nemicandra's Time and Place

Acārya Nemicandra Siddhānta cakravartī was a contemporary of celebrated Cāmundarāya (or Cāmundarāja), a profound scholar, a brave general and a great statesman Cāmundarāya was minister of King Mārasimha II (died 975 A C) and also of his descendent King Rācamalla (or Rājamalla) II (died 984 A C) of the Ganga Dynasty of the West During the reign of the former he won several great battles With the advance of age Cāmundarāya devoted himself more and more to religion and became one of the greatest promoters of Jainism Though a disciple of the venerable Saint Ajitasena he was much devoted also to Nemicandra In the *Gommata sāra* of Nemicandra, we find appreciative mentions of Cāmundarāya In fact, as has been attested by its commentator, Abhayacandra Traividya cakravartī, Nemicandra composed that work by way of discourses on scriptures to Cāmundarāya and in answer to questions put by him In the same way Nemicandra wrote another work *Triloka sāra* by name, so we are informed by his chief disciple, Mādhavacandra Traividyadeva, in his commentary on the work According to the *Bāhubali carita* (1614), Nemicandra accompanied Cāmundarāya on a pilgrimage to the image of Gommatesvara at Podanapura and in obedience to his command the latter erected on the Vindhyagiri at Śravana Belgola (Mysore) a colossal image of Bāhubali (more commonly known as Gommatasvāmī or Gommatesvara), the biggest and most ancient of the three Jain statues (of about 56½ 42[1] and 35 feet in height) which "are amongst the wonders of the world" and 'undoubtedly the most remarkable of the Jain statues and the largest free standing statues in Asia This image was completed in 980 A C [1]

1 See the Introduction (pp xxvff) of Sarat Chandra Ghoshal to his edition of the *Dravya samgraha* with the commentary of Brahmadeva English translation notes and an original commentary (in English) by himself Arrah 1917

Cāmundarāya wrote three books, *Cāmundarāya Purāṇa*, *Cāritra-sāra* and a commentary (in Kannarese language) of the *Gommaṭasāra* of Nemicandra. From the colophon of the first work we learn that it was completed in the Śaka year 900 (= 978 A.C). Thus it is found that Ācārya Nemicandra lived about 980 A.C.

Ācārya Nemicandra was a disciple of Ācārya Abhayanandi and belonged to the *Deśiya Gaṇa* of the Jainas. This sect flourished mainly in the Karṇāṭaka. So it is very likely that Nemicandra came from that part of Hindusthan. That was indeed the field of his activity.

Nemicandra's Works

Scholars have differed about the works of Ācārya Nemicandra Siddhānta-cakravartī. The author of the *Bāhubali-carita* has attributed to him only three works namely the *Gommaṭasāra*, *Labdhisāra* and *Trilokasāra*. There are internal as well as external evidences to prove that these three works were truly composed by our author. So there cannot and, indeed, has not been, any difference of opinion about them. Unfortunately, we cannot be as sure about others. According to Sarat Chandra Ghoshal,[1] followed by J. L. Jaini,[2] he wrote two other works, *Dravyasaṃgraha* and *Kṣapaṇasāra*, probably also *Pratiṣṭhāpāṭha*. Babu Jugalkisore [3] doubts if Muni Nemicandra, the author of the *Dravyasaṃgraha*, can really be identified with Nemicandra Siddhānta-cakravartī, the author of the *Gommaṭasāra*, on the ground of certain difference, pointed out by him, between the philosophical ideas profounded in these two works. In his commentary on the *Dravyasaṃgraha*, Brahmadeva states that Muni Nemicandra stayed for some times in the temple of Tīrthaṅkara Muni Subrata in the town of Āśrama, the capital of Śrīpala, a

1 Loc cit, pp xxxff

2 *Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa*, edited with English translation and notes by J. L Jaini, Lucknow, 1927, Introduction, p 9.

3 *Trilokasāra* with the commentary of Mādhavacandra Traividyadeva, edited by Pandit Manoharalal Sastri, Introduction, p 10

chieftain of the famous King Bhoja of Dhārā (in Malwa) He then composed a short treatise of twenty six verses, entitled *Laghu Dravyasamgraha*, for a merchant named Soma and subsequently enlarged it into *Bṛhad Dravyasamgraha* Our author lived long before the time of king Bhoja The present article on the mathematics of Nemicandra Siddhānta cakravartī is based wholly on materials furnished by his *Gommatasāra* and *Trilokasāra* So the difference of opinions about his other works just noted does not affect us in the least It may be mentioned by the way that there is nothing of mathematical interest in the *Dravyasamgraha*

Nemicandra as mathematician

Except the *Trilokasāra* which treats of the cosmography of the Jainas, other works of Nemicandra are devoted to the Jaina philosophy As is shown by his title, *Siddhānta cakravartī* ("Paramount Lord in the *Siddhāntas* or Jaina Scriptures") Nemicandra was highly learned in Jaina Scriptures and is still recognised by all as a great authority on them It appears that he had a fair knowledge also of mathematics He is found to have employed the law of indices, summation of series, mensuration formulæ for a circle and its segment, and permutations and combinations It is true that most of those results were not new but were known to the anterior Hindu mathematicians But if we remember that Nemicandra was essentially a philosopher and a saint, the so much knowledge of an abstruse secular science, as displayed by him, will appear very commendable Some of his results in combinations we have not so far found in any Hindu work before the fourteenth century of the Christian era

Arithmetical Notations

From early times there were devised in India various methods for expressing numbers, such as by means of (1) names of things,[1]

[1] For a comprehensive account of the nominal notation or word numerals see the following articles of the author 'Sabda saṁkhya Pranālī' in the *Bangiya Sāhitya Parisat Patrikā* 1335 B S (=1928 29 A C) pp 8-30 'Nāma saṁkhyā,' *Ibid* 1337 B S pp 7 27

(2) letters of the alphabet,[1] (3) tychrographic abbreviations of number names or expressions, and (4) special symbols. Again in writing in decimal notation a number chronogram in nominal notation (*Nāma saṁkhyā*) or in alphabetic notation (*Akṣara-saṁkhyā* or *Varṇa-saṁkhayā*), having the place-value, the leftward move (*vāmā-gati*) was followed.[2] Occasionally, however, we meet with instances, especially in the writings of the early Jaina scholars, in which the rightward move (*dakṣiṇā-gati*) has to be adopted.[3] Nemicandra has employed most of these notations. For instance, the number 197,912,092,999,680,000,000,000,000 000, 000,000,000,000,000, is stated as

"विधुणिधिणगणवरविणभणिधिणयणबलद्धिणिधि खरदट्वी ।
इगितीससुणणा सहिया..."[4]

Here the rightward move is followed. But in "पणणसमेकद्वालं णवछप्प-णणासुणणवसदरी"[5] = 7905694150, the leftward move has to be adopted.

For the alphabetic notation, he has applied the *Kaṭapayādi* system in its second variant. For example, we find

"तललीनमधुगविमलं धूमसिलगाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखभसा "[6]

= 79,228,162,514,264,337,593,543,950,336 with the leftward move, and

1 For a compresensive account of the alphabetic notation see the writer's articl "Akṣara-saṁkhyā Praṇālī," in the *Baṅgīya Sāhitya Pariṣad Patrikā*, 1336 B.S., pp 22—50

2 Bibhutibhusan Datta, "Aṅkānām vāmato gatih,' *Baṅgīya Sāhityā Pariṣad Patrikā*, 1337 B S., pp 70—80.

3 Bibhutibhusan Datta, "Jaina sāhitye nāma-saṁkhyā," *Baṅgīya Sāhitya Pariṣad Patrikā*, 1337 B.S., pp 28—39.

4 *Trilokasāra*, Gāthā 21.

5 *Ibid*, Gāthā 313

6 *Gommaṭa sāra, Jīvakāṇḍa*, Gāthā 158

" घटल्रणरोचगोनगनजरनगकाससससघधमपरफधर ।
चिगणणवसुयथसहिद "[1]

$=413,452,630\ 308,203\ 177,749,512,192\ 000,000\ 000,000\ 000,000$ with the rightward move This way of expressing numbers by contrary moves without clearly indicating which move should be adopted in a particular instance introduces a good deal of uncertainty in the arithmetical notation

The number 65,536 is denoted by the abbreviation पणट्ठी of its full expression "पण्णट्ठीपचसयाछत्तीसा," 4,294 967,296 by बादाल from "बादाल चउणउदी छपएउदि बिहत्तरोयछ्णणउदी", and 18,446,744,073,709,551,616 by the abbraviation एकट्ठ of

" एकट्ठचचउछ्रससत्तय च च य सुएणसत्ततियसत्ता ।
सुएण णव पण पच य एक्क छक्केकगो य छक्क च ॥"[2]

Law of Indices

Before stating Nemicandra's definition of the Law of Indices, we should explain the technical terms employed therein If $N=2$, then n is called the *ardhaccheda* of N The term *ardha ccheda* is derived from *ardha*=' half,'' *cheda*="divisor" and it means "the number of times that a particular number can be halved" Sometimes the word *ardha* is deleted, and we have simply the term *cheda* [3] In general, if $N=x^n$ then n will be the *cheda* of N with regard to the base x If $N=2^{2^n}$ then n' is called the *ardhaccheda* of the *ardhaccheda* of N

Nemicandra gives the following rules

"The *ardhaccheda* of the multiplier plus the *ardhaccheda* of the multiplicand is the *ardhaccheda* of the product it has no more *cheda* ' [4]

$$2^m \times 2^n = 2^{m+n}$$

1 *Trilokasāra* Gāthā 98 2 *Ibid* Gāthā 66 3 *Trilokasāra* Gāthā 8
4 *Ibid* 5

"The *ardhaccheda* of the dividend minus the *ardhaccheda* of the divisor is always the *ardhaccheda* of the quotient."[1]

$$2^m \div 2^n = 2^{m-n}.$$

"The distributed number multiplied by the *ardhaccheda* of the substituted number will always give the *ardhaccheda* of the resulting number."[2]

If the number M be distributed into its units and each unit be then substituted by the number N the resulting number R will be

$$R = N^M$$

Now if $N = 2^n$, then

$$R = 2^{nM}$$

as stated in the rule.

"The *ardhaccheda* of the distributed number added with the *ardhaccheda* of the substituted number is the *varga-salākā* of the resulting number."[3]

$$\left(2^{2^n}\right)^{2^m} = 2^{2^{n+m}}$$

Thus Nemicandra knew fully the Law of Indices.

$$x^m \times x^n = x^{m+n},\ x^m \div x^n = x^{m-n},$$

$$(x^m)^n = x^{mn}$$

Series

Nemicandra distinguishes fourteen kinds of series (*dhārā*): [4]

(1) *Sarva-dhārā* ("general series" of natural numbers),
$1, 2, 3, 4, \ldots, n, \ldots$

(2) *Sama-dhārā* ("even series"),
$2, 4, 6, 8, \ldots, 2n, \ldots$

(3) *Viṣama-dhārā* ("odd series"),
$1, 3, 5, 7, \ldots, (2n-1), \ldots$

1 *Ibid*, Gāthā 106. 2 *Ibid*, Gāthā 107. 3 *Ibid*, Gāthā 108.
4 *Triloka sāra*, Gāthās 53-66, 77-88.

(4) *Kṛti dhārā* ("square series"),

$1, 4, 9, 16,$

or

$1, 2^2, 3^2, 4^2, \quad , n^2,$

(5) *Akṛti dhārā* ("non square series"),

$2, 3, 5, 6, 7, 8, 10,$

(6) *Ghana dāhrā* ("cubic series"),

$1, 27, 64,$

or

$1, 2^3, 3^3, 4^3, \quad , n^3,$

(7) *Aghana dhārā* ("non cubic series") If from a series of natural number, the cubic numbers be omitted, we get a series of this kind

(8) *Vargamātṛkā dhārā,*

$1, 2, 3, 4 \quad , \sqrt{N}$

(9) *Avargamātṛkā dhārā*

$\sqrt{N}+1, \sqrt{N}+2, \sqrt{N}+3, \quad , N$

(10) *Ghanamātṛkā dhārā,*

$1, 2, 3\ 4 \quad \sqrt[3]{N}$

(11) *Aghanamātṛkā dhārā,*

$\sqrt[3]{N}+1, \sqrt[3]{N}+2, \quad N$

(12) *Dvirūpāvarga dhārā*

$4, 16, 256, 65536,$

or

$2^2, 2^4, 2^8, 2^{16}, \quad 2^{2^n},$

(13) *Dvirūpaghana dhārā*

$8, 64, 4096,$

or

$$2^3, 2^6, 2^{12}, \ldots, 2^{3 \cdot 2^{n-1}}, \ldots$$

(14) *Dvirūpaghanāghana-dhārā,*

$$8^3, 8^6, 8^{12}, \ldots$$

or

$$2^9, 2^{18}, 2^{36}, \ldots, 2^{3^2 \cdot 2^{n-1}}, \ldots$$

The subject of series is stated to have been treated comprehensively in a special treatise entitled *Vṛhaddhārāparikarma* ("Great Treatise on the Operations of Series"). Nemicandra has referred his more enthusiastic readers to that treatise for fuller informations on the subject, he having noted only a small portion of it suitable for his practical purpose.[1] No such treatise is available now It is lost.

Arithmetical Progression. Nemicandra says:

"Multiply the number of terms as diminished by unity by the common difference The product added with the first term gives the last term, and when subtracted from the last term yeilds the first. Half the sum of the first and last terms multiplied by the number of terms becomes the sum of the seri es."[2]

Let a=the first term, l=the last term, b=the common difference, n=the number of terms and S_n=the sum of a series in arithmetical progression; then the rule says,

$$l=a+(n-1)b, \quad a=l-(n-1)b$$

$$S_n=\frac{n}{2}(a+l).$$

"The number of terms is diminished by unity and then divided by two and multiplied by the common difference Add the result to the first term and multiply the sum by the number of terms Know the product to be the sum of the series."[3]

$$S_n=n\left\{a+\left(\frac{n-1}{2}\right)b\right\}.$$

1 *Trilokasāra*, Gātha 91. 2 *Ibid*, Gātha 163 3 *Ibid*, Gātha 164

To find the number of terms of a series in A P whose first and last terms are known as well as the common difference, Nemicandra gives the formula,[1]

$$n = \frac{l-a}{b} + 1$$

Geometric Progression To find sum of a series in geometric progression (*guṇa dhārā*), Nemicandra describes the following rule

"Multiply mutually as many common ratios as there are number of terms in the series, the product is diminished by unity and then divided by the common ratio minus one and multiplied by the first term the result is the sum of the series in geometric progression "[2]

Algebraically

$$S = a\left(\frac{r^n - 1}{r - 1}\right),$$

where a = the first term of a series in G P, r = the common ratio and S = the sum

Examples from Nemicandra [3]

$$(1+2^2+2^3+ \quad +2^n)a = (2^{n+1}-3)a,$$

$$A = \frac{p}{10} + \frac{p}{10} + \frac{p}{10^3} + \quad + \frac{p}{10}$$

$$= \frac{p}{9}\left(1 - \frac{1}{10}\right),$$

$$= \frac{p}{9} \text{ (a little less than)}$$

$$A = \frac{p}{80} + \frac{p}{800} +$$

$$= \frac{p}{8\ 10} + \frac{p}{8\ 10^2} + \quad + \frac{p}{8\ 10},$$

$$= \frac{p}{72}\left(- \frac{1}{10}\right)$$

$$= \frac{p}{72} \text{ (a little less than)}$$

1 *Ibid* Gāthā 57 2 *Trilokasāra* Gāthā 231 3 *Ibid* Gāthās 796—7

Mensuration Formulae

Circle. Nemicandra says:

"The circumference of a circle is grossly equal to three times its diameter, and neatly it is the square-root of ten times the square of the diameter. The quarter of the diameter multiplied by the circumference gives the accurate area."[1]

If C denote the circumference of a circle, d its diameter and A the area then

$$C \text{ (gross)} = 3d, \quad C \text{ (neat)} = \sqrt{10d^2}, \quad A = \tfrac{1}{4}Cd.$$

For calculating the neat value (*sūksmaphala*) of the circumference and of the area of the Jambudvīpa the second formula has been employed.[2] It has been stated that if r be the radius of a circle equivalent to a square of side a, then[3]

$$r = \frac{9}{16}a$$

Whence we shall have

$$\pi = \left(\frac{16}{9}\right)^2.$$

Circular Annulus. In the Jaina cosmography, the earth is supposed to be a flat plane divided into successive regions of land and water by a system of concentric circles. The innermost region is one of land, called Jambudvīpa Its diameter is 100000 *yojana*. Breadths of the successive annular regions are stated to be increasing by multiples of 2. Now if $b_1, b_2, b_3, \ldots$ denote the breadths and $d_1, d_2, d_3, \ldots$ the corresponding diameters of outer edges, then we shall have

$$b_1 = 100000 \text{ yojana} = a, \text{ say}$$

$$b_2 = 2a, \quad b_3 = 2^2a, \ldots, b_n = 2^{n-1}a;$$

and

$$d_1 = a,$$

$$d_2 = (1 + 2^2)a,$$

1. *Trilokasāra*, Gāthā, 311, See also Gāthās 17, 96
2. *Ibid*, Gāthās 312-13
3. *Ibid*, Gāthā 18

$d_3 = (1 + 2^2 + 2^3)a,$

$d_n = (1 + 2^2 + 2^3 + \quad + 2 \ )a = (2^{\ +1} - 3)a$

So Nemicandra writes

"Multiply as many twos as equal to the number (of regions) decreased and also increased by unity, then multiply the results by 100000 Subtract from the products zero and 300000 (respectively) The results will be the breadth and diameter (respectively) of the outer region"[1]

He has further stated that the diameter of the outer edge of the nth region $= 4b - 3a$, that of its inner edge $= 2b - 3a$ and mean diameter $= 3b - 3a$[2]

"The two values of the circumference of the Jambudvipa being multiplied by the diameter of any desired land or sea and divided by the diameter of the Jambudvipa will give the two values of the circumference of that land or sea"[3]

'Multiply the sum of the outer and inner edges of an annulus by half its breath and set down the results at two places Multiply it (at one place) by 3 and (at another place) by $\sqrt{10}$ The products will be (respectively) the gross and neat values of the area of the annulus"[4]

That is to say, if C_1, C_2 be the inner and outer circumferences of a circular annulus of breadth b and d_1, d be the corresponding diameters we shall have

$$C_1 \quad C_2 = d_1 \quad d_2$$

Gross area of the annulus $= \frac{3}{2}(d_1 + d_2)b$

Neat area of the annulus $= \frac{\sqrt{10}}{2}(d_1 + d \ )b$

Segment of a Circle For the mensuration of a segment of a circle, Nemicandra gives the following rules[5]

1 *Ibid* Gāthā 309 It should perhaps be noted that the breadth of an annulus (l) is called *valaya vyāsa* and the diameter of its edge (l) the *sūci vyāsa*

2 *Ibid* Gāthā 310 3 *Ibid* Gāthā 314 4 *Ibid* Gāthā 315

5 *Trilokasāra*, Gāthās 760—766

"The diameter as diminished by the arrow being multiplied by four times the arrow becomes the square of the chord. Six times the square of the arrow being added by that becomes the square of the arc.

"The square of the chord being added by four times the square of the arrow and then divided by four times the arrow gives as a rule the diameter of the circle.

"A quarter of the product of the chord and arrow, and half the sum of the chord and arrow being multiplied respectively by $\sqrt{10}$ and the arrow give the gross and neat values of the area of the segment.

"The square of the chord being increased by the square of twice the arrow and divided by four times the arrow becomes the diameter. The difference of the squares of the chord and arrow is divided by six; the square-root of the result is the arrow.

"Subtract the square-root of the difference of the squares of the diameter and chord from the diameter. Know that half the remainder is the arrow.

"The square of the arc as divided by the twice the arrow is diminished by the arrow half the remainder is the diameter. Diminish by the diameter the square-root of the square of the diameter as added by half the square of the arc: the remainder will be the arrow.

"The sum of the diameter and half the arrow being multiplied by four times the arrow gives the square of the arc On subtracting six times the square of the arrow from that is obtained the square of the chord."

If c=chord, h=arrow, a=arc and A'=area of a segment of a circle of diameter d, we shall have the formulae.

$$(i) \quad c^2=4h(d-h),$$

$$(ii) \quad a^2=6h^2+c^2,$$

$$(iii) \quad d=\frac{c^2+4h^2}{4h},$$

$$(iv)\quad A = \frac{\sqrt{10}}{4}ch \text{ grossly},$$

$$(v)\quad A = \tfrac{1}{2}(c+h)h \text{ neatly}$$

$$(vi)\quad d = \frac{c^2+(2h)^2}{4h},$$

$$(vii)\quad h = \sqrt{\frac{a^2-c^2}{6}},$$

$$(viii)\quad h = \tfrac{1}{2}\left(d-\sqrt{d^2-c^2}\right),$$

$$(ix)\quad d = \tfrac{1}{2}\left(\frac{a^2}{2h}-h\right)$$

$$(x)\quad h = \sqrt{d^2+\tfrac{1}{4}a^2}-d$$

$$(xi)\quad a^2 = 4h(d+\tfrac{1}{2}h),$$

$$(xii)\quad c^2 = a^2-6h^2,$$

Most of these formulæ were known before Nemicandra (i) (ii)=(xii), (iii)=(vi) (vii), (viii) are as old as the early Jaina canonical works (500—300 B C)[1] So far as known the formula (iv) was first given by Jinabhadra Gaṇi (529—589 A C)[2] and (v) by Śrīdhara (=750 A C)[3] Though the formula (ix)—(xi) are not found stated elsewhere they can be easily deduced from the others

Prism, Cone and Sphere According to Nemicandra,

Volume of a prism[4] = (base) × (height),

Volume of a cone or pyramid[5] = ⅓ (base) × (hight),

Volume of a sphere[6] = $\frac{9}{2}$ (radius)[3]

For measuring the volume of a heap of certain seeds such as mastard, etc, which resembles a cone in shape, he gives an approximate formula,[7]

$$\text{Volume} = \left(\frac{\text{circumference}}{6}\right)^2 \times (\text{height})$$

1 See the article of the writer on "Geometry in the Jaina Cosmography" in the *Quellen and Studien zur geschichte der mathematik*—Abteilung B Bd 1 1930 pp 245—251 "The Jaina School of Mathematics" in the *Bulletin of the Calcutta Mathematical Society* vol 21 1929 pp 115—145

2 *Bṛhat Kṣetra samāsa* i 12[9] 3 *Triśatikā*, Rule 47 4 *Trilokasāra* Gāthā 17

5 *Ibid*, Gāthā 19 6 *Ibid* Gāthā 37 7 *Ibid* Gāthas 22—23

And it is supposed in such a case that

$$\text{Height} = \tfrac{1}{12}\,(\text{circumference}).$$

This approximate formula is derived as follows:

$$\text{Base} = \pi\,(\text{radius})^2 = \tfrac{1}{12}\,(\text{circumference})^2$$

putting $\pi = 3$ Hence.

$$\text{Volume} = \tfrac{1}{3}\,(\text{base}) \times (\text{height})$$

$$= \left(\frac{\text{circumference}}{6}\right)^2 \times (\text{height}).$$

Isosceles trapezium. Nemicandra writes:

"The difference of the face and base divided by the altitude is the rate of decrease of the base in proceeding towards the face and also the rate of increase of the face in going otherwards. Half the sum of the face and base multiplied by the altitude is the area The area multiplied by the height is the volume"[1]

That is to say, if a denote the face, b the base and h the altitude of an isosceles trapezium, we shall have

$$\text{Rate of decrease of } b \text{ or increase of } a = \frac{b-a}{h},$$

$$\text{Area} = \tfrac{1}{2}(b+a)h.$$

Hence at an altitude h' above the base the breadth of the figure will be

$$b - \left(\frac{b-a}{h}\right)h'$$

and at a depth h'' below the face the breadth will be

$$a + \left(\frac{b-a}{h}\right)h''$$

Permutations and Combinations

According to the Jaina philosophy there are fifteen kinds of *pramāda* ("carelessness") of which four form the category of *vikathā* ("wrong talk"), four that of *kasāya* ("passion"), five that of *indriya* ("sense") and one belongs to each of the categories

1 *Ibid*, Gāthā 114.

of *nidrā* ("sleep") and *praṇaya* ("attachment") Combinations are made of five elements of carelessness selecting only one element from each of the five categories They are usually done by setting down the elements according to a systematic scheme and are finally marked serially according as they are obtained Hence the problems that will arise in this respect are, as enumerated by Nemicandra,[1] to find

(i) the total number of combinations that can be made (*saṃkhyā*),

(ii) a systematic scheme of laying out the elements (*prastāra*),

(iii) the elements in a combination from its serial number (*naṣṭa*),

(iv) the serial number of a particular combination (*samuddiṣṭa* or *uddiṣṭa*)

The serial number (*uddiṣṭa*) of a combination consisting of the same varieties of the elements will be different it should be noted, according to the different order in which the different categories are taken successively for the selection of elements In the above instance, the selection has to be made out of three categories, other two having only one element each So there will be 6 (=3 × 2 × 1) different orders In other words, a selection of three elements can have six serial numbers Nemicandra has taken the categories in the order *vikathā*, *kaṣāya* and *indriya* Again in this order, the representation may be begun by laying out *one* or *all* the elements of the first category, *vikathā* (vide infra) Nemicandra calls the former process of representation as the *prastāra* and the reverse process as the *parivartana* Hence according to his calculation, a selection consisting of the same three elements, can have two serial numbers But, in fact, it can have 12 different serial numbers

Saṃkhyā Nemicandra writes

"All the combinations previously obtained combine with each element of the next category Hence the total number will

be given by the multiplication (of the numbers of elements in the different categories)."[1]

Thus the total number of combinations that can be made out of the fifteen elements of carelessness in the way described above is $4 \times 4 \times 5 \times 1 \times 1 = 80$

Prastāra. Nemicandra says:

"The distribution is made thus: Write down severally the first element (of the first category) of carelessness and put over it, each of the elements of the succeeding classes. When the elements in the third category are exhausted, begin afresh with the second element of the second category; (and so on). When all the elements of these two categories have been thus distributed out, operations should be begun with (the second element of) the first category. (And so on)." [2]

Let us denote the four kinds of *vikathā* by v_1, v_2, v_3, v_4; the four kinds of *kasāya* by k_1, k_2, k_3, k_4; and the five kinds of *indriya* by i_1, i_2, i_3, i_4, i_5. Then the representation described here will be as follows:

$$\underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_1\\ v_1}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_2\\ v_1}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_3\\ v_1}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_4\\ v_1}}$$

$$\underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_1\\ v_2}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_2\\ v_2}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_3\\ v_2}} \quad \underbrace{i_1\ i_2\ i_3\ i_4\ i_5}_{\substack{k_4\\ v_2}}$$

and so on with v_3 and v_4 in the lowest row.

Parivartana As already stated there can be several alternative processes. Nemicandra has, however, described only one in which the procedure followed is contrary to that just mentioned. He says:

"Write down the elements of the first category as many times as the number of elements in the second category; then put over each group severally each of the elements of the

1 *Gommatasāra, Jivakānda*, Gāthā 36. 2. *Ibid*, Gāthās 37, 39.

second category, and proceed thus all throughout When all the elements of the first category are exhausted, begin afresh with the second category, (and so on) When all the elements of these two categories are thus distributed out, the operation with the elements in the third category begins'[1]

That is to say, the representation is

$$\overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\k_1}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\k_2}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\k_3}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_1\\k_4}}$$

$$\overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\k_1}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\k_2}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\k_3}}\quad \overbrace{v_1\ v_2\ v_3\ v_4}^{\substack{i_2\\k_4}}$$

similarly with i_3, i_4, and i_5 in the upper row

Naṣṭa To find out the elements occurring in a combination whose serial number is known Nemicandra gives the following rule

'Divide (the given serial number) successively by the numbers of elements in the different categories adding each time unity to the quotient, except when the remainder is zero The remainder determines the place of an element in its category the zero remainder indicates the last element'[2]

This rule is quite general and is equally available in case of all representations We shall apply it to find, for example, the 13th combination in the *Prastāra*

Dividing 13 by 5, we get the quotient 2 and the remainder 3 So the combination contains the element i_3 Adding 1 to the quotient 2, we have 3 On dividing 3 by 4, the quotient is 0 and the remainder 3 Hence there is the element k_3 Now 0+1=1 and dividing 1 by 4, we get the quotient 0 and the remainder 1 So there is v_1 Hence the 13th combination of the *Prastāra* is $i_3k_3v_1$ [1]

Now in the *Parivartana* On dividing 13 by 4, the quotient is 3 and the remainder 1 So the combination contains v_1 Adding unity to the quotient, we have 3+1=4 Dividing 4 by 4 we get 1

1 *Ibid* Gatha 38 [illegible] 2 *Ibid* Gatha 41

for the quotient and 0 for the remainder. Hence there is k_4. Since the remainder is 0 this time, we shall not have to add unity to the quotient On dividing 1 by 5, we have the remainder 1. So there is i_1. Hence the 13th combination of the *Parivartana* is $v_1k_4i_1$.

Uddista. To determine the serial number of a combination, Nemicandra gives the following rule:

"Take unity Multiply it by the total number of elements in a category beginning from the last one (in the given combination) and subtract from the product the number of elements lying therein after the given element. Proceed (successively) in the same way thougout."[1]

For example, let us find the serial number of the combination $i_4k_3v_1$ The last element in this combination belongs to the category of v So the calculation must be begun with that. As directed in the rule, we take 1. As there are 4 elements in the category of v, we multify it by 4 and get $1\times4=4$. Since there are 3 elements, namely v_2, v_3, v_4, in that category after v_1, we subtract 3 from the product and get $4-3=1$. Now we shall have to multiply the remainder 1 by 4, since there are 4 elements in the category of k and then subtract from the result 1, since there lies only one element, namely k_4, after k_3 Thus we get $1\times4-1=3$. Next we multiply 3 by 5, there being 5 elements in the category of i and then subtract 1, as there is only one element, *viz.*, i_5, after i_4. So we have $3\times5-1=14$. Hence the serial number of the combination $i_4k_3v_1$ is 14.

To determine the *nasta* (*i.e.*, the elements of a combination from its serial number) and the *uddista* (*i.e.*, the serial number of a combination for its elements), more readily without going through the lengthy processes of calculations described above, Nemicandra gives two short tables. He says.

"Place 1, 2, 3, 4, 5; 0, 5, 10, 15; 0, 20, 40 and 60 in three rows (of cells) of the three categories of carelessness and find the elements and the serial numbers of combinations (in the *Prastāra*)."[2]

1 *Ibid*, Gāthā 42

2 *Ibid*, Gāthā 43.

TABLE I

i_1 1	i_2 2	i_3 3	i_4 4	i_5 5
k_1 0	k_2 5	k_3 10	k_4 15	
v_1 0	v_2 20	v_3 40	v_4 60	

"Set down 1, 2, 3, 4, 0, 4, 8 12 0, 16, 32, 48 and 64 in three rows (of cells) of the three categories of carelessness and find the elements and the serial numbers of combinations (in the *Parivartana*)"[1]

TABLE II

v_1 1	v_2 2	v_3 3	v_4 4	
k_1 0	k_2 4	k_3 8	k_4 12	
i_1 0	i_2 16	i_3 32	i_4 48	i_5 64

To find the serial number of a given combination we have simply to add together the figures present in the cells of its elements in the Tables And to determine, on the contrary, the elements

1 *Gommatasara Jivakanda* Gatha 41

occurring in a combination whose serial number is given, we shall have to break up that number into three parts picked up from three rows of cells in the Tables and write down in order the elements from those cells.

For example, since 13=3+10+0. the 13th combination in the *Prastāra* is $i_3 k_3 v_1$; and that in the *Parivartana* is $v_1 k_4 i_1$, since 13=1+12+0

Nemicandra's methods for finding the serial number of a combination of elements and *vice versa* from the tables are quite general as will be easily recognised: Suppose the first group consists of p elements $i_1, i_2, i_3, \ldots, i_p$: the second group has q elements $k_1, k_2, k_3, \ldots, k_q$; and the third group has r elements $v_1, v_2, v_3, \ldots, v_r$. Let $N(i_l\, k_m\, v_n)$ denote the serial number of the combination $i_l\, k_m\, v_n$ in the first scheme, that is the *Prastāra* Now form the table

i_1 1	i_2 2	i_3 3	. . . ..	i_l l	i_{l+1} $l+1$	.. to p cells
k_1 0	k_2 p	k_3 $2p$	. ... ..	k_l $(l-1)p$	k_{l+1} lp	.. to q cells
v_1 0	v_2 pq	v_3 $2pq$	. .. .	v_l $(l-1)pq$	v_{l+1} lpq	.. to r cell

Then

$$N(i_l\, k_m\, v_n) = l + (m-1)\, p + (n-1))\, pq.$$

In particular, putting $p = 5$, $q = 4$, $r = 4$, we get

$$N(i_3\, k_3\, v_1) = 3 + (3-1)\, 5 + (1-1)\, 5 \times 4 = 13,$$
$$N(i_5\, k_2\, v_4) = 5 + (2-1)\, 5 + (4-1)\, 5 \times 4 = 70,$$

as are found from the Table I of Nemicandra.

Opinions

Jaina Darshana Divakara Champat Rai Jain Barrister at Law, Vidyā varidhi writes from London —

The first issue of the Jain Siddhanta Bhaskara has arrived this week I have much pleasure in welcoming it as an old friend I hope it will do really useful work I like the coloured portrait of Mahavira in the Kumaravastha very much

Prof Dr B Seshagiri Rao M A Ph D M S A., etc writes from Vijianagram —

' Many thanks for your sending me the first Number of 'Jain Siddhanta Bhaskara I have gone thro it and find it very interesting & valuable reading You are doing real service to culture by publishing notes on Literary works in Jainism and whole works also hitherto un published Years back when I was at school there used to be a magazine called पद्मुद्रित ■ व चिंतामणि which did similar service to our Andhra lite rature I congratulate you on the present venture

Herbert Warren Esqr writes from London —

I am in receipt of No 1 of Vol No 1 of the Jain Antiquary June 1935 issue for which I am obliged It is nicely got up and no doubt will be useful to students of history and other matters connected with the Jains I wish it every success

---

Select Contributions to Oriental Journals.

1 The Journal of the U P Historical Society Vol VII Nov 1934 —

pp 52-58 —*The significance of the term Nirgrantha* —by K P Jain
The word nirgrantha denotes ■ naked ascetic of Jaina faith and Jainas were known by this name in ancient India

pp 70 72 —*Important Sculptures Prov Museum Lucknow* —by R B Prayag Dayal
A Jain statue of some divinity in abhaymudra with a canopy of a five hooded cobra is described The image compares favourably with that of Nāgārjuna excavated at Nalanda in 1919 20 The other image described is that of Mahāmānashi—the Yaksini of Shāntinātha

2. *Indian Culture*, Vol. I, Jany 1935 :—

pp. 381-391.—*Some ancient Indian Tribes* by Dr B. C. Law.

3. *Journal of Indian History*, Vol. XIII, pt. 2, Aug, 1934 .—

The genealogy and the chronology of the Early Kadambas of Vanavasi, by Mr M Govind Rai. He combats the theory that the early kadambas were all of Jaina persuasion.

4. *Silver Jubilee Number of the Quarterly journal of the Mythic Society*, Vol XXV, Jan 1935 :—

pp. 87-94.—*Jainism in Kongu Nadu.*—by C. M. R Chettiar, B.A., B L.

pp. 161-181.—*Architecture in the Ganga Period*—by M V. Krishna Rao.

5. *Indian Historical Quarterly*, Vol X, No 2, June 1934 :—

p. 332.—*The Jaina Calendar* by Dr. S R. Das.

6. *Annals of the Bhandarkara Oriental Research* Instt, XV Jany. 1934 —

Samantabhadra's Date and Dr Pathak by Jugalkishor Mukhtar.

RULES.

1 The "Jaina Antiquary" (जैन सिद्धान्त भास्कर), is an Anglo Hindi [qua]rterly, which is issued annually in four parts, i e, in June, [Sep]tember, December, and March

2 The inland subscription is Rs 4 (including postage) and [fore]ign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, [pay]able in advance Specimen copy will be sent on receipt of [Re] 1 4 0

3 Only the literary and other decent advertisements will be [acc]epted for publication The rates of charges may be ascertained [on] application to

THE MANAGER,

The "Jaina Antiquary"

Choul, Arrah (India)

[to] whom all remittances should be made

4 Any change of address should also be intimated to him [pro]mptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from [the] approximate date of publication, the office should be informed [at] once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, [geo]graphy, art archæology iconography epigraphy, numisma[tics], religion literature, philosophy, ethnology, folklore, etc, from [the] earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles, notes reviews, [etc], type written, and addressed to,

K P JAIN, Esq M R A S,

EDITOR, 'JAINA ANTIQUARY"

Aliganj Dist Etah (India)

(*N B* —Journals in exchange should also be sent to this address)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting, or [re]jecting the whole or portions of the articles, notes, etc

9 The rejected contributions are not returned to senders, if [po]stage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should [be] sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal, who work [hon]orarily simply with a view to foster and promote the cause of [Jai]nology —

PROF. HIRALAL JAIN M A, L L B
PROF A N UPADHYE M A
B KAMTA PRASAD JAIN M R A S
PT K BHUJABALI SHASTRI

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

———— :※: ————

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र), संस्कृत और भाषा-टीका-सहित — ॥)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भाषा-टीका-सहित — १)

(३) जैन सिद्धान्तभास्कर १म भाग की १म किरण — १)

" २य तथा ३य सम्मिलित किरणें — १॥)

(४) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी शास्त्रों की पुरानी सूची — ॥)
(यह अर्द्ध मूल्य

(५) भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची — ॥।)

प्राप्ति-स्थान —

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार) ।

प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,
श्रीसरस्वती प्रिंटिङ्ग वर्क्स, आरा ।

जैन सिद्धान्त भास्कर



The Jain Antiquary

An Anglo-Hindi Quarterly Journal

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।



१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं:—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री



(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग २] [किरण ४

सम्पादक मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल एल. बी

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस

पण्डित के० भुजबली शास्त्री



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १)

विक्रम-सम्वत् १९९२

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—





श्रीबाहुबली स्वामी

नहीं धरा पर कछु धरा, भरा क्लेश निहसेस ।
धीर धराधर पै खड़े, यहै देत उपदेस ॥

|| श्रीजिनाय नमः ||



THE JAINA ANTIQUARY
जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग २ | मार्च, १९३६ । फाल्गुन वीर नि० २४६२ | किरण ४

भास्कर की वर्ष-समाप्ति

(ले०—श्रीयुत प० हरनाथ द्विवेदी)

धरवीर-धर्म-धुरधारी "निर्मल" निधिपति अपनाकर,
सहृदय सुविज्ञ सम्पादक-मण्डल-अविरल-बल पाकर ।१।
इतिहास-पुरातत्त्वों का शुचि शुभ सार निकाकर,
पाठक पवित्र-प्रेमी का प्रोज्ज्वल कर स हुलसाकर ।२।
जिनधर्म-चक्रधारी-मम "चन्द्रेश" चारु महिमाकर-
मञ्जुल-सुछत्र-छाया में शोभन यह वर्ष बिताकर ।३।
लेखक-ललाम क अनुपम लेखा-प्रदीप दीपित कर,
श्री "शान्ति"—सुधा-मानससर के हंस-वंश-अवतर कर ।४।
छवि-धाम "लाल छोटे" की वर बृहत् लालिमा लाकर
सुर मे निजतेज प्रसारा, "भास्कर" ने तम विनशाकर ।५।

अमरकीर्तिगणि-कृत षट्कर्मोपदेश

(ले०—श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम.ए., एल.एल.बी.)

उक्त ग्रन्थकर्ता व ग्रन्थ का ऐतिहासिक परिचय पूर्व लेख में कराया जा चुका है। यहाँ इसके विषय आदि का परिचय कराया जाता है। ग्रन्थ का विषय नाम ही से स्पष्ट है। इसमें गृहस्थों के लिये नित्य पालने योग्य छह कर्मों का उपदेश दिया गया है। ये छह कर्म हैं देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इन्हीं का विवरण ग्रन्थ की चौदह सन्धियों में किया गया है। तेरह कडवकों की प्रथम सन्धि का कवि ने षट्-कर्म-निर्णय नाम दिया है। इसमें पूर्वोक्त कवि-परिचय के पश्चात् देवपूजा के हेतु सच्चे देव की परीक्षा की गई है। कवि का कहना है कि 'देव की जब परीक्षा करके पूजा की जायगी तभी उससे पुण्य होगा; बिना परीक्षा की पूजा से दुर्गति ही बढ़ेगी'[1]। 'दृढ़ मिथ्यात्व में फँसे होने के कारण देव की परीक्षा न जान कर मूर्ख सभी को देव मानने लगता है तथा अपने चित्त को एक जगह कहीं भी नहीं लगाता। सब वस्तुओं में विष्णु का वास बताता है, फिर पीछे उन्हीं को लात लगाता है। आठ मूर्त पदार्थों में ईश्वर का भाव भाता है और तत्काल ही उनका अविनय करता है। विष्णु को नमस्कार करता है तथा सूकर और मच्छ को मारता है—उन्हें विष्णु की मूर्ति समझ कर पाप का विचार नहीं करता[2]। महाराक्षस और भूत जो अशुचि-रूप हैं तथा क्षेत्रपाल, वेताल आदि इनकी सेवा से क्या होना है? ये तो हिंसा के घर हैं और दुष्कर्मों के बांधनेवाले हैं। चंडी आदि सब योगिनी मद्यपान और पशुभक्षण करनेवाली हैं; उन्हीं निर्दयी योगिनियों को देवता मानकर निर्लज्ज संशय-विद्ध मन से, उनकी वंदना करता है। गौ आदि तिर्यंच जीवों के अङ्गों को मुख से नमस्कार करता है जिनसे पाप का प्रसंग होने वाला है। बड़, पीपल, जामुन, नीम ऊमर, देहली, दूब, जल, जलचर तथा कंजिनी आदि

---

१ देउ परिक्खिउ पुरणहं कारणु। अपरिक्खिउ दुग्गइ-वित्थारणु। १, ६, १

२ दिढ-मिच्छत्त-सहावारूढउ। तहो परिक्ख अमुणंतउ मूढउ।
समल वि देव सहावें मंतइ। एक्कहिं कहिं मि ण चित्तु णियत्तइ।
सव्वहिं वत्थुहिं विण्हु पसंसइ। पच्छा ताइं मि पायहिं फंसइ।
अट्ठहिं मुत्तिहिं ईसरु भावइ। तक्खणि ताहं मि अविणउ दावइ।
विण्हु खवइ सूयरु तिमि मारइ। तहो मुत्तिउ पाविउ ण वियारइ।

गृहस्थी के उपकरणों और जीवों के संहार करनेवाले आयुधों आदि सभी को देवता मान कर उनको विनय से नमस्कार करने लगता है। इन नाममात्र के देवताओं का प्रेरा हुआ, मूर्ख गुरुओं द्वारा धोखे में डाला जाकर, भ्रमता फिरता है। जो देव देखा उसी से लग गया; उचित अनुचित की कुछ खोज ही नहीं करता। जब हाथ में अक्षमाला लेता है तब अपने मन में शंका उत्पन्न करता है कि यह देव नहीं है। जो प्रिया के प्रेम में आसक्त है, विषयों में प्रमत्त है, देव होकर भी नाचता फिरता है, जो भयानक है (दारुण ?), दुराग्रही है, वह शुभ प्रभु कैसे हो सकता है ? अवश्य वह लोगों को ठगता है[१]। जो गोपियों के नाम से जाना जाता है उसे लोग पुरुषोत्तम कैसे कहने लगे ? जिसका मन एक ग्वालिन के देखने से ही विचलित हो जाय, देवत्व उसके पास भी कैसे फटक सकता है ? गौतम ऋषि की भार्या में जिसका मन विस्मित हो गया वही सहस्रनयन सुरपति बन गया ? चन्द्र बृहस्पति की भार्या पर आसक्त हो गया लोगों ने उसे कलंकित मात्र कहकर रहने दिया। यदि देव भी प्रिया व सुत के मोह में पड़कर मनुष्यों के समान आचरण करते हैं और क्रोधातुर व कामातुर हुए दुष्कर्मों में लिप्त, संसार में घूमते फिरते हैं, तो फिर मनुष्यों और देवों में तो कोई अन्तर ही दिखाई नहीं देता ? पुण्य का कारण फिर क्या ठहरा ? जो स्वयं पापकर्म करते हैं वे दूसरों को कैसे पुण्यकर्म में लगा सकते हैं ? जिनके चित्त में सदा संशय विलास कर रहा है, उनमें तो कोई वीतराग गुण दिखाई नहीं देता[१] इत्यादि।

---

३ घत्ता—मइ रक्खस भूयइ, असुह सरूवइ वेत्तगाल वेयालइ।
वइ पयइ देवइ हुंति असेवइ दुक्कमइ हिंसालइ ॥९॥

घरिय पमुहइ जोइणि सारउ। म न पाण पसु कयलाण मारउ।
देवय भणिणवि वदइ णिग्गिणु। णिधिणाइ ससय सल्लिय मणु।
गो पमुहाइ तिरिक्खइ अगइ। सुहिण यामसइ पाय पमगइ।
वडु पिप्पलु अनु णियुचुरु। देहलि दुग्ग इच्छु नगु जलयरु।
कनिणि पमुहइ घर उवयरणइ। आउहा जीवह संघरणइं।
इय सव्वइ देवइ मण्णंतउ। विणयें णवकारइ विरयंतउ।
णामाहास देव मइ पेरिउ। हिडइ प गुरुहि अवहेरिउ।
जो जो देउ णियइ तहो लग्गइ। जुत्ताजुत्तु किंपि ण हु मग्गइ।
देव ण णियमणि ससउ भावहि। अक्खमाल जावहिं करयलि यहि।

४ घत्ता—पिय पेम्मासत्तउ, विसय पमत्तउ, देव हवेवि जो णच्चइ।
दारुणु कयगाहु, वह सो सुहपहु लोयहं अवसु पवंचइ ॥१०॥

इस प्रकार मिथ्या देवों का निराकरण करके संधि के शेष भाग में सच्चे देव का निर्णय किया गया है। 'जिसके क्रोध, लोभ, मद, आलस्य, जरा, भय, विस्मय आदि दोष नहीं, जिसके न गले में मुंडमाला है, न कर में कपाल है; न कंठ में वासुकि है, न सिर पर गंगा है, न त्रिशूल है, न खट्वांग है, न धनुष है, न अर्धनारी-रूप शरीर है; जिसके न लीला-विलास है, न स्वयं गाना है, न नाचता है और न रोष-तोष उपजाता है, न सन्तुष्ट होकर आधे क्षण में राज्य देता और न रुष्ट होकर पकड़ता और मारता; जो केवल जीवों की दया तथा अपने और पराये हित में मग्न है, वही देव नमस्कार करने योग्य है। दूसरे देवों के साथ देख परख कर वही वीतराग कहा जा सकता है[१]'।

दूसरी सन्धि से नवमी सन्धि तक कवि ने क्रमशः जल, सुगन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन अष्ट द्रव्यों द्वारा देव-पूजा करने का माहात्म्य बतलाया है, और प्रत्येक के फल के उदाहरणस्वरूप एक एक कथा दी है। तदनुसार इन सन्धियों के

जो गोविहिं गामेहिं वि तद्धिउ। सो पुरिसुत्तमु कह जगि कोक्किउ।
गोविहि दंसणि जो विचलिय-मणु। परिभमेइ तहो कहिं देवत्तणु।
जो गोत्तम-कलत्त-विंभियमइ। सहसणयणु संजायउ सुरवइ।
चंदु विहप्पइ-भज्जासत्तउ। भणिवि कलंकिउ जगि वि गुत्तउ।
देव वि पुणु जइ मणुयायारिहिं। वत्तहिं पिय-सुत्र-मोहुग्गारिहिं।
देव वि जइ कोहाउर कामिय। भवि भमंति दुक्कम्मोहामिय।
ता मणुवहं देवहं वि ण अंतरु। दीसइ पुरणहेउ काइं मि थिरु।
पावयम्मु जे सइं उप्पायहिं। पुण्णकम्मि किह ते परु लायहिं।
ताहं ण वीयराय-गुणु दीसइ। संसउ जाहं चित्ति णिरु विलसइ।

१ जस्स कोहो ण लोहो ण मोहो मओ। णालसो णो जरा णो पिहा विंभवो।

× × × × × × × ×

मुंडमाला गले णो कवालं करे। वासुई णत्थि कण्ठे ण गंगा सिरे।
णो तिसूलं ण खट्टंगयं णो धणू। अद्धणारी णरा दीसए णो तणू।
जो ण लीला-विलासो सयं गायए। णाचए रोसतोसं समुप्पायए।
देइ रज्जं खणद्धें ण संतुट्ठओ। गिण्हए मारए जो पुणो रुट्ठओ।

× × × × × × × ×

घत्ता—जीव-दयासत्तउ, स-पर-हियत्तउ, सो पुणु देउ णमिज्जइ।
इयरेहिं परिक्खिउ, देवेहि लक्खिउ वीयराउ पभणिज्जइ॥१२॥

कवि ने क्रमशः (२) जलपूजा कथा वर्णन, (३) गंधपूजा फल कथा वर्णन, (४) अक्षत पूजा विधान कथा प्रकाशन, (५) पुष्पपूजा फल निर्णय वर्णन, (६) नैवेद्य पूजा फल कथा वर्णन, (७) दीपक प्रबोधन पुण्यकथा वर्णन, (८) धूपपूजा कथा वर्णन, और (९) फल पूजा-कथा वर्णन, नाम दिये हैं। कथायें साधारण प्रचलित व्रत कथाओं के समान ही हैं, पर कहीं कहीं इनमें बड़ी रोचक और मर्म की बातें कह दी गई हैं। उदाहरणार्थ अक्षत पूजा विधान कथा में राजा और एक शुकी की बातचीत हुई है। प्रसङ्ग ऐसा है कि राजा के बाग में एक सुन्दर आम का झाड़ था। वहीं एक शुक और शुकी का जोड़ा रहता था। शुकी को गर्भ समय उस आम के मौर खाने का दोहला उत्पन्न हुआ। वह आम बड़ी सावधानी से रखाया जा रहा था—कोई पक्षी भी उसके पास फटकने नहीं पाता था। तो भी अपनी प्रिया के प्रेमवश तोता अपने जीवन को संकट में डाल रोज उस आम की मौर ले आता था। आखिर एक दिन रखवाले ने जाल डालकर इस तोते को फँसा लिया और राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा मौर के नष्ट होने से बड़े रुष्ट थे, इससे तोते को उन्होंने मार डालने का विचार किया, पर इतने ही में वहां वह शुकी आ गिरी और बोली 'राजन् इसने मेरे लिये यह साहस किया था, इसलिये इसकी जान छोड़िये और मुझे दण्ड दीजिये'। राजा ने तोते से पूछा 'रे तोता! तूने समझदार होकर भी ऐसी गलती क्यों की? क्यों तू इस मादरजात के बहकाने में आकर ऐसा अपराध कर बैठा?' इसके उत्तर में तोता तो न बोलने पाया, शुकी बोल उठी—

'हे राजन्, लोग दूसरों पर तो बड़े जल्दी हँसने लगते हैं पर स्वयं अपनी कमजोरी पर ध्यान नहीं देते। अरे, स्त्री के लिये ही तो मनुष्य सब सुखों के देने वाले अपने माता पिता तक को दूर छोड़ देता है। स्त्री के लिये वह धर्म छोड़कर दिनरात कुकर्म करता है। स्त्री के लिये ही वह समराङ्गण में भिड़ता, दूसरों को मारता और स्वयं मरता है। स्त्री के लिये तो वह देव, गुरु व सज्जनों तक की निर्लज्ज होकर चोरी कर डालता है। स्त्री के लिये वह कुल-परम्परा को छोड़कर निन्दनीय व्यसनों में पड़ जाता है, और बड़प्पन, सुहृत्ता, प्रसिद्धि, शील आदि गुणों तक को तिलाञ्जलि दे देता है। स्त्री के लिये ही वह अपने ऊपर दूसरों का ऋण चढ़ा लेता है और अपने जीवन को तृण के समान गिनने लगता है। और, हे देव! तुम भी तो अपनी भार्या के लिये जान निछावर करने के लिये तैयार हो गये थे, फिर एक बिचारे पक्षी को आप क्या दोष देते हैं। अपनी प्रिया के मोह में तो बड़े बड़े विद्वान् भी मूढ़ हो जाते हैं'।[१]

---

१ ता जंपेइ कीरि णिवइ हृत्थ सधु लोउ।
पर उवहसइ गुणइ णहु णियि णियम गोहु॥

तीसरी सन्धि में तपस्या में प्रवृत्त एक सुन्दरी और उसके रूप पर आसक्त एक विद्याधर के भाव और क्रियाओं की विषमता का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

'जैसा जैसा उस सुन्दरी का ध्यान लगता जाता था, वैसा वैसा यह विद्याधर उसको अपना रूप बतलाने का प्रयत्न करता था। जैसे जैसे उसके ध्यान के अन्त होने का लक्षण नहीं दिखता था वैसे वैसे यह उसके गात्र की ओर घूर घूर कर देखता था। वह अपने मन में परमाक्षर 'ओं' का चिन्तन कर रही थी, तब यह अपने मन में रतिसुख का विचार कर रहा था। जैसे जैसे वह अपने शील को सम्हालने में लगती थी वैसे वैसे ये सविकार मन से देखते थे। वह गुरु के वचनों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं थी, ये प्रेम के मारे बेहाल थे। वह अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं करती थी, ये नाना प्रकार के हावभाव दिखा रहे थे। वह द्वंद्व-भावना को छोड़ रही थी, ये गिड़गिड़ा कर बोल रहे थे। वह कर्मों के क्षय की भावना भा रही थी, तब ये उसके चारों ओर चक्कर काट रहे थे। वह भावनाओं में लीन थी तो ये कामबाण से तड़प रहे थे। और जैसे जैसे वह तत्वों के विवेचन में संलग्न होती थी वैसे वैसे ये हज़रत पृथ्वी पर पड़े अपने आपको भूल रहे थे'[७]।

महिलहिं कज्जि सव्व सुक्खयरइं । गरु दूरम्मि चयइ णिय पियरइं ।
महिलहिं कज्जि करेइ कुकम्मइं । अहणिसु दूरोसारिव धम्मइं ।
महिलहिं कज्जि भिडइ समरंगणे । पर मारइ मरेइ सइं तक्खणे ।
महिलहिं देउ गुरु वि (पुणु) सज्जणु । मूसइ चोरु जेम अइणिग्घणु ।
महिलहिं कज्जि कुलक्कमु वज्जइ । णिंदियाइं वसणाइं पउंजइ ।
महिलहिं कज्जि गुरुत्तु सुहित्तणु । मुवइ पसिद्धि सीलु विवसत्तणु ।
महिलहिं कज्जि चडावइ पराणु । णिय-जीविउ अवगण्णइ जिह तिणु ।
तुहुं मि देव णिय-भज्जा-कारणि । जं जीविउ चएहि तुट्ठउ मणि ।
तं पक्खिहिं मि दोसु किम दिज्जइ । पिय णेहे विउसु वि मोहिज्जइ ॥४,४॥

७ जह जह झाणु किं पि आहासइ । तह तह सो णं मुत्ति पयासइ ।
जह जह सा ण झाणु परिसेसइ । तह तह सो तहो गत्तु गवेसइ ।
जह जह सा परमक्खरु चिंतइ । तह तह सो रइसुहु मणि चिंतइ ।
जह जह सा ससीलु संभालइ । तह तहं सो सवियारु णिहालइ ।
जह जह सा गुरु-वयणु ण छंडइ । तह तह सो णेहे अवरुंडइ ।
जह जह सा स-पइज्ज ण भंजइ । तह तह सो बहु भाव पउंजइ ।

है—'विनय से बहुत पुण्य होता है और छोटे बड़े सभी प्रसन्न होते हैं। विनय से देवता आपत्ति का नाश कर देते हैं और दुष्ट भी शान्त हो जाते हैं। विनय से सब विद्यायें सिद्ध होती हैं, ग्रहों की पीड़ा रुक जाती है, लोक में प्रसिद्धि होती है, लक्ष्मी कभी साथ नहीं छोड़ती। विनयी मनुष्य का सब लोग आदर करते हैं और दुर्जन भी भाई बन जाता है। विनय से दान, शील, तप सहज ही सधते हैं और कोई शत्रु नहीं बनता। विनय से सब लोग वश में हो जाते हैं। विनय ही एक ऐसा कर्म है जिसका कभी कोई विरोध नहीं करता। विनय सब कल्याणों का करनेवाला, और नरकों की दुर्गति को टालनेवाला है। परोक्ष विनय का ही फल सुनो। द्रोणाचार्य का विनय एक भील ने किया था जिससे प्रतिदिन धनुर्विद्या का अभ्यास करते करते उसे शब्द-वेधी बाणकला सिद्ध हो गई थी'।[११]

गुरु-उपासना का विषय इस संधि के सात कडवकों में समाप्त होकर आठवें कडवक से स्वाध्याय का उपदेश प्रारम्भ होता है। स्वाध्याय पाँच प्रकार का है, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आज्ञा और उपदेश। अब कौन सा शास्त्र स्वाध्याय के लिये उपयुक्त गि[ना] जाय? कवि उत्तर देते हैं "जिसमें पूर्वापर विरोध न हो, दया के बहाने भी पशु[ओं] मारने और उसका मांस खाने की बात न हो, जहाँ लोकविरुद्ध आचरण और मलिन क्रिया[ओं] का उपदेश न हो, तथा जहाँ कुदान और कु-परिग्रहण का आदेश न हो और पापों[के] साधनों की पुष्टि न की गई हो वही आगम सचमुच में सर्वोत्कृष्ट है[१२]। ऐसे आगम [का]

---

११ विणउ विसेस-पुरण-उप्पायणु । विणएं रंजिज्जइ लहु-गुरयणु ।
विणएं देव वि आवइ णासहिं । विणएं दुट्ठ वि सेस पयासहिं ।
विणएं विज्जउ सयल वि सिज्झहिं । विणएं गह-पीडाउ णिरुज्झहिं ।
विणएं लोय पसिद्धि पवच्चइ । विणेएं लच्छिय कहव ण मुच्चइ ।
विणएं णरवरु होइ कयायरु । विणएं दुज्जणु जायइ भायरु ।
विणएं दाणु सीलु तउ सुहयरु । विणएं कोवि ण जायइ तहु परु ।
विणएं वसि हवेइ सयलु वि जणु । विणउ इक्कु अविरुद्धउ कम्मणु ।
विणउ सयल-कल्लाणहं कारणु । विणउ णरहं दुग्गइ-विणिवारणु ।
घत्ता—णिसुणि परोक्खय-विणय-फलु, दोणायरिउ भिल्ल पणवंतहु ।
सद्दें वहु संजाउ तहो, दिणि दिणि धणुहब्भासु कुणंतहो ॥११,३॥

१२ पुव्वावर-विरोह-परिचुक्कउ । सो आयमु परमत्थ गुरुक्कउ ।
जेत्थु दयाभासे वि ण हम्मइ । पसु तहु कप्पिउ मंसु ण जिम्मइ ।
× × × × × × × ×

नित्य स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इससे बुद्धि बढती है। बुद्धि हीन मनुष्य की बडी दुर्दशा होती है, उसकी सब क्रियाओं का फल उलटा ही होता है "वह धूत पिशाचों की मीठी मीठी बातों में फँस जाता है और फिर भ्रमता फिरता है। वह तीर्थो में भटकता है, पानी में डूबता है तथा कायक्लेशों द्वारा अपने शरीर को दण्ड देता है। इस प्रकार वह बहुत से त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है पर पुण्यहेतु कुछ नहीं साधता। जिस प्रकार कोशे का कीडा अपनी ही क्रिया से अपने आपको बधन में डाल लेता है वैसे ही यह जीव दुष्कर्मों को अपनी ओर आकर्षित करता है"[११]। इस सन्धि में या आगे की सन्धियों में कोई कथानक नहीं हैं। इस सन्धि को कवि ने 'गुरूपासना स्वाध्याय निर्णय प्रकाशन' नाम दिया है।

बारहवीं सन्धि में चौथे कर्म 'संयम' का उपदेश है। इसके लिये इन्द्रिय संयम की सबसे प्रथम आवश्यकता है। "एक ही स्पर्श इन्द्रिय के सुख की लालसा के कारण बन के हाथी को भी दृढ बन्धन में पडकर ताडनादि दुःख भोगना पडता है। रसना इन्द्रिय के लोभ से दुस्तर समुद्र में रहनेवाला मत्स्य भी गल द्वारा फँसा लिया जाता है। घ्राण इन्द्रिय में आसक्त भौंरा कमल के भीतर मरता है, नयन इन्द्रिय के वशीभूत होकर मूढ पतंग एक क्षण में दीपक के तेज से भस्म हो जाता है, और श्रवण इन्द्रिय के वश में पडकर गान में आसक्त हुआ हरिण व्याध द्वारा तुरन्त मार डाला जाता है। एक एक इन्द्रिय के दोष से ये सब जीव इस प्रकार विनष्ट हो जाते हैं, फिर जो मनुष्य पाचों इन्द्रियों के सुखों की अभिलाषा करता है, वह तो भव भव में दुःख सहेगा ही। सर्प, सिंह, हाथी, क्रूरग्रह, रूठे हुए व्यंतर, कुपित नरेश्वर तथा अन्य दुर्जन भी जीव को वह दुःख नहीं दे सकते जो इन्द्रियों के विषय देते हैं। ये तो जीव का एक ही जन्म में विध्वंस कर सकते हैं, किन्तु ये जन्म जन्मान्तर में भी पिंड नहीं छोडते'[१२]।

जेत्थु ण लोय विरुद्धायरणइं । पयडिज्जहिं बहु मल विट्टरणइं ।
जेत्थु ण दुट्टाणइं पडिगाहणु । ण वि पाविज्जइ दुरिय पसाहणु ॥११, ८॥

११ बुद्धि हीणु जणु धुत्त पिसायहिं । गहिलउ हिंडइ किय सुहिवायहिं ।
तित्थइं अवगाहइ जले बुड्डइ । काय किलेसहिं णियतणु दंडइ ।
तस थावर बहु जीव विरोहइ । पुण्ण हेउ ण वि काइं उ साहइ ।
कोसियारु जिह अप्पउ वेढइ । तिम स जीउ दुक्कम्महु कड्ढइ ॥११,१॥

१२ वण करि फासिंदिय सुह गिद्धउ । सहइ बंधु ताडणु दिढबद्धउ ।
रसणिंदिय लुद्धउ दुत्तरि जलि । तिमि बज्झइ गलेण णि मर गलि ।

पर इन्द्रियां वेचारी अपने ही बल पर कुछ नहीं कर सकतीं। "जैसे अन्धा मनुष्य, एक स्थान पर खड़ा, अपने काम की अभिलाषा रखता हुआ भी, बिना दर्शक के कहीं जा नहीं सकता, उसी प्रकार विना मन के व्यापार के इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय विषय सुखों का रस नहीं चख सकतीं। जैसे जड़ कट जाने पर बडे बड़े पत्तोंवाला वृक्ष, जैसे राजा के बिना चतुरंग सेना, जीव के बिना सारा कलेवर और सम्यक्त्व के बिना व्रतों का विस्तार निरर्थक है, उसी प्रकार मन के बिना ये प्रवल इन्द्रियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं। पर यह मन ही तो सुख और दुख के भावों से वँधे हुए त्रैलोक्य के जीवों के लिये बड़ा दुर्जय है। सब को दिखता है कि मन चंचल है, पर जिनदेव को छोड़ कर और कोई उसे काबू में नहीं ला सका। तिलोत्तमा को रस से नाचती और हावभाव विभ्रम प्रकट करती हुई देखकर चतुरानन का चित्त भी चलायमान हो गया, ब्रह्मा का भी कामोन्माद बढ़ गया। मन में काम-विकार से संतप्त होकर हरि गोपियों में अनुरक्त हुए भटकने लगे। ऋषि के आश्रम में तरुणी से मोहित मन होकर शिव सो गुना नाचने लगे और गौतम ऋषि की भार्या में आसक्त होकर इन्द्र का चित्त चल पड़ा और वे सहस्राक्ष बन गये।"[१५] इस दुर्जय मन को ही वश करना बड़ा भारी और सच्चा संयम है।

घाणिंदिय-रत्तउ इंदिदिरु । पंकइ मरिवि जाउ सय सकरु ।
णयणिंदिय-वसेण खणि दड्ढउ । सलहु दीव-तेएण विमूढउ ।
सवणिंदिय-वसु गेयासत्तउ । वाहें मारिउ हरिणु तुरंतउ ।
इक्केकहं इंदियहं वि दोसें । इय सयल वि विणट्ठ कयतोसें ।
जो णरु पंचेंदिय-सुह-लालसु । दुक्खु सहइ सो भवि भवि सालसु ।
तं ण दुक्खु फणि केसरि कुंजर । कूरगह सरोस तह विंतर ।
कुविय णरेसर अवर वि दुज्जण । एय-जम्म-विद्धंसण-किचमण ।
जीवहु दिंति विसय जं भवि भवि । उप्पयणइं सरीर तह णवि णवि ॥१२,१॥

१५ अंधु जेम आयट्टइं वज्जिउ ठाणठिओ । अच्छइ चलणहु सकइ जइ वि सकज्ज-पिओ ।
मण-वावार-विमुक्कइं तिह पुण इंदियइं । विसय-सुक्खु ण वियाणइं अवसु अतिंदियइं ॥
छिण्ण-मूलु जिह तरु वड्ढिय-दलु । णिवइ-हीणु जिह चउरंगु वि बलु ।
विणु जीवें जिह सयल कलेवरु । विणु सम्मत्तें जिह वय-वित्थरु ।
तिह मण-वज्जियाइं सुसमत्थइं । पंचेंदियइं हवेइं णिरत्थइं ।
मणु दुज्जेउ हवइ तिजयत्थहं । जीवहं सुह-दुह-भावावत्थहं ।
मणु चंचलु इह सव्वहं दीसइ । जिण मुएवि अण्णहं कहु सीसइ ।
णियेवि तिलोत्तम सरसु णडंतिय । बिब्भम हाव भाव पयडंतिय ।

इसके पश्चात् दयाधर्म की प्रशंसा और उसके पालन का उपदेश है। फिर सात मिथ्यात्व के उल्लेख और उनके त्याग के उपदेश, तथा सम्यक्त्व के ८ मूल गुणों के धारण की प्रेरणा के साथ संधि समाप्त होती है। इस संधि का नाम कवि ने 'सम्यक्त्व शुद्धि प्रकाशन' रक्खा है।

तेरहवीं संधि में भी संयम का उपदेश चालू है। यहां अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील और अपरिग्रह इन पांच अणुव्रतों का, दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ दण्ड व्रत इन तीन गुण व्रतों का, तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग इन चार शिक्षाव्रतों का, और फिर निशिभोजन त्याग का उपदेश है। निशिभोजन त्याग को कवि ने व्रतों का सार कहा है और इस पर उन्होंने बड़ा जोर दिया है। जो इसे पालन नहीं करते उन पर इस जन्म और अगले जन्म में बड़ी बड़ी आपत्तियां आती हैं, पुत्र कलत्रादि सब दुराचारी हो जाते हैं, तथा जो इसे पालते हैं उनके सुखों का पारावार नहीं है, ऐसा कहा है। फिर मौनव्रत का उपदेश है। मल मूत्रोत्सर्ग, भोजन, स्नान व देवबन्दन क्रियाओं में मौन रखना चाहिये। इसके पश्चात् समाधिमरण के उपदेश के साथ संधि समाप्त होती है और संयम कर्म का उपदेश पूरा होता है। इस संधि को कवि ने 'संयम कर्म' कहा है।

अन्त की चौदहवीं संधि में तप और दान कर्मों का उपदेश है। तप बाह्य और अभ्यंतर रूप से दो प्रकार का है और प्रत्येक के छह छह भेद हैं, इस प्रकार तप बारह प्रकार का है। बाह्य तप के अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश, तथा आभ्यंतर तप के प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान भेद हैं। इनका वर्णन प्रथम आठ कडवकों में समाप्त होकर छठवें अन्तिम कर्म दान का उपदेश प्रारम्भ होता है। दान का माहात्म्य बड़ा भारी है—'यह गृहस्थधर्म का सार कहा गया है। दान से पापों की अवधि टलती है तथा ऋद्धि और पुण्य उत्पन्न होते हैं। दान सब कल्याणों का भाजन है, तीनों लोकों को हिला देनेवाली शक्ति है, भोगभूमि के सुखों का विस्तार बढ़ानेवाला है, लोक का अद्भुत वशीकरण है और गौरव का हेतु है। दान जाति और कुल के नाम को जगा देता है, सुपात्रों से संयोग

चलिय चित्तु चउराणणु जायउ। चमु पवड्ढिय कामुम्मायउ।
मयि सयणिय विचार सनत्तउ। हरि हिंडइ गोविंहि अणुरत्तउ।
रिसि आसम मोहिय तरुणिहि मणु। हरु दारुयणु पयाचिउ सयगुणु।
गोत्तम रिसि मनहि आसत्तउ। हरि सहसक्खु जाउ चल चित्तउ॥१२,२॥

जोड़ देता है, दुर्गति का समूल नाश कर देता है और शुभगति को सामने ला देता है। एक दान से ही सज्जनता का पोषण होता है और वैरी का भी मन संतुष्ट हो जाता है। दान कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, चिन्तित फल देनेवाला चिन्तामणि है। दान स्पष्ट फल देने वाला सिद्धमंत्र है और पाप के मेल को धोने के लिये बीजाक्षर है"[१६]। यह दान आहार, औषधि, अभय और शास्त्र ऐसा चार प्रकार से सुपात्र और कुपात्र का विवेक करके देना चाहिये।

ग्रन्थ को पूरा करते हुए कवि ने उक्त छः कर्मों की महिमा गाई है—"इन छः कर्मों से ही श्रावक की पहिचान होती है, दिन भर के किये हुए पाप विलीन हो जाते हैं, सम्यक्त्व की शुद्धि होती है, गृहस्थी के काम काज से चित्त को कुछ विश्रान्ति मिलती है, जैनधर्म जाना जाता है, नर-जन्म में गणना होती है, उपसर्ग आने से रुकते हैं, ऋद्धि आने में चूकती नहीं, दुष्कर्म टूट जाते हैं, प्रमाद छूट जाता है, मन में शक्ति उत्पन्न हो जाती है, स्वर्गगति मिलती है, लोक में प्रसिद्धि होती है, त्रिभुवन में हलचल हो जाती है, बडे बडे पुरुष वशीभूत हो जाते हैं, देव भी आज्ञाकारी बन जाते हैं, सब वाञ्छाएँ पूरी होती हैं, देव दुंदुभि बजाते हैं, केवल ज्ञान उत्पन्न होता है और अविचल सुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य निःशल्यमन और संसार की बाधाओं से विरक्त होकर षट् कर्म का पालन करेगा वह स्थिर दृष्टि से उसी मोक्षमार्ग का दर्शन पा जायगा जिसे जिनेश्वर भगवान् ने ही देख पाया है।"[१७]

---

१६ दाणु कहिउ गिह-धम्महं सारउ। दाणु होइ दुरियावहि-वारउ।
दाणु परिद्धि-पुण्ण-उप्पायणु। दाणु सयल-कल्लाणइं भायणु।
दाणु तिलोयहं खोहहु कारणु। दाणु भोय-महि-सुह-विथारणु।
दाणु लोय-वसियरणु णिरुत्तउ। दाणु गुरुत्तहिं हेउ पउत्तउ।
दाणु जाइ-कुल-णामुज्जोयणु। दाणु सुपत्त-संग-संजोयणु।
दाणु होइ दुग्गइ-णिण्णासणु। दाणु अवसु सुहगइ-उब्भासणु।
दाणु इक्कु सुयणत्तणु पोसइ। दाणु वि वइरिय-मणु संतोसइ।
दाणु वि कामधेणु सुरवर-तरु। दाणु वि चिंतामणि चिंतिययरु।
दाणु वि सिद्धमंतु पयडिय-फलु। दाणु वि बीयक्खरु हयकलिमलु ॥१४,६॥

१७ छक्कम्महिं सावहु जाणिज्जइ। छक्कम्महिं दिणि दुरिउ विलिज्जइ।
छक्कम्महिं सम्मत्तु विसुज्झइ। छक्कम्महिं घरकम्मु णिरुज्झइ।
छक्कम्महिं जिणधम्मु मुणिज्जइ। छक्कम्महिं णरजम्मु गणिज्जइ।

इस प्रकार यह अमरकीर्तिगणि का षट्कर्मोपदेश पूरा होता है। यहाँ जो विवरण दिया गया है उससे ग्रंथ के विषय का, कर्ता की भाषा शैली का तथा काव्य के गुणों का परिचय पाठकों को मिल जायगा। ग्रन्थ के कर्ता काष्ठा संघ के थे, पर ग्रन्थ भर में ऐसी कोई बात कम से कम मेरी दृष्टि में नहीं आई जो दूसरे किसी भी संघ के अनुयायी को अग्राह्य हो। पूजा के अष्ट द्रव्यों का क्रम तक कर्ता ने सर्वमान्यतानुसार ही रक्खा है। ग्रन्थ उद्धार के योग्य है। इति शम्।

छक्कम्महि उवसग्गु ण दुक्कइ । छक्कम्महि रिद्धिहि ण वि चुक्कइ ।
छक्कम्महि दुक्कम्मइ छुट्टहि । छक्कम्महि पमाय विहट्टहि ।
छक्कम्महि पमत्ति मणि अम्मइ । छक्कम्महि सुरणयरिहि गम्मइ ।
छक्कम्महि पसिद्धि जगि लब्भइ । छक्कम्महि तिहुवणु रणि सुब्भइ ।
छक्कम्महि वसि जायइ णरवर । छक्कम्महि दय वि आणायर ।
छक्कम्महि णाछिउ संपज्जइ । छक्कम्मह सुरदुंदुहि वज्जइ ।
छक्कम्महिं उप्पज्जइ केवलु । छक्कम्महि लब्भइ सुहु अविचलु ।

घत्ता—छक्कम्मइं जो णरु सक्कमणु, भविउ भवाहि विवज्जिउ पालइ ।
सो जिणणाहे घोसियउ, मोक्खमग्गु थिरु दिट्ठु णिहालइ ॥१४,१७॥



विजयनगर-साम्राज्य और जैन-धर्म

(लें०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

जब सन् १३२७ में मुहम्मद तुग़लक़ ने 'होय्सल' राज्य को समूल नष्ट कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया तब दक्षिण भारतीय भिन्न भिन्न राज्य सजग होकर दो वीर योद्धाओं के नेतृत्व में संगठित हुए। इस संगठन का परिणाम यह हुआ कि इन शूरवीरों ने कुछ ही समय के बाद एक नवीन राज्य की नींव डाली। इस नवीन राज्य की राजधानी विजयनगर ही बनी। उल्लिखित वीरों के नाम क्रमशः हरिहर और बुक्क थे। ये दोनों सहोदर भाई थे। इन भाइयों ने दक्षिण भारत में बड़े वेग से बढ़ती हुई यवन-शक्ति को बड़ी वीरता से रोका। इसी समय वहाँ यवनों ने बहमनी राज्य को स्थापित कर गुल्बर्गा को इसकी राजधानी बनाया। उस समय दक्षिण में यही दो राज्य प्रधान थे और सदैव इनमें एक दूसरे के प्रति पारस्परिक संघर्ष चलता था। लगभग सन् १४८१ में बहमनी राज्य बरार, गोलकुण्ड, बीजापुर आदि भिन्न भिन्न प्रदेशों में पाँच भागों में विभक्त हुआ। विजय नगर का कलह बीजापुर के आदिल शाहों के ही साथ चलता रहा। पूर्वोक्त पाँचों महम्मदीय राज्यों में पारस्परिक द्वेष एवं नोक-झोंक चलते रहने के कारण प्रायः विजयनगर को ही विजयी बनने की सुविधा मिल जाती थी। अन्त में मुसलमानों ने अपनी इस भूल को समझ लिया। फलतः इन लोगों ने संगठित होकर सन् १५६५ में तालिकोट के मैदान में लड़कर दक्षिण भारत से सदा के लिये हिन्दू-साम्राज्य की जड़ ही उखाड़ डाली। इस युद्ध में यवनों ने विजयनगर के तत्कालीन शासक रामराय को मारकर उनकी सुन्दर राजधानी विजयनगर को तहस-नहस कर डाला। लोक विश्रुत, हिन्दुओं की भूतपूर्व राजधानी विजयनगर का ध्वंसावशेष देखकर आज भी सहृदयों की आँखों से प्रवाहित अश्रुधारा रोके नहीं रुकती।

यह हुआ विजयनगर साम्राज्य का संक्षिप्त इतिहास। अब मैं अपने पाठकों का ध्यान प्रकृत विषय की ओर आकृष्ट करता हूँ। विजयनगर राजवंश में वीर बुक्कराय को जैन धर्म कभी नहीं भूल सकता। क्योंकि इन्होंने अपने शासनकाल में एक अमूल्य उपकार के द्वारा जैनधर्म को एक प्रकार से चिरऋणी बना दिया है। इस बुक्कराय (प्रथम) ने उन दिनों जैन और वैष्णव-सम्प्रदाय में धधकती हुई विद्वेषाग्नि को बुझा कर शान्ति-स्थापना-द्वारा अपनी अमिट धार्मिक मैत्री दुनिया को दिखा दी थी। यह शासक सर्वधर्म-

के समय में भी मौजूद थे। इनके द्वारा नानार्थ-रत्नमाला नामक एक संस्कृत पद्यात्मक कोष रचे जाने की बात मिलने से यह ज्ञात होता है कि यह इरुगप्प संस्कृत के भी एक अच्छे मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने विजयनगर में भी श्रीकुन्थनाथ तीर्थंङ्कर का एक मन्दिर निर्माण कराया था। हरिहर राय (सन् १३३६—१३५०) ने तुळु जैनराजाओं को जो वंश-परम्परा से राज्य शासन करते चले आते थे निष्कण्टकता एवं निर्भीकतापूर्वक शासन करने का अधिकार दे दिया था। बल्कि इन आदर्श-शासक हरिहर राय की ओर से तुळु जैन राजाओं को अपने जैनराज्य में सभी अधिकार मिले थे। द्वितीय हरिहर राय (सन् १३७९—१४०४) ने जिस प्रकार कद्रे के मञ्जुनाथ, कान्तावर के कान्तेश्वर आदि जैनेतर देवस्थानों को जागिर दी थी उसी प्रकार मूडबिद्री के जैनगुरुवसदि को भी दी थी। शक सम्वत् १३२६ के मूडबिद्री के गुरुवसदि के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि द्वितीय बुक्क राय ने इस बसदि (मन्दिर) को भूदान दिया था। सुप्रसिद्ध देव राय द्वितीय (सन् १४२९—१४५१) ने हट्टंगडि के चन्द्रनाथ देवालय, मूडबिद्री के त्रिभुवनतिलक चैत्यालय बारंग के नेमिनाथ मन्दिर आदि इस जिले के कई जैनचैत्यालयों को जागीर दी थी—यह बात वहाँ के भिन्न भिन्न शिलालेखों से सिद्ध होती है।

खिस्त शक १४३१—३२ में कार्कल के शासक भैरवराय के सुपुत्र वीर पाण्ड्य ने कार्कल में जो लोक विख्यात बाहुबली स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी उस प्रतिष्ठा-समारोह में द्वितीय देव राय भी सम्मिलित हुए थे। वीर पाण्ड्य ने आपका बड़ा सम्मान किया था। विजयनगर के एक शासन से विदित होता है कि उक्त देव राय ने विजयनगर में भी पार्श्वनाथ स्वामी का एक मन्दिर बनवाया था। इनके समय में विजयनगर-साम्राज्य बहुत ही उन्नतावस्था में था। इटली के पर्यटक निकोलोकोन्टो और पर्शिया के राजा ककलियन के राजदूत अब्दुल रज़ाक इन दोनों ने देव राय के राज्यविभव को अपने अपने यात्रा-विवरणों में बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। उस समय विजयनगर राजधानी साठ माईल के घेरे में फैली हुई थी। इनके यात्राविवरण से यह भी विदित होता है कि द्वितीय देव राय का राज्य कृष्णानदी से कन्याकुमारी तक विस्तृत था एवं तत्कालीन विजयनगर के शासक भारतीय राजाओं में अधिक शक्तिशाली थे।

अस्तु, इसी राजवंश के द्वितीय विरूपाक्ष राय (सन् १४६५—१४७९) ने भी मूडबिद्री वाले त्रिभुवनतिलक चैत्यालय को जागीर दी थी। चिट्ट पाडि के बल्लाल के सहोदर भाई के घर पर के एक शासन से ज्ञात होता है कि सलुववंशीय नरसिंह के छोटे भाई इम्मडि नरसिंह ने सन् १४९० में चिट्ट पाडि के हलर बसदि (मन्दिर) में जागीर दी थी।

प्रख्यात दानवीर कृष्णदेव राय (सन् १५०९—१५३०) के द्वारा मूडबिद्री के गुरुबसदि* एवं चगल्पट्ट के त्रैलोक्यनाथ जिनालय को वृत्ति दी गयी थी।

यों तो विजयनगर साम्राज्य के स्थापनाकाल से ही दक्षिण भारत में हिन्दू संस्कृति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है, पर इन कृष्णदेव राय के शासन समय में तो यह हिन्दू संस्कृति अत्युन्नतावस्था को प्राप्त हो गयी थी। उत्तर भारत में विक्रमादित्य का नाम जैसी श्रद्धा के साथ लिया जाता है वैसे ही दक्षिण भारत में इन कृष्णदेव का नाम लोग बड़े आदर के साथ स्मरण करते हैं। विजयनगर राजवंश के अन्यान्य छोटे मोटे राजाओं ने भी जैनदेव मन्दिरों को समय समय पर वृत्ति प्रदान कर सम्मानित किया है। यही तक नहीं इस वंश के राजाओं से जैन कवियों को भी अन्यान्य साहाय्य द्वारा पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। प्रथम हरिहर (सन् १३३६—१३५३) के शासनकाल में मुगुलिपुर के स्वामी प्रथम मंगरस ने खगेन्द्रमणि दर्पण का प्रणयन किया था। धर्मनाथ पुराण के रचयिता मधुर द्वितीय हरिहर (सन् १३७७—१४०४) के राजसभा पण्डित थे। बिलिगे तालुक के एक शासन से विदित होता है कि शब्दानुशासन के कर्ता भट्टाकलंक के गुरु भट्टाकलंक ने प्रथम श्रीरंग राय (सन् १५७३—१५८४) की राजसभा में उनकी प्रेरणा से सारत्रय एवं अष्टशारत्रय को पढ़कर कीर्ति समर्जित की थी। इस शासन से यह भी ज्ञात है कि शब्दानुशासनकर्त्ता भट्टाकलङ्क प्रथम वङ्कटपति राय (सन १५८६—१६१७) के शासनकाल में जीवित थे।†

इस दिग्दर्शन से यह बात जानने में अब ज़रा भी सन्देह नहीं रह जाता है कि विजयनगर के साम्राज्य शासन समय में जैनी सुखपूर्वक निर्बाधरूप से अपने धर्मकर्म का पालन करते थे।

बल्कि दक्षिण कनड़ जिले में शासन करनेवाले अजिल जैन राजवंश के एक विशेष वक्तव्य (कैफियत) से पता लगता है कि इस वंश का सम्बन्ध विजयनगर साम्राज्य से भी था। इसका विवरण यों है —

इस वंश के पूर्वज तिम्मण्ण अजिल के मरणोपरान्त इस राजवंश में केवल दो स्त्रियाँ रह गयी थीं। इनमें से एक विधवा और दूसरी कुमारी थी। ये दोनों सगी बहनें थीं। तिम्मण्ण अजिल के शत्रुओं ने इनके मर जाने पर इनकी सभी चल अथवा अचल सम्पत्तियों को लूट खसोट कर दोनों स्त्रियों को निस्सहाय बना दिया। ऐसी दशा में इन दोनों ने विजयनगर साम्राज्य के शासक के पास जा अपना पूर्व परिचय प्रदानपूर्वक

* उल्लिखित प्रमाणों के लिये "द० कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास" देखें।

†"कर्णाटक कविचरिते' के २य भाग की अवतरणिका देखें।

अपनी दयनीय दशा का करुण चित्र खींच सुनाया। विजयनगर के साम्राज्य-शासक ने इनकी दुरवस्था पर तरस खा इन्हें आश्वासन एवं अभयदान देकर अपने यहाँ रख लिया। बल्कि उनके वंश का प्रकृत पता लगा कर उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी उक्त कुमारी से अपनी शादी भी करली। इस नवविवाहिता रानी के गर्भ से विजयनगर-साम्राज्य-शासक को तिम्मण राय और कामि राय नामके दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए। इन दोनों लड़कों के लालन, भरण एवं पोषण बड़ी सतर्कता के साथ हुए। बाद इन दोनों भाइयों के तरुण हो आने पर इनकी मौसी विधवा ने राजा से निवेदन किया कि हमसबों ने अत्यन्त अपमानित होकर आपकी शरण ली थी। हम सबों के सौभाग्योदय से आप जैसे माननीय महानुभाव शासक की छत्रछाया में रहकर इस समुन्नतावस्था को प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध हुई। अब मुझे इन दोनों बच्चों को साथ लेकर अपनी जन्मभूमि का दर्शन की हार्दिक उत्कण्ठा हो रही है—आशा है कि आप मेरी यह विनीत प्रार्थना स्वीकृत करेंगे। राजा ने यह प्रार्थना सहर्ष कबूल करली। और इन दोनों लड़कों को उस विधवा के साथ उनकी जन्मभूमि को भेजकर मंगलूर प्रान्त के कुछ हिस्से बड़े लड़के तिम्मण राय और कुछ हिस्से छोटे लड़के कामि राय को देकर इन्हें अपने अपने प्रान्तों का शासक बना दिया। बल्कि अधिक स्नेह-भाजन होने की वजह से अपने छोटे लड़के इस कामि राय को कुछ अधिक हिस्सा दिया। इसके बाद बड़े लड़के तिम्मण राय वेणूर में और छोटे कामि राय नन्दावर में भिन्न भिन्न दो राजधानी बनाकर सुख से रहने लगे। बड़े तिम्मण राय का वंश अजिल और छोटे कामि राय का वंश बंग के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन दोनों के वंशज आज भी मौजूद हैं। अभी तो ये जैनी हुई हैं किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह वंश पहले हिन्दू था।*

अन्त में मैं विजयनगर के सम्बन्ध में सुहृद्वर बाबू हीरालाल जी एम०ए०, एल०एल०, बी० का मत नीचे ज्यों का त्यों उद्धृत किये देता हूँ:—

"इस वंश के नरेश यद्यपि हिन्दू थे पर जैनधर्म की ओर उनकी दृष्टि सहानुभूति-पूर्ण रहती थी। इसका बड़ा भारी प्रमाण बुक्क राय का वह शिला लेख है जिसमें उनकी बड़ी सहृदयता के साथ जैनियों और वैष्णवों के बीच सन्धि स्थापित करने का विवरण है। विजयनगर के हिन्दू नरेशों के समय में राज्यघराने के कुछ व्यक्तियों ने जैनधर्म स्वीकार किया था। उदाहरणार्थ हरिहर द्वितीय के सेनापति के एक पुत्र व 'उग' नामक एक राजकुमार जैन धर्मावलम्बी हो गये थे।

('मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक' की भूमिका पृष्ट १४)

* इस वंश का यह विशेष वक्तव्य (कैफियत) "सुवासिनि" सम्पुट ४ संचिके १ में देखें।

निसिधि के सम्बन्ध में दो शब्द

(ले०—प्रो० श्रीयुत ए० एन० उपाध्ये)

कनडी और संस्कृत के अनेक जैन शिलालेखों में 'निसिधि' शब्द पाया जाता है। किन्तु उसका अक्षर विन्यास (spelling) सर्वत्र एक सा नहीं है। कनडी के शिलालेखों में उसके भिन्न भिन्न रूप पाये जाते हैं यथा - 'निषिदि' 'निषिधि' 'निसिदि' निसिधि' 'निसिद्धो' 'निसिधिग' और निषिग।[1] उत्तर कर्नाटक में आजतक भी 'निसिद्दी' शब्द प्रचलित है। संस्कृत के शिलालेखों में उसके 'निषिधि' निषधिका' और 'निषद्या'[2] रूप पाये जाते हैं। इसके रूपों की विभिन्नता मूल शब्द तथा उसकी बनावट के ऊपर प्रकाश डालने के लिये किसी को भी लालायित कर सकती है।

अनेक शिलालेखों के अध्ययन करने से इस शब्द का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद बनाये जानेवाले उस ढांचे या मकान को 'निषद्या' कहते हैं जो सम्भवतः उस स्थान पर बनाया जाता था जहां किसी पूज्य साधु ने अपने अन्तिम श्वास पूरे किये थे या जहां पर उसका शरीर जलाया जाता था अथवा जहाँ पर उसकी अस्थियां गाड़ी जाती थीं। इस प्रकार की समाधियाँ प्रायः चबूतरे के रूप में पाई जाती हैं। चबूतरे के चारों कोनों पर चार खम्भे होते हैं और उन पर एक गुम्बनदार भारी छतरी होती है जो पत्थर या ईंटों से बनायी जाती है। कभी कभी केवल चबूतरा ही होता। चबूतरे पर मृत साधु के पदचिह्न और कहीं कहीं मूर्ति[3] भी अङ्कित होती हैं। अधिकतर पदचिह्नों के पास एक शिलालेख[4] रहता है उससे मृतसाधु का परिचय तथा उसके अन्तिम हालात मालूम होते हैं और स्मारक के निर्माता का भी पता चलता है।

बहुत से जैन ग्रन्थों में धरातल में ऊंचे चौरस स्थानों[5] का (seats) वर्णन मिलता

---

१ ए० सी० २, नं० ६४, १०६, २७२, ६२, १५ १६, ८५, ६६, १०३, १ ४, ११२, १७३, ११७, ११८ ६५ आदि।

२ ए० सी० २, न० ६६ इसमें 'निषिद्यालयम्' वाक्य आया है; ६५, ६३, २२४।

३ उदाहरण के लिये—कोप्पल में चन्द्रसेन निसिदि—मयकर्नाटक, X, १० और पागवाडा में भागचन्द्र—निसिदि, जिनविजय XXVI

४ श्रवणबेलगोल के ऐसे बहुत से शिलालेख।

५ देखो, निसाहिया का वर्णन, भगवती आराधना, गाथा ११६४—६७ (कोल्हापुर संस्करण पृष्ठ ५७२ से) शास्त्रसारसमुच्चय पृष्ठ १७० से (धरणगाँव संस्करण)।

है। इन पर बैठकर जैनसाधु सल्लेखना धारण करते थे। कोप्पल तथा जैनों के अन्य पवित्र स्थानों पर इस प्रकार की वेदिकाएं आज भी सुरक्षित हैं। जो शब्द अप्रसिद्ध होते हैं उनकी व्याख्या की आवश्यकता होती है। जब हम संस्कृत में 'निषद्यका' और 'निषद्या' तथा कनडी में निदिदि और निषीदि रूप देखते हैं तब हमें इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि यह शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से बना है और उसके दो रूप - निषद्या और निषीदिका—अवश्य प्रचलित होने चाहिये। जिनका अर्थ-आसन, बैठने का स्थान, विश्रामस्थल और 'कुछ धार्मिक क्रियाओं के काम में आने वाला स्थान विशेष' आदि होते हैं। आजकल जो निशियां मिलती हैं वे भी किसी न किसी साधु के वासस्थान हैं जहाँ उन्होंने मृत्यु के पूर्व अपने दिन बिताये थे या अन्तिम समाधि धारण की थी। इससे भी हमारी उक्त धारणा की पुष्टि होती है।

किन्तु 'निषिधि' 'निसिधि' 'निसधिग्' और 'निसीधि' इन रूपों में आये हुए 'ध' को कैसे समझाया जाय? इस शब्द के प्राकृत रूप पर ध्यान देने से 'ध' की समस्या सरलता से हल की जा सकती है। प्राकृत में 'निषीदिका' का 'निसीहिया' रूप बनता है। साधारणतया 'ह' 'ध' के तुल्य हो सकता है। यद्यपि 'द' का 'ह' हो जाना स्वाभाविक नहीं है। किन्तु इस प्रकार के उदाहरण पाये जाते हैं जैसे ककुद्=ककुह[1]। जैनग्रन्थों में जैनसाधुओं के जीवनी तथा स्मारकों के वर्णन में 'निसिधि' शब्द का प्राकृत रूप बहुधा पाया जाता है यथा[2], "निसेधिकी—निषीदस्थानम्, आह च जीवाभिगम मूल टीकाकृत-निसेधिकी निषीदस्थानमिति"। कुछ स्थलों पर इसका अर्थ स्वाध्यायशाला भी पाया जाता है। अस्तु, इस शब्द का संस्कृत अनुवाद पूर्ण उपयुक्त नहीं है, शायद टीकाकार भी इसके विषय में संदिग्ध था और इसीलिये अपने से प्राचीन लेखक का उद्धरण देकर वह अपने उत्तरदायित्व से बच जाता है। आधुनिक कनड़ी लेखक मुख्यतया जैन. संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश के लिये सर्वदा प्राकृत-व्याकरण का आश्रय लेते हैं। फलस्वरूप वे प्राकृत 'निसीहिया' रूप के साथ—जो कि उनकी दृष्टि में था—उन्होंने कनड़ी के शिलालेखों में 'ध' को स्थान दे दिया। किन्हीं किन्हीं रूपों में 'ढ' भी पाया जाता है। निषद्या और निषीदिका (प्रा० निसीहिया) इन दो रूपों की गड़बड़ी का ही यह परिणाम है। जैसा कि संस्कृत के 'सुगति' और 'सद्गति' इन दो रूपों की गड़बड़ी से 'सुगई'[3] रूप भी पाया

१ हेमचन्द्र का प्राकृत-व्याकरण १—२२५।

२ राय प्रसेनीयसुत्त, सूत्र नं० २८ में 'निसीहिय' शब्द आया है और उस पर मलयगिरि की टीका में यह वाक्य है—आगमोदयसमिति का संस्करण पृ० ६१।

३ उत्तराध्ययन २८, ३ में सुगई प्रयोग पाया जाता है।

जाता है। जब किसी शब्द का मूल दृष्टि से ओझल हो जाता है तब उसके स्थान में कोई भी अशुद्ध रूप प्रचलित होने लगता है। कनडी का 'निषिग'[१] और संस्कृत 'निसिधि' इसी कोटि के रूप हैं।

खारवेल के शिलालेख की पन्द्रहवीं पंक्ति में 'निसीदिय' शब्द आता है। यथा—'अरहतनिसीदियसमीपे'। यहां यह शब्द स्पष्ट रूप से 'अर्हन्' के अग्निसंस्कार के स्थान पर बनाये गये स्मारक को बतलाता है। इस स्मारक का आकार शायद बहुत कुछ प्रांतीय बनावट के ऊपर निर्भर है। दक्षिण भारत में ऊँचा चौकोर चबूतरा बनाया जाता है। यह बात विचारणीय है कि खारवेल के शिलालेख के 'निसीदिय' को स्तूप समझना उपयुक्त होगा या नहीं? कुछ शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि निषीदिका का बड़ा आदर था और उस स्थान पर पूजा और प्रतिष्ठा[२] भी होती थी।[३]

१ इ० सी० २, न० ६२।

२ इ० सी० २, न० ११७, ११८, १२८ इत्यादि।

३ भण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर पूना की पत्रिका जिल्द १४ भाग ३—४ से पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीद्वारा अनुवादित।



श्रीऋषभदेव भगवान की जीवनी के साधन

(ले०—श्रीयुत मुनि हिमांशुविजय, न्याय-काव्य-तीर्थ)

आधुनिक शैली पर तीर्थंकरों के चरित्र लिखने की आवश्यकता है—सो भी प्रथम तीर्थंकर की अत्यधिक। यहां पर श्वेताम्बर जैन-साहित्य में ऋषभदेव-संबंधी उल्लेखों को उपस्थित किया जाता है।

श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ

श्वेताम्बर ग्रन्थों को मैं दो भाग में विभक्त करता हूँ, एक तो भगवद्भाषित और गणधर-रचित आगम-ग्रन्थ और दूसरा आगम से भिन्न ग्रन्थ जो भिन्न भिन्न आदर्श आचार्यों से लोकहित के लिये लिखा गया है।

आगम-ग्रन्थ

मूल आगमों में किसी तीर्थंकर का चरित (जीवनी) एक ही साथ में एक ही जगह पर प्रायः नहीं आता है। कहीं किसी तीर्थंकर की कुछ बात तो कहीं अन्य तीर्थंकर की बात, और कहीं सब तीर्थंकरों की दीक्षा-सम्बन्धी, आयुष्य-सम्बन्धी, माता-पिता-सम्बन्धी बात, ऐसे भिन्न भिन्न द्वारों में (प्रकरणों में) विकलित (त्रुटित) रीत्या तीर्थंकरों के चरित्र आते हैं, इसी लिये जब तक सभी आगमों का पूरा परिशीलन न किया जाय तब तक पूरा पता नहीं चल सकता है।

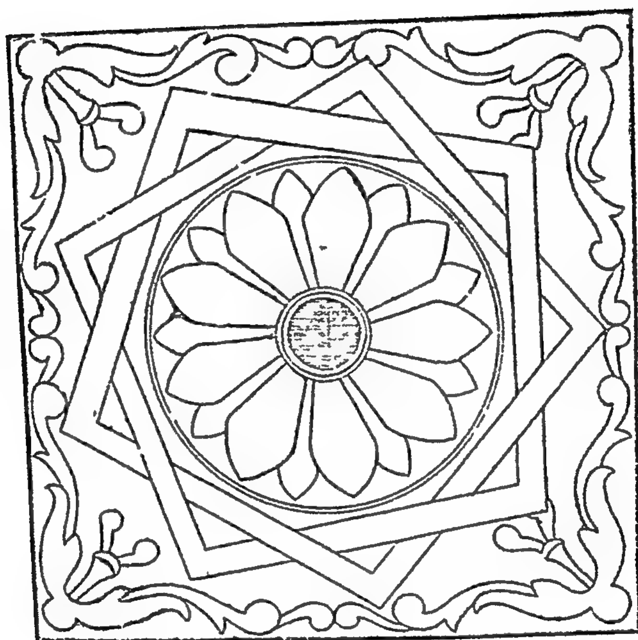
समवायांग

४५ आगमों में समवायाङ्ग चौथा अंग (आगम) है। इसके ऊपर श्रीअभयदेव सूरि का विवरण है। यह श्रीआगमोदय-समिति सूरत से इस्वी सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ है। इस आवृत्ति के अनुसार श्रीऋषभदेव और भरतादि के सम्बन्ध की बातें निम्न सूत्र और पृष्ठों में आती हैं।

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या ※
,, २३	,, ४२
,, २४	,, ४३
,, २५	,, ,,
,, ५३	,, ७१
,, ७७	,, ८५ से ८७ तक
,, ८३	,, ८९
,, ८४	,, ९०
,, ८९	,, ९४
,, १२५	,, १०४ से १०५ तक
,, १२६	
,, १२७	
,, १२८	

※ श्रीआगमोदयसमिति और देवचन्द लाल भाई पुस्तकोद्धार फंड के आगमों के पृष्ठों में एक ही तरफ पृष्ठ संख्या छपी है, इसलिये हमने भी दोनों तरफ की एकही पृष्ठ संख्या लिखी है।

सूत्र १२७ और १२८ की प्राकृत गाथा पहली से ९३ गाथा तक।



मूडबिद्री के चन्द्रनाथ-चैत्यालय के खभों में
खुदी हुई हस्तकला के नमूने

(श्री एस० चन्द्रराज के सौजन्य से)

आवश्यक

(पूर्व भाग)

आवश्यक सूत्र पूर्व भाग श्रीमद्भद्रबाहु स्वामी की निर्युक्ति श्रीमलयगिरि आचार्य के विवरण युक्त श्रीआगमोदय-समिति सूरत से ई० सन् १९२८ में प्रकाशित हुई है। इसकी गाथाओं में कुलकर, नाभिराजा, भगवान् ऋषभदेव, भरतादि के साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी वार्ता आती है। इसी आवृत्ति के अनुसार स्थान पृष्ठादि निम्नरीत्या हैं —

गाथा संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
१४९ से १६६ तक	पृष्ठ १५३ से १५७ तक	कुलकरों का अधिकार विस्तार से।
गाथा १६७ से १८८	,, १५७ ,, १९३ ,,	श्रीऋषभ देव भगवान् के पूर्व भव, सम्यक्त्व प्राप्ति के उपाय, जन्माभिषेक और इक्ष्वाकु-कुल की उत्पत्ति इत्यादि का विस्तार से वर्णन।
,, १८८ ,, २११ ,,	,, १९३ ,, २०१ ,,	भगवान् की बाल्यावस्था, युवावस्था, विवाह, राज्य व्यवस्था, समाजव्यवस्था, शिल्प, कर्म, कला, शिक्षा और साधु साध्वी आदि की संख्या।
,, २११ ,, ३४१ ,,	,, २१४ ,, २३२ ,,	भरत बाहुबलि प्रभृति पुत्रों का राज्य भाग देना, दान, दीक्षा, तापस प्रथा का प्रारंभ, नमि और विनमि की सेवा, एक वर्ष तक निर्जलाहार, तप, श्रेयांस के हाथ से पारणा, केवल ज्ञान, भरत का चक्र की प्राप्ति होना तथा भगवान् की वचनोत्पत्ति, भरत बाहुबलि का युद्ध, बाहुबलि को केवलज्ञानादि।
,, ३४० ,, ३५१ ,,	,, २३३ ,, २४७ ,,	मरीचि के त्रिदण्डि वेष आचार का वर्णन, सांख्य मत की उसके कपिलशिष्य से उत्पत्ति, ब्राह्मण शब्द की उत्पत्ति, प्राचीन वेदों की उत्पत्ति, भगवान का निर्वाणो त्सवादि भरत राजा को आदर्श गृह में केवलज्ञानादि।

स्थानाङ्ग (दूसरा भाग)

यह तीसरा अङ्ग है। इसके ऊपर श्रीअभयदेव सूरि की टीका आगमोदय समिति सूरत से ई० सन् १९२० में प्रकाशित हुई है। इसमें कहीं कहीं कुलकर, श्रीऋषभदेवादि के विषय में कुछ कुछ उल्लेख मिलता है।

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
सूत्र ५१५ से ५१७ तक	पृष्ठ ४१३	विमल वाहन का शरीर प्रमाण, श्रीऋषभदेव का तीर्थ प्रवर्तन समयादि।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति

(प्रथम भाग)

इस आगम में जम्बूद्वीप के वर्णन के अनन्तर भरतक्षेत्र का वर्णन करते हुए कुलकरों से लेकर भरत चक्रवर्ती के मोक्ष तक का वृत्तान्त विस्तार से लिखा है। इसके ऊपर श्रीशान्तिचन्द्र की विस्तृत और सुन्दर टीका है। मूल सूत्र के वृत्तान्त को टीका में बहुत विस्तृत किया है। यह प्रथम भाग देवचंद लाल भाई पुस्तकोद्धार-फंड सूरत से सन् १९२० में प्रकाशित हुआ है। इस प्रथम भाग में भिन्न सूत्र और पृष्ठों में निम्नलिखित वृत्तान्त आता है।

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
सूत्र २८ से २९ तक	पृष्ठ १३२ से १३४ तक	सुमति आदि कुलकरों के नाम हकारादि नीति आदि।
,, ३० से ३३ तक	,, १३५ से १६४ ,,	भगवान् ऋषभदेवजी का जन्म, समाज, राज्यव्यवस्था, चार हजार क्षत्रियों के साथ दीक्षा-ग्रहण का वर्णन, भगवान् की मुनिचर्या का वर्णन, उनके गणधर-साधु आदि की संख्या, भगवान् का संहनन, कुमारावस्था आदि का काल, निर्वाण, इन्द्रादि-द्वारा निर्वाणोत्सव, और तीसरे आरे की पूर्ति।
,, ३४ से ४० तक	,, १६४ से १७८ ,,	चौथे, पाँचवे, छठे आरे का वृत्तान्त।
,, ४१ से ७१ तक	,, १७८ से २८१ ,,	भारतवर्ष का वर्णन, भरत नाम पड़ने का कारण, विनीता का वर्णन, भरत के राज्य का वर्णन, चक्र की प्राप्ति और पूजोत्सव, षट्-खण्ड की साधना का विस्तार से वर्णन, आपात किरातों के साथ युद्ध, अश्वरत्नादि १४ रत्नों की प्राप्ति, ऋषभकूट में अपना नाम लिखना, नमि-विनमि की साधना, पश्चिम दिशा की साधना, भरत चक्रवर्ती का विनीता में प्रवेश, भरत के चक्रवर्तित्व का अभिषेक, भरत चक्रवर्ती की राज्य-समृद्धि का वर्णन, भरत का केवलज्ञान, मुनि-वेष का ग्रहण और मोक्ष।

कल्पसूत्र

इस ग्रंथ की प्रसिद्धि श्वेताम्बर जैनों में और ग्रंथों की अपेक्षा से बहुत ज्यादा है; इसका कारण यह है कि प्रत्येक पर्युषणों महापर्व के समय इस ग्रंथ को मुनिराज आद्यन्त बाँचते हैं और श्रावक-श्राविकायें सुनती हैं। इस ग्रंथ को नौ भागों में विभक्त करके नौ व्याख्यानों में पूरा करने की प्रणाली है

इसके बनानेवाले ऊर्ध्वरेता (महात्मा) महाज्ञानी चतुर्दश पूर्वधारी श्रीभद्रबाहु स्वामी हैं। इन्होंने* नवमें पूर्व में से उद्धार करके दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय के रूप में इस कल्पसूत्र को बनाया है। इसके अन्दर परमात्मा महावीर का आदर्श जीवन चरित्र विस्तार से आता है। इसके सिवाय श्रीपार्श्वनाथ आदि का भी जीवनचरित्र संक्षेप से आता है "तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहाकोसलिए चउउत्तरासाढे अभीइ पंचमे होत्था" ॥ सूत्र २०४ पृष्ठ २२६ से सूत्र २२८ पृष्ठ २४५ तक भगवान् श्रीऋषभदेव का जीवन-चरित्र इसमें आता है। श्रीविनय विजयोपाध्याय जी की रचित सुबोधिका टीका† के साथ यह कल्प सूत्र श्रीआत्मानन्द सभा भावनगर से सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका में भी भगवान् श्रीऋषभदेव का जीवन चरित्र विस्तार से और सुन्दररीत्या आता है। नीचे लिखे हुए सूत्रों में और पृष्ठों में नीचे लिखा हुआ वृत्तान्त आता है —

सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या	विषय
सूत्र २०४ से २०९ तक	पृष्ठ २२६ से २३१ तक	श्रीऋषभदेव भगवान का च्यवन (गर्भ में आना), जन्मोत्सव।
„ २१०	„ २३१ से २३२ „	भगवान् के ऋषभादि पाँच नाम।
„ २११ से २१२ „	„ २३२ से २४० „	कुमारावस्था, पुरुषों को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाओं का उपदेश, राज्याभिषेक, दीक्षोत्सव, भगवान् की चर्या, केवलज्ञान।
„ २१३ से २२८ „	„ २४० से २४५ „	भगवान् के गणधर साधु श्रावक श्राविकादि की संख्या, कुमारावास, राज्यपरिभागादि के काल की संख्या, मोक्ष, युगान्तभूम्यादि, श्रीऋषभदेव और श्रीमहावीर के तथा आगम लेखन काल व काल के अन्तर की संख्या।

श्रीआवश्यक सूत्र का भाष्य (प्रथम भाग)

यह भाष्य श्रीभद्रबाहु स्वामी के पहले का होना चाहिये, पहले लिखी हुई आवश्यक निर्युक्ति से यह भिन्न है। श्रीआगमोदय समिति सूरत द्वारा यह ई० सन् १९१६ में प्रकाशित हुआ है। यह भाष्य निर्युक्ति और श्रीहरिभद्रसूरी की टीका के साथ छपा है। इनके अन्दर श्रीमहावीर स्वामी के तीसरे भव का वर्णन करते हुए "चइऊण देव लोगा इहचेव य भारहमी वासमी इक्खागकुले जाओ उसभसुअस्स ओमरीइत्ती" ॥ गाथा १४८ पृष्ठ १०६ से लेकर 'सेसायं उम्मुअयणं संवेगो नाण दीक्खाय ॥" गाथा ४३६ पृष्ठ १६६ तक विस्तार से श्रीऋषभदेव का चरित्र आता है।

* सय चतुर्दशपूर्वविद् गणधान श्रीभद्रबाहु स्वामी दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टमाध्ययनतया प्रत्याख्यानप्रवादाभिधाननवमपूर्वादुद्धृत्य कल्पसूत्रं रचितवान् ॥ सुबोधिका टीका पृष्ट ८

† इसके ऊपर करीब ३० टीकायें संस्कृत में बनी हैं। और डॉ० याकोबी, तथा शुब्रिंग, आदि विद्वानों ने इसका अङ्ग्रेज़ी तथा जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद भी किया है।

इसके अलावा भगवती आदि सूत्र और उन पर भिन्न भिन्न भाष्य टीकाओं में श्रीऋषभदेव का चरित्र आता होगा परन्तु अपनी आँखों से देखे बिना नियत स्थानादि मैं कैसे लिख सकता हूं।

आगमों से भिन्न ग्रन्थ

आगमों से भिन्न ग्रन्थों के मैं पांच भाग करता हूं, जिनमें भगवान् श्रीऋषभदेव के नामादि का उल्लेख आता है।

१ किसी विषय के ग्रन्थ में मंगलाचरण के तौर पर श्रीऋषभदेव का नाम तथा स्तुति हो। जैसे श्रीहेमचन्द्राचार्य के मुख्य शिष्य महान् नाट्यशास्त्रज्ञ श्रीरामचन्द्र-रचित 'सत्यहरिश्चचन्द्र नाटक' परम श्रावक वाग्भट्टकृत 'वाग्भटालंकार' 'विजयप्रशस्त्यादि'।

२ जो ऋषभदेव-विषयक स्तोत्र स्तुति तथा महात्म्य वाले हों जैसे :— मानतुंग सूरिकृत 'भक्तामर'; महाकवि धनपाल की 'ऋषभपंचाशिका' इत्यादि।

३ जो आगम शैली के ग्रन्थ या टीकायें हों, जैसे 'प्रवचनसारोद्धार', कल्पसूत्रादि की सभी टीकाएँ विशेषावश्यभाष्य आदि।

४ जो रस और अतिशयोक्ति उपमा प्रभृति अलंकारादि काव्य गुणों से भरी हुई वर्णनशैली के काव्य हों, जैसे 'जैनकुमारसम्भव नाभेयद्विसन्धान आदि।

५ जो ग्रन्थ ऋषभदेव-विषयक छोटी से लेकर बड़ी ऐतिहासिक बातों को रसमयी भाषा में प्रकट करने वाले हों। जैसे त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र आदि।

इन पाँच प्रकार के ग्रन्थो में से भगवान् की जीवनी लिखने के लिये आखीर के तीन प्रकार के ग्रन्थ ही विशेष उपयुक्त हो सकते हैं, इसी लिये इनके विषय में कुछ परिचय देना उचित होगा। इन ग्रन्थों की पृष्ठ विषयादि की सूची लेख की काया दीर्घ हो जाने के भय से मैं नहीं दूंगा।

प्रवचनसारोद्धार

प्रवचन यानी आगम उनका सार, यह ग्रन्थ आगम नहीं है परन्तु भिन्न भिन्न आगमों में आने वाले भिन्न भिन्न द्वारों (विषयों) का इस ग्रन्थ में प्राकृत भाषा में संग्रह किया है। बारमी शताब्दी के श्रीनेमिचन्द्रसूरि ने इस ग्रन्थ को लिखा है। इसके ऊपर प्रौढ विद्वान् श्री सिद्धसेनसूरि ने संस्कृत में विस्तृत टीका लिखी है। प्रस्तुत टीकायुक्त यह ग्रन्थ श्रीयुत देवचंदलाल भाई जैन पुस्तकोद्धार-फंड सूरत से ई० सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ है। इसमें चैत्यवन्दनादि २७६ द्वार (विषय-प्रकरण) हैं; जिसमें द्वार पृष्ठ नं० ८२ से लेकर सब तीर्थंकरों के आदि गणधर, आदि साध्वी वगैरों के नाम विषय (द्वार) नं० ३६ पृष्ठ नं० १०० तक आते हैं।

जैनकुमार-सम्भव

इस ग्रन्थ के कर्ता महाकवि श्री जयशेखर सूरि हैं। इस ग्रन्थ का नाम देने में कालिदास का अनुकरण है और कुमारसम्भव की तरह इसकी रचना भी कोमल एवं प्रौढ़ है, परन्तु शृङ्गार बहुल वर्णन इसमें नहीं है। यह ग्रन्थ महाकाव्य की शैली का होने से रघुवंशादि की तरह, यमक, उदात्त, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि आलंकारिक श्लोकों से भरा हुआ है। इसमें अयोध्या के तथा ऋषभदेव भगवान् के जन्म आदि का काव्यदृष्टि से वर्णन किया है। श्रावक भीमसिंह माणेक बम्बई वाले ने इसको गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित किया है। इसका आदिम श्लोक यह है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि कोशलेति, पुरी परीता परमर्धिलोकैः।
निवेशयामास पुरः प्रियायाः, स्वस्या वयस्यामिव या धनेशः ॥१॥

अलंकार

सपत्नकामा नयनाभिरामा, सदैव जीवत्प्रसवा प्रजामा।
यत्रोज्झितान्यप्रमदावलोका अदृष्टशोका न्यविशत लोका ॥२॥ (जैनकुमार सम्भव)

त्रिषष्ठिशलाका-पुरुषचरित

बारमी शताब्दी के सब विद्या विशारद श्रीहेमचन्द्रसूरि ने कालिदास जैसी अपनी प्रासादिक प्रौढ़ कविता में त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष चरित्र को पद्यबद्ध बनाया है। इसमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेव इन ६३ शलाका (उत्तम) पुरुषों के विस्तार से पूरे चरित्र हैं। अतएव इसका यथागुण नाम है, इस ग्रन्थ में सारा जैन इतिहास तथा तत्त्वज्ञान आ जाता है। यह ग्रन्थ करीब ३६००० श्लोक का है। इसके दश पर्व (भाग) बाद हैं। प्रथम पर्व में परमात्मा श्रीऋषभदेव तथा भरत चक्रवर्ती आदि की जीवनी विस्तार से करीब ५००० हजार श्लोकों में लिखी है। प्रथम पर्व के ६ सर्ग हैं। पहिले सर्ग में भगवान् के १२ पूर्व भवों का वर्णन, दूसरे में कुलकरों का वृत्तान्त, जन्मोत्सवादि सामर में दीक्षामहोत्सव केवलज्ञान, तीर्थप्रवर्तनादि का वर्णन, चौथे सर्ग में भरत चक्रवर्ती का दिग्विजय, भगवान् के ९८ पुत्रों की दीक्षा आदि का वर्णन, पाँचवें में भरत बाहुबलि के युद्ध का वर्णन और छट्ठे सर्ग में कैवल्यावस्था में भगवान् का विहार, अष्टापद ऊपर निर्वाणोत्सव, भरत का केवलज्ञान आदि का वर्णन आता है। यह मूल ग्रन्थ श्रीजैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से पूरा प्रकट हुआ है। इसके प्रथम सर्ग का इंग्लीश अनुवाद डा० प्रो० बनारसीदास जैन एम० ए०, ने किया है जो Jain Itihas के नाम से मोतीलाल बनारसीदास ने अपने The Punjab sanskrit depot Lahore से सन् १९२५ में प्रकट किया है। इसके परिशिष्ट पर्व का इंग्लीश और जर्मन अनुवाद छप चुका है और डा० मिस् जोन्सन (अमेरिकन विदुषी)

ने इसका इंग्लीश अनुवाद शुरू से करने का काम उठाया है, इसी लिये शिवपुरी में करीब ६ महीने रह कर इसने मुनिराजों के पास एतद्विषयक अभ्यास किया था। सारे ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद दो जगह से हुआ है—कुछ भाग का हिन्दी अनुवाद भी हुआ है। वर्तमान में उपलब्ध ऋषभचरित्रों की अपेक्षा इसमें विस्तार से चरित्र लिखा है। तुलनात्मक दृष्टि से श्रीजिनसेनाचार्य का महापुराण इसकी पद्धति का ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके अलावा भगवान् के चरित्र-विषयक हस्तलिखित ग्रन्थों के नाम और स्थान नीचे लिखे जाते हैं।

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता	प्राप्तिस्थान
नाभेय नेमि द्विसन्धान-काव्य	श्रीहेमचन्द्राचार्य	पाटण प्राचीन भंडार नं० १, झवेरीवाडा, पाटण
नाभिनन्दनोद्धार-प्रबन्ध	......	डेलाका भंडार अहमदाबाद
ऋषभोल्लास-काव्य	......	डेला का भंडार अहमदाबाद
भरतबाहुबलि-काव्य	......	श्रीविजयधर्म लक्ष्मी ज्ञान-मंदिर आगरा
बाहुबलिचरित्र	......	जैसलमेर (मारवाड़)
भरतचरित्र (प्राकृत)	......	डेक्कन कोलेज पूना
श्री[1] आदिनाथ-चरित्र (प्राकृत)	श्रीवर्द्धमान सूरि	

जैनेतर ग्रन्थ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, महाभारत, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, शिक्षात्रयी, न्यायबिन्दु प्रभृति में भगवान् श्री ऋषभदेव के सम्बन्ध में स्तुति अथवा नामोल्लेख आता है। भागवत में तो मैंने सब से ज्यादा देखा। पाँच वें स्कन्ध में अध्याय तीसरे (३) से लेकर नवमें (९) अध्याय तक श्रीऋषभदेव का तथा भरतका चरित्र है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत श्वेताम्बर[2] जैन और जैनेतर ग्रन्थों में भगवान् के सम्बन्ध में बहुत कुछ आता होगा। एतद्विषयक विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि वे लोग अपने ज्ञान का लाभ जनता को दें। जो विद्वान् वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण व अन्य प्राचीन साहित्य का अध्ययन व अवलोकन करें, उन्हें उक्त प्रकार के उल्लेख नोट कर के प्रकाशित कर देना चाहिये।

नोट—१ बृहट्टिप्पनिका नामक प्राचीन प्रामाणिक सूची में इस ग्रन्थ का नाम है, जो जैन साहित्य-संशोधक भाग १ के दुसरे अंक मे छपी है। २ यद्यपि मैं श्वेताम्बर दिगंबरादि भेदकारी नाम लिखना पसन्द नहीं करता हू किन्तु प्रस्तुत लेख श्वेताम्बर ग्रन्थों के विषय में लिखा होने से यहां पर बारबार यह शब्द मजबूरन लिखना ही पड़ता है।



सिलार रट्टराज का नया शिलालेख और जैनधर्म

(ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

जैनधर्म क्षत्रियों का धर्म है। उसका प्रतिपादन और विकास क्षत्रिया द्वारा हुआ है। क्षत्रिय वंश के बड़े बड़े राजा और महाराजाओं ने उसकी शांतिकारिणी शरण में रह कर अपने नाम को अमर किया है। ऐतिहासिक काल के प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, ऐलखारवेल, अमोघवर्ष, कुमारपाल आदि भारतीय राजा जैनधर्मानुयायी थे और वे आज अपनी किसी न किसी विशेषता के कारण भारतीय इतिहास में अनुपम हैं। दसवीं शताब्दी में दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार दक्षिण भारत में अच्छे पैमाने पर था। दक्षिण भारत में तब राष्ट्रकूट वंश के राजाओं की प्रधानता थी और उनको जैनधर्म से प्रेम था। दिगम्बर जैन मुनिजन राज्याश्रय को पाकर निश्चिंतता पूर्वक अहिंसामय धर्म का प्रचार तब कर रहे थे। किन्तु जैनधर्म का यह अभ्युदय पड़ोस के शैव लोगों को अखर गया और पारस्परिक ईर्ष्या कलह का युद्ध छिड़ गया। ऐसे ही समय में एक सिलार वंश के राजा, जैनधर्म भुक्त हुए थे। यह पहले शैव थे। इतिहास भी कल तक उन्हें शैव मान रहा था। किन्तु उनके नवीन लेखों के प्रकाश में आने से इस धर्मपरिवर्तन का पता चल गया है यह राजा बलिपट्टन के रट्टराज थे।

सिलार रट्टराज के तीन ताम्रपत्र मिले हैं, जिनमें से एक पर दोनों ओर लेख अङ्कित है। ये ताम्रपत्र कहाँ से मिले, इसका पता नहीं चलता। हाँ, यह स्व० प्रो० एस० आर० भाण्डारकर के पास थे और अब उनके भाई प्रो० डी० आर० भाण्डारकर ने उनको श्रीयुत हारणचन्द्र चकलादार को दे दिया है। चकलादार महाशय ने उनको पढ़ लिया है और उनका परिचय एक लेख द्वारा कराया है। यह लेख कलकत्ते के 'इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली' नामक पत्र में (भाग ४ पृ० २०३—२२०) प्रकट हुआ है। उसी का सारांश धन्यवादपूर्वक पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ उपस्थित किया जाता है।

उपलब्ध लेख में सिलार महामण्डलीक रट्टराज के भूमिदान का उल्लेख है। यह राजा दक्षिण कोङ्कण देश के सिलारवंश से सम्बन्धित था। इसका एक पूर्व लेख खारेपाटन से पहले मिला था, जिसे प्रो० कीलहॉर्न ने 'इपीग्रेफिया इण्डिका (भा० ३ पृष्ठ २९२) में प्रकट किया था। वह शक संवत् ९३० का है और प्रस्तुत लेख, अर्थात् जो प्रो० भाण्डारकर को मिला था अथवा जिसका उल्लेख यहाँ हो रहा है, उस पर शक सं० ९३२

अङ्कित है। इसलिये दोनों लेखों में केवल दो वर्ष का अन्तर है। दोनों लेखों के लेखक भी लोकपार्य नामक सज्जन हैं। वह सन्धिविग्रहिक-मंत्री देवपालके पुत्र थे। दोनों में सादृश्य भी खूब है, परन्तु विलक्षणता भी कुछ कम नहीं है।

प्रस्तुत लेख का आरम्भ 'स्वस्ति' शब्द से होता है और मंगलाचरण के बाद ४—२२ पंक्तियों में रट्टराज के वंश का परिचय है, जो खारेपाटन के लेख के समान है। उससे इसमें कोई खास विशेषता है तो वह स्वयं रट्टराज के सम्बन्ध में है। इन दो वर्षों के अन्तर में उसके धर्मपरिवर्तन के साथ साथ राज्योत्कर्ष भी हो गया था। प्रस्तुत लेख के मंगलाचरण में एक उदारभाव स्पष्ट है। इसमें किसी खास देवता का स्तवन नहीं किया गया है। इसके प्रतिकूल खारेपाटन के लेख में स्पष्टतः 'ॐ नमः शिवाय' लिखा है। इस लेख में ब्राह्मणों का उल्लेख सामान्यरूप से किया गया है—गोत्र आदि लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। यद्यपि दान ब्राह्मणों के प्रति किया गया है, परन्तु किसी धार्मिक कार्य के लिये नहीं। इन सब बातों से रट्टराज के धार्मिक श्रद्धान में पड़ा हुआ अन्तर स्पष्ट है। मालूम होता है कि उसका विश्वास जैनधर्म के प्रति हो गया था, क्योंकि लेख का प्रारंभ 'स्वस्ति' शब्द से किया गया है, जैसे कि जैन लेखों में अक्सर होता है। इतने पर भी यद्यपि रट्टराज का अनुराग जैनमत की ओर हो गया था, परन्तु वह अपनी बहुसंख्यक ब्राह्मण-धर्मानुयायी प्रजा का दिल नहीं दुखाना चाहता था। इसीलिये उसने मंगलाचरण में किसी खास देवता का स्मरण नहीं किया है।*

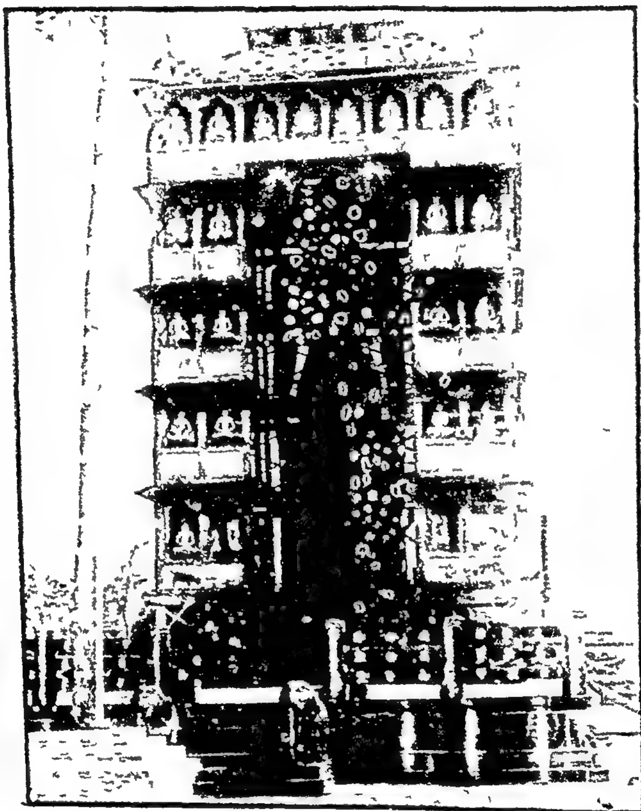
रट्टराज के समय में दक्षिण भारत में जैनमुनियों द्वारा धर्मप्रचार खूब हो रहा था। राष्ट्रकूट वंश के राज्यकाल में जैनधर्म का सूर्य मध्याह्न में था। और सिलारवंश के राजा राष्ट्रकूटों के करद थे। जैनाचार्य श्रीसमन्तभद्र जी ने सिलारवंशी की एक दूसरी शाखा की राजधानी करहाड़ (Karhad) में पहुंच कर वहां के राजा को सम्बोधन किया था। इस आशय के दो श्लोक श्रवणबेलोल की मल्लिषेण-प्रशस्ति में अङ्कित हैं।† राष्ट्रकूटों में

---

* लेख में श्लोक के प्रारंभिक शब्द स्पष्ट प्रकट नहीं होते और वर्तमान रूप में जैसे वे पढ़े गये हैं, उनसे उनकी व्याकरण की असम्बद्धता प्रकट है। सम्भव है, कि यहां वीतरागदेव का स्पष्ट उल्लेख हुआ हो।—अनु०

† इपी० इन्डिका, ३ पृष्ठ १८६ :—

'पूर्व्वं पाटलिपुत्र—मध्यनगरे भेरी मया ताड़िता,
पश्चान्मालव—सिन्धु—ठक्क—विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं।
वादार्थी विचराम्यहन्नरपते शार्द्दूल-विक्रीड़ितं ॥७॥ इत्यादि।



कारकल के गोम्मटेश्वर
(दक्षिण भारतीय कला)

सम्राट् अमोघवर्ष जैनधर्म के एक महान् संरक्षक थे। उनका लगभग सन् ८१४—८७८ तक चौंसठ वर्ष का विस्तृत राज्यकाल था और इस बड़े राज्यकाल में जैनधर्म का चारों ओर खासा प्रचार हुआ था। राष्ट्रकूटों के पश्चात् चालुक्यों का अभ्युदय हुआ। रट्टराज का सम्बन्ध इनसे भी था। चालुक्य अभ्युदय के प्रारंभिक काल में जैनधर्म का उत्कर्ष अक्षुण्ण बना रहा। (बम्बई गेजेटियर भाग १ खण्ड २ पृष्ठ २०८) किन्तु पूर्वोक्त ताम्रलेख के लिखे जाने के समय दक्षिण भारत के जैनों और शैवों में पारस्परिक स्पर्द्धा खूब चल निकली थी। चालुक्य जयसिंह द्वितीय सन् १०१८ में राज्याधिकारी हुए थे और यह पहले जैन थे। किन्तु अपनी पत्नी सुग्गलदेवी के प्रयत्न से यह शैव धर्मानुयायी हो गए थे। इतने पर भी कोल्हापुर में राज्य करनेवाले सिलारवंश की शाखा के राजाओं में जैनधर्म का विशेष प्रभाव कार्यकारी था।‡ सर्वोपरि जिस दक्षिणी मराठा प्रदेश में रट्टराज का राज्य था, वहां आजतक जैनधर्म का खूब प्रचार है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि रट्टराज का जैनत्व उसके प्रस्तुत ताम्रलेख से स्पष्ट है, क्योंकि उसमें बिना किसी 'प्रणाम' के केवल 'स्वस्ति' शब्द से ही—एक जैन ढंग पर उसका प्रारंभ हुआ है। जैन लेखों के प्रारम्भ में 'श्री' शब्द भी मिलता है, जैसे कि विजयादित्य के कोल्हापुर वाले लेख में है। (एपी० इण्डिका, भाग ३, पृष्ठ २०६) तिसपर यह भी संभव है कि जिन पाँच बड़े मठों के प्रति रट्टराज ने सम्बोधन किया है, उनमें से कोई जैन हो। (पञ्चमहामठ§ स्थान नगर हञ्जमान प्रधानामात्यवर्ग समन्वित।—पंक्ति३५) अतः उपर्युक्त बातों का लिहाज रखते हुए रट्टराज को उपर्युक्त ताम्रलेख लिखाते समय जैनधर्मानुयायी हुआ, मानना अनुचित नहीं है।

रट्टराज के धर्मपरिवर्तन के साथ साथ उसके राज्याधिकार में भी अन्तर पड़ा था। खारेपाटन के अपने लेख में उसने राष्ट्रकूटवंशी राजाओं को मान्यता दी है, परन्तु उपरान्त में उनका स्थान चालुक्य तैलप को मिल गया है। चालुक्य तैलप ने राष्ट्रकूटों को परास्त कर दिया था। तैलप के बाद उसका पुत्र सत्याश्रय राजा हुआ था और रट्टराज ने अपने को उसका करद लिखा है। (परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री सत्याश्रयदेवानुध्यात मण्डलीकश्रीरट्टराज) किन्तु प्रस्तुत लेख में किसी के राज्याश्रय स्वीकार करने का उल्लेख नहीं है। रट्टराज का स्वयं अपना राज्य हो गया था और उसी राज्य के अन्तर्गत यह लेख लिखा गया था। (श्री रट्टार्यराजराज्य) इससे स्पष्ट है कि रट्टराज ने चालुक्यों

‡ जर्नल ऑफ बम्बई ब्रांच ऑफ दी रायल एशियाटिक सो० भा० १३ पृष्ठ १० व इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ११ पृ० १०२।

§ दक्षिण महाराष्ट्र देश में जैनों के पाँच मठों का अस्तित्व मिलता है।

को गुलामी का पट्टा उतार कर फेंक दिया था और वह एक स्वाधीन शासक बन बैठा था? पश्चिमी चालुक्यों का तत्कालीन (शक सं० ६३०-६३२) इतिहास उसके संपूर्ण इस साहसी कर्म का रहस्य उघाड़ देता है। उससे प्रकट है कि सन् ६३० में राजराज केशरीवर्मन् ने सत्याश्रय को परास्त कर दिया था। किन्तु इतने पर ही इस युद्ध का अन्त न हो गया। पराजित सत्याश्रय पर राजकेशरीवर्मन् के उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोलदेव ने भी धावा बोल दिया। इस लड़ाई में उसने सत्याश्रय के राज्य को तबाह कर दिया था। बच्चों, अबलाओं और ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतारा था। इतने पर भी सत्याश्रय ने चोलों को सन् १००७ (शक सं० ६३०) में रणक्षेत्र से भगा मारा था। इस प्रकार यद्यपि सत्याश्रय ने अपने देश को शत्रुओं से रहित कर दिया था, परन्तु वह अधिक समय तक न जिया जो अपने राज्य की नींव सुदृढ़ कर पाता। और उसके उत्तराधिकारी भी अयोग्य निकले। इस परिस्थिति से रट्टराज ने लाभ उठाया और वह स्वाधीन शासक बन गया। स्वाधीनता भला किसे प्रिय नहीं है? अब वह 'महामण्डलीक' कहलाने लगा था; उनका सन्धिविग्रहिक मंत्री देवपाल अब 'महाश्री' की उपाधि से विभूषित हो गया था। अतः रट्टराज का राज्याभ्युदय भी स्पष्ट है।

रट्टराज की राजधानी बलिपट्टन नामक महादुर्ग था, जिसकी स्थापना उसके पूर्वज धम्मियर ने की थी। वह समुद्रतट पर कहीं थी। उपरान्त इस पर उत्तरकोङ्कण के सिलार बंशी राजाओं का अधिकार हो गया था। प्रस्तुत लेख का पूर्वांश इस प्रकार है :—

१ "स्वस्ति (॥) श्रीर्=अपि विपुल=आताड्=अभिम—
२ त—देवता—प्रसादेन। संसार—सा—
३ र—धर्म्म—क्रियावतां प्राणिनां स—
४ ततम्॥ आसीद्=विद्याधर=आधीसो
५ गरुत्मद्=दत्तजीवितः (।) जीमूतकेतोः स—
६ त्पुत्रो नाम्ना जीमूतवाहनः॥ ततः
७ सिलार—बंशो=भूत् सिंहल—क्ष्माभृतां वरः
८ –। प्रभूत—भूत—सौभाग्य-भाग्यवांस्=तत्र च=ओ—
९ र्ज्जितः॥ नाम्ना सणफुल्लः ख्यातः कृ—
१० –ष्णराज—प्रसादवान्। समुद्र—तीर—सह्या—
११ –द्देश—संसाधको नृपः॥ तत्सुतो धर्म्म—
१२ –व=आभून्=नाम्ना धम्मियरः परः॥ प्रता—
१३ –पवान्=महादुर्ग्गं—बलिपट्टन कृत् कृती
१४ । तस्माद्=ऐयपराजो=भूद्=विजिगीषु—
१५ –र्=गुणान्वितः। स्नातर=चन्द्रपुर—आसन्न—ना—

१६ -ल्लिरेराम्मुना स थ ॥ बाभूव=ग्राज (स) रस=त—
१७ -स्मात्=नीति—शास्त्रार्थ—सत्त्ववित् । चक—ने—
१८ -त्र—प्रत्यारि—काण्डग्=चण्ड—पराक्रम ॥
१९ आदित्यवर्मा पुत्रो=भूत=तेजसा=आदित्यर—
२० -त्=तत । तस्मात्=अवसर—आर्यो भू=(ज) जितारि—
२१ -र्=धर्मवान=नृप ॥ नेमुल्य—च न्द्रपुर—ज—
२२ क्षमा—भूत्—साहाय्य—कारकान् । ततो=भू—
२३ -द्=इन्द्र (रा) (ज) स=त्याग=भोगवान=अतिसुन्दर ॥

दूसरे ताम्रपत्र पर —

२४ (त) स्मात्=प्रभूतभाग्यो=भूद्=भी (मो) भी
२५ माम—विक्रम । तस्मा राह (य)
२६ व्=प्रस्त—चन्द्रमण्डल—उज्ज्वल =॥ त—
२७ -तश्=च्=आवसरो राजा जातो=तीव (य)
२८ विवेकवान् । आग आग पट्ट
२९ सु (शू) रो धीर परम्पवान् । रट्ट—
३० -नाम्=आभवत्=तस्माद्=राना पुण्यवता य—
३१ -र । नीतिगो नीतिशास्त्र=आ ग—यृद—
३२ -सेवी नितेन्द्रिय ॥ तस्य महामण्ड—
३३ -लीक -श्री—रट्टाय—राज—राज्ये । चन्द्रा=
३४ -धर्क—प्रवर्त्तमाने पूज्ये श्री वलिपट्ट—
३५ ने ॥ पञ्चमहामहस्थान नगर [illegible] —
३६ -क्षमात—प्रधानामात्य—पगा सवि—
३७ -दित (त) ॥ शक नृप—काल—अतीत—स—
३८ -प सर नरानपु, आश्वि—द्=अधि—
३९ -क श=अङ्को=पि ९३२ साधारण—स—
४० (म्ब) त्सर=आगत—पुष्य—बहुल—प्रति—
४१ -पदि रवि—वार उत्तरायण—स्क्रा—
४२ -न्तौ समस्त—दान=आदना—समलङ्कृ—
४३ त (त) श्रा रट्टराजेन स्य हस्तेन हस्त—ओ—
४४ दक पूर्वा मा (श्रा) हार—मैनाग्र—नाम—
४५ -मैय—ग्रुत—सद्मयस्य कन्या—
४६ भत—ग्रामात्=वेद्रगानेत्र—इत्यादि ”

देवचन्द्रकृत राजावली कथा की विषय-सूची



यह 'राजावली कथा' एक ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है। बल्कि कई ऐतिहासिक विद्वानों ने इसके प्रमाणभूत उद्धरणों से अपनी कृति को समलङ्कृत किया है। पर है यह कन्नड़ भाषा में। अतः हिन्दी भाषा-भाषी इतिहासवेत्ताओं की कुछ जानकारी के लिये यहाँ इस ग्रन्थ के अन्तर्गत विषयों की सूची मात्र दिये देता हूँ। अवकाशानुसार इस ग्रन्थ के अन्तर्गत बातों पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

—के० बी० शास्त्री

प्रथम प्रकरण

(१ से ८ पृष्ठ तक)

१ मङ्गलाचरण।

२ पाठक विद्वानों से इसकी स्वीकृति की प्रार्थना एवं त्रुटियों को सुधारने के लिये अनुरोध।

३ 'राजावली कथा' के नाम की सार्थकता का स्पष्टीकरण।

४ लोकस्वरूप।

५ कालव्यवस्था।

६ मनुओं का विषय, आदि ब्रह्म (ऋषभ तीर्थङ्कर) की उत्पत्ति, सृष्टि-विषय।

७ वर्णाश्रम-धर्म-विवरण।

८ राजवंशोत्पत्ति।

९ भरतचक्रवर्त्ती का दिग्विजय, बाहुबलि-युद्ध एवं दीक्षा-ग्रहण।

१० मरीचिदीक्षा, कपिल-सिद्धान्त की उत्पत्ति।

११ अक्षय-तृतीया इस नामकरण का हेतु।

१२ श्रावणी कर्म का आदि कारण।

१३ शिवरात्रि शब्द की चरितार्थता।

द्वितीय प्रकरण

(७ से १२ पृष्ठ तक)

तृतीय प्रकरण

(१३ से १८ पृष्ठ तक)

चतुर्थ प्रकरण

(१८ से २० पृष्ठ तक)

५ गौतम स्वामी की कथा।

६ चेलिनी महादेवी का श्रेणिक से सम्बन्ध।

पंचम प्रकरण

(३० से ४७ पृष्ठ तक)

१ सत्यन्धर की कथा।

२ जीवन्धर की कथा।

३ पुनः श्रेणिक-चर्चा।

षष्ठ प्रकरण

(४७ से ७० पृष्ठ तक)

१ श्रेणिक का धर्मश्रवण।

२ दीपावली का कारण।

३ पार्श्वभट्टारक एवं शाक्य मुनि की कथा।

४ भद्रबाहु-कथा।

५ नन्दवंश की उत्पत्ति, चन्द्रगुप्त-कथा और श्वेताम्बर शाखा का प्रादुर्भाव।

६ विक्रमादित्य की कथा।

७ अपलसंघ का प्रादुर्भाव तथा पूज्यपाद स्वामी के शिष्य के द्वारा द्राविड़ संघ की स्थापना तथा काष्ठासंघ की उत्पत्ति।

८ मरुत एवं बिल संघ की स्थापना और अर्हद्बल्याचार्य के द्वारा संचालित संघ, गण, गच्छ आदि का विवरण।

सप्तम प्रकरण

(७० से ८६ पृष्ठ तक)

१ शालिवाहन-कथा।

२ वसुपाल राजा की सभा में पञ्चांग-विषयक-चर्चा।

३ समस्त प्राणिवर्ग के आय(यु)-व्यय की चर्चा।

अष्टम प्रकरण

(८६ से ११७ पृष्ठ तक)

१ जिनदत्त राय की कथा।

२ चण्डविक्रम की कथा।

नवम प्रकरण

दशम प्रकरण

एकादश प्रकरण

(२०६ से २४७ पृष्ठ तक)

द्वादश प्रकरण

(२४७ से २८६ पृष्ठ तक)

त्रयोदश प्रकरण

(२८६ से २६८ पृष्ठ तक)

नोट—इस राजावली कथा की मैसूर राजकीय प्राच्यपुस्तकागार की संगृहीत प्रति से प्रतिलिपि कराई गई है। भवन की इस प्रति के प्रारंभ में जो विषय-सूची दी गयी है, यह उसी का अनुवादमात्र है।



बाहुबलि-शतक

[रचयिता और प्रकाशक महेशचन्द्र प्रसाद एम० ए०, देवाश्रम आरा १६३५ कागज और छपाई अच्छे हैं, बाहुबलिस्वामी का सुन्दर चित्र भी है, मूल्य सिर्फ दो आना]

मैसूर राज्य के हासन जिले में स्थित श्रवणबेलगोल जैनियों का एक प्रमुख तीर्थ स्थान है। यहां के विन्ध्यगिरि पर खड्गासन विराजमान बाहुबलिस्वामी की मूर्ति अपनी विशालता और कारीगरी के लिये भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके कलाकौशल की प्रशंसा बड़े बड़े विद्वानों और गुणग्राहकों ने की है। लेखक को इस स्थान के दर्शन करने का शुभावसर श्रीमान् चक्रेश्वरकुमार जी आरा, के साथ मिला। मूर्ति के दर्शन से प्रभावित होकर उन्होंने प्रस्तुत काव्य को रचा है, तथा कृतज्ञता पूर्वक उसे अपने उपकारी को ही समर्पित किया है।

प्रस्तुत काव्य बाहुबलिस्वामी की उक्त मूर्ति की १०८ दोहों में स्तुति है। पहले पांच दोहों में मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने क्रमशः श्रवणबेलगोल, मैसूर, उक्त मूर्ति, उसकी स्थिति, उसके रूप और फिर उसके शिर, कच, मुख, भाल, भृकुटी आदि प्रत्येक अङ्ग की शोभा का सुन्दर वर्णन किया है। शैली प्राचीन है। अर्थ सौन्दर्य के साथ शब्दालंकार की ओर कवि का ध्यान विशेष रहा है। इसी से स्तुति में स्थान स्थान पर कुछ जटिलता आगई है। शब्दों के खेल के कुछ उदाहरण देखिये —

मूर्ति के वर्णन में कवि कहते हैं —

जग तें पाहुन होत जब, जग में पाहुन होत।
जग तें पाहन होत जब, जग में पाहन होत ॥१०॥

मुख की हास्य मुद्रा का वर्णन है —

हास नहीं, उपहास यह, कली बली का मानु।
कली कलेजे को कली, तोड़ो कली समानु ॥४०॥

इनका अर्थ समझने के लिये थोड़ी देर सिर खुजलाना पड़ता है। पर कहीं कहीं ऐसा भी शब्द सौन्दर्य अर्थ की सुगमता के साथ भी मिलता है जैसे—

नहीं धरा पर कछु धरा, भरा क्लेस निहसेस।
धीर धराधर पै खड़े, यहै देत उपदेस ॥४०॥

निम्न दोहे में 'जगत्कर्ता' का उल्लेख शायद जैनियों को कुछ खटके—

धनि धनि मूरत की कला ! धनि धनि मूरतकार।
जग-करता करतार है, तुम करता-करतार ॥७५॥

यद्यपि काव्यशैली प्राचीन है तथापि उस में रेडियम का प्रकाश और मोटर की दौड़ भी दिख रही है, यथा—

नासहु तम-अग्यान तुम, अग्या-प्रभा प्रकासि।
जन-हित जनु कोउ दिव्य-रुचि, रुचिर रेडियम-रास ॥८७॥
बना सर्वदा ही रहै, तव सनेह पेट्रोल।
जातैं पहुँचै मोक्ष को, आतम-मोटर पोल ॥९८॥

(रचना अवलोकनीय है)

—हीरालाल,

RISABH-DEVA.

(THE FOUNDER OF JAINISM)

[Author, C. R. Jain, Bar-at-law, Publisher, Jain-Mitra-Mandal, Delhi, 1935, price -/4/-]

Barrister C. R. Jain is well-known as the author of many books on Jainism and comparative religion. He wrote a big volume on the life of the first prophet of Jainism, Lord Rishabhadeva, several years ago. The present book is on the same subject in a much smaller and handy size. In eleven short chapters is described in a lucid style the previous ten lives of of Rishabhadeva, his birth and childhood, his family and public life, his renunciation omniscience and his preaching mission We have then a chapter on the sixteen deams of his son and royal succesor Bharat, who sensed through them the deterioration of the coming age. Then follows an account of the strength of Rishabha's spiritual followers and his Nirvana. The whole account is strictly in accordance with the Jaina Puranas The book ends with the 'Last Word' contributed by Mr. Kamta Prasad Jain who has drawn attention to several references to Rishabha and other Tirthankaras of the Jainas in non-Jain literature beginning with the Vedic age. In the Foreword and the Introduction added by the author himself attention has been drawn to the place and importance of Rishabha deva in Jainism and his mention in the Hindu Puranas. There are two illustrations in the book-one of the statue of Rishabhadeva in one museum in Paris (France) and the other of the assembly of Rishabhdeva's devotees after his omniscience, as preserved in the Jaina Siddhanta Bhavan Arrah. The learned author has presented subject in a readable, interesting form and the book deserves to be widely read by those interested in the lives of the Great Teachers of humanity who have lived in the past.

H. L. Jain

ग्रन्थमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—के० भुजबली शास्त्री)

(क्रमागत)

नेल्लूर के शक वर्ष १२२१ (ख्रीस्ताब्द १२११) के एक शासन में "तस्यात्मजः सुतो मन्व गण्डगोपालभूपतिः । प्रतापरुद्रभूपस्य प्रसादार्चितवैभवः" ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे इस मन्वभूप का समय खिस्त शक १२११ सिद्ध होता है। अतः कवि अमृतनन्दी का काल भी खिस्त शक १३वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ज्ञात होता है। यह कवि प्रतापरुद्र के आश्रय में प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ के रचयिता विद्यानाथ के समकालीन होंगे या कुछ इधर के।"

इन उल्लिखित दोनों उद्धरणों से इस ग्रन्थ के रचयिता यही अमृतनन्दी हैं तथा इनका समय भी यही १३वीं शताब्दी है यह बात प्रमाणित होती है।

(१०) ग्रन्थ न० २१३/ख

केवलज्ञानहोरा

कर्त्ता—चन्द्रसेनमुनि

विषय—ज्योतिष

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१३॥ इञ्च   चौड़ाई—८॥ इञ्च   पत्रसंख्या*—३७६

प्रारम्भिक भाग—

अनन्तविद्याविभवं जिनेन्द्रं निधाय नित्यं निरवद्यबोधम्।
स्वान्तेऽहमिन्दुप्रभमिद्धवन्द्यं वक्ष्ये परां केवलबोधहोराम् ॥१॥
होरा नाम महाविद्या वक्तव्यञ्च भवद्धितम्।
ज्योतिर्ज्ञानकलासारं भूषणं बुधपोषणम् ॥२॥

*: बीच बीच में कुछ सादे पृष्ठ भी हैं।

केवलज्ञानहोरायाः चन्द्रसेनेन भावितम् ।
परोपदेशिकं ग्रन्थं (?) मया सप्तशतं (?) कृतम् ॥३॥
आगमः (?) सदृशो जैनः चन्द्रसेनसमो मुनिः ।
केवली (?) सदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे ॥४॥
श्रीमत्पञ्च गुरूंश्चतुर्विधसुराधीशार्चितान् संस्तुतान्
चातुर्वर्णजन(?) चतुर्गतिभवक्लेशापहारानपि ।
तत्वान् सप्तवरैकवाक्यनिरतान् दोषद्वयध्वंसकान्
आचार्यांश्च (?) उपासकान्सुमनसा वन्दामहे दिग्ग्रहान् ॥५॥
तन्मात्रवेदाम्बुधिवाणशैलशम्यत्तिचन्द्राश्वभवे ध्रुवाङ्काः ।
प्राच्यादिदिक्षु प्रथिता मुनीन्द्रैर्नष्टादिविज्ञानविधौ विधेयाः ॥६॥

× × ×

मध्यभाग (पृष्ठ १८४ पंक्ति ५)

तन्मात्रवेदाम्बुधिकामशैलशतांगनेत्रक्षितयो ध्रुवान्ताः (ध्रुवाङ्का-) ।
प्रागादिदिक्षु प्रथिता मुनीन्द्रैर्नष्टादिविज्ञानविधौ विधेयाः ॥
पृच्छकादिग्दशगुणितं प्रहरयुतं त्रिगुणितं त्रिशत् ।

समेतं विप्रुव (?) संप्रश्नाक्षरयुतं । वसु ७ । हृतं । तच्छेषं १ । अवर्ग २ । चवर्ग ३ टवर्ग ४ । तवर्ग ५ । पवर्ग ६ । यवर्ग ७ । सवर्ग कवर्ग । अथ । एकादिशून्यपर्यन्तं १ । अवर्गं २ । कवर्ग ३ । चवर्ग ४ । टवर्गं ५ । तवर्ग ६ । पवर्ग ७ । यवर्ग । शवर्ग । तद्वर्गशेषं । भेशवाण ५ । हृतं । वि । विषमाक्षरं । स । समाक्षरं । अन्त्याक्षरं । तदक्षरशेषं । गिरिबाण ५७ । हृत द्विरत । वि । पूर्वाक्षरं । सं । द्वितीयाक्षरं । एते अक्षरभेदाः । × × × × × × ×

× × ×

अन्तिम भाग—

× × × × × × देहलिके ८५ । हुलिगोडु ८६ । हेरदवल्लि ८७ । हिरिगण ८८ । हल्लयाल ८९ । हाल्रूरु ९० । होमारु ९१ । हाडूरु ९२ । हेव्रति ९३ । हेकंब ९४ हगरे ९५ । हरियट्टि ९६ । हुक्केरि ९७ । हरिगे ९८ । हिप्परिगे ९९ । हुरुमुंजि १०० कोडन हुब्बल्लि १०१ । होसदुर्ग १०२ । हिजयिडि १०३ । हुबलि १०४ । हुणिसिगे १०५ हन गवाडे १०६ । हामाळि १०७ । सम्पूर्णम् ।

यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया ।
अबद्धं वा सुबद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥१॥

हमारा ज्योतिषशास्त्र दो भागों में विभक्त है। एक गणित और दूसरा फलित या होरा विज्ञान। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम "केवलज्ञानहोरा" है। होरा की व्युत्पत्ति विद्वानों ने यों की है—"आद्य तवर्णलोपात् होरास्माक भवत्यहोरात्रात्"—अर्थात् 'अहोरात्र' शब्द का आदिम अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'त्र' इन दोनों के लोप कर देने से होरा* शब्द व्युत्पन्न हुआ है। 'केवलज्ञानहोरा' इस नामसे बहुत से व्यक्तियों की यही धारणा है कि यह भी फलित ज्योतिष का एक मौलिक ग्रन्थ होगा। अवकाशाभाव से इसका विशेष परिचय इस समय यहाँ पर नहीं दिया जा सका। हाँ इस विद्या के मर्मज्ञ किसी सावकाश विद्वान् को इस पर कुछ विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा करनी चाहिये। "दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" में भी इसे ज्योतिषशास्त्र ही लिखा है। साथ ही साथ प्रेमी जी की इस पुस्तक में इस 'केवलज्ञानहोरा' की श्लोकसंख्या तीन हजार बतलायी गयी है। परन्तु प्रारंभिक "परोपदेशिक ग्रन्थ ? मया सप्तशतं कृतम्" इस तीसरे पद्यभाग से इस ग्रन्थ की श्लोकसंख्या सात सौ सिद्ध होती है। किन्तु ग्रन्थ बहुत बड़ा है। न मालूम ग्रन्थकर्त्ता ने यह सात सौ संख्या किस बात की दी है।

इसके कर्त्ता चन्द्रसेनमुनि हैं। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ के 'केवलज्ञानहोरायाश्चन्द्रसेनेन भावितम्" इस पद्यांश में इस बात को स्पष्ट कर दिया है। साथ ही साथ 'आगमः सदृशो जैन चन्द्रसेनसमो मुनिः। केवली (?) सदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे॥" इस पद्य में अपनी प्रचुर प्रशंसा भी की है। इधर उधर बहुत कुछ टटोलने पर भी इनके बारे में विशेष परिचय मैं नहीं मालूम कर सका। ग्रन्थान्तर्गत बातों से ज्ञात होता है कि आप ज्योतिषशास्त्र के एक अच्छे ज्ञाता थे। इसमें कोई शक नहीं कि आप कर्णाटकनिवासी एवं कन्नडभाषी थे। क्योंकि अपने ग्रन्थ के संस्कृतबद्ध पद्यों (कर्णसूत्रों) का खुलासा करने के लिये इन्होंने जहाँ तहाँ कन्नडभाषा का भी अधिकतर आश्रय लिया है। भवन की यह प्रति श्रवणबेल्गोल की कन्नड प्रति से उतारी गयी है, किन्तु है यह बहुत अशुद्ध। अतः यहाँ आपकी संस्कृत रचनाशैली के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किसी शास्त्रागार में इसकी कोई शुद्ध प्रति का अन्वेषण परमावश्यक है। इसमें जो प्रकरण† हैं उनमें कुछ का नीचे नाम निर्देश किया जाता है:—

हेमप्रकरण, दाम्यप्रकरण, शिलाप्रकरण, मृत्तिकाप्रकरण, वृक्षप्रकरण, कार्पास गुल्म वल्कल तृण-रोम चर्म पटप्रकरण, संख्याप्रकरण, नष्टद्रव्यप्रकरण, निर्वाहप्रकरण, अपत्य

* ज्योतिषोक्त लग्न एवं एक राशि या लग्न के आधे भाग का भी होरा कहते हैं।

† ये प्रकरण किसी काण्ड या अध्याय के अन्तर्गत हैं।

प्रकरण, लाभालाभप्रकरण, मोक्षप्रकरण, स्त्रीसंभोगप्रकरण, भोजनप्रकरण, स्वप्नप्रकरण, सामुद्रिकप्रकरण, स्वरप्रकरण, वास्तुविद्याप्रकरण, शकुनप्रकरण, देहलीहवीक्षाप्रकरण, अञ्जनविद्याप्रकरण, विषविद्याप्रकरण। इसी प्रकार देशभेद, उपकरणभेद, शास्त्रभेद, रत्नभेद, पत्तिभेद, यन्त्रभेद, मन्त्रभेद, जातिभेद, मुद्राभेद आदि अनेक द्रव्यों के भेद भी इसमें दरसाये गये हैं। बल्कि मुद्राभेद नामक शीर्षक में विक्रम, चालुक्य, कादम्ब, युधिष्ठिरादिक अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम भी आये हैं।

---

(११) ग्रन्थ नं० २१४/ख

दानशासन

कर्ता—श्रीवासुपूज्य ऋषि

विषय—दानफलादिविवरण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३॥ इञ्च चौड़ाई ५॥ इञ्च पत्रसंख्या ५५

प्रारम्भिक भाग—

यस्य पादाब्जसद्गन्धाघ्राणनिर्मुक्तकल्मषाः।
ये भव्याः सन्ति तं देवं जिनेन्द्रं प्रणमाम्यहम् ॥१॥
दानं वक्ष्येऽथ वारीव शस्यसम्पत्तिकारणम्।
क्षेत्रोप्तं फलतीव स्यात् सर्वक्षेत्रेषु समं सुखम् ॥२॥
शुद्धसद्दृष्टिभिः शुद्धपुण्योपार्जनलम्पटैः।
सार्द्धं ब्रूयादिमं ग्रन्थं नेतरैस्तु कदाचन ॥३॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ २८ पंक्ति १म)

श्रीमत्त्रिलोकभवनान्तरसर्ववस्तुग्राहिप्रबोधनिटिलाक्षिविराजमानम्।
ज्ञानैकगोचरमशेषमुनीन्द्रवन्द्यमिन्द्रार्चितांघ्रिमर्हन्तमहं नमामि ॥१॥

कर्महृद्धर्महेत्यात्त तस्य भेदानह ब्रुवे।
पात्रे देय न चान्यत्र देो ह्यधिपो यथा ॥२॥
रत्नत्रयात्मको धर्मस्तमाचरति धार्मिक ।
धर्माभिवृद्धये स्वस्य धार्मिके प्रीतिमाचरेत् ॥३॥
पात्रभेदकथावृत्तं पात्रं पञ्चविध मतम्।
तद्वयेति पृष्टे प्रश्ने सूरिराह तदुत्तरम् ॥४॥
उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्य मध्य व्रतेन रहित सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुत कुपात्र युग्मोज्झित नरमपात्रमिदञ्च विद्धि ॥५॥
संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिता।
शान्ता दान्तास्तपोभूषास्ते पात्र दातुरुत्तमम् ॥६॥
निस्सङ्गिनोऽपि वृत्ताढ्या निःस्नेहा सुगतिप्रिया ।
अभूषाश्च तपोभूषास्ते पात्र दातुरुत्तमम् ॥७॥
परीषहजये शक्ता शक्ता कर्मपरिक्षये।
ज्ञानध्यानतपःशक्तास्ते पात्रं दातुरुत्तमम् ॥८॥
प्रशान्तमनसः सौम्या प्रशान्तकरणक्रिया ।
प्रशान्तारिमहामोहास्ते पात्रं दातुरुत्तमम् ॥९॥
धृतिभावनया युक्ता सत्त्वभावनयान्विता ।
तत्त्वायहितचेतस्कास्तेपात्र दातुरुत्तमम् ॥१०॥
परीषहजये शूरा शूरा इन्द्रियनिग्रहे।
कषायविजये शूरास्ते पात्र दातुरुत्तमम् ॥११॥

× × ×

अंतिम भाग—

मतं समस्तैर्भुवि भव्यवाहृतैः प्रभासुरात्मायनदानशासनम्।
मुदे सतां पुण्यधन समर्जित दानानि वृथा मुनये विचार्य तत् ॥
शाकाब्दे त्रियुगाग्निशीतगुणितेऽतीते वृष वत्सरे
माघे मासि च शुक्लपक्षदशमे श्रीवासुपूज्यर्षिणा।
प्रोक्तं पावनदानशासनमिदं ज्ञात्वा हितं कुर्वताम्
दानं स्वर्णपरीक्षका इव सदा पात्रत्रये धार्मिका ॥

समाप्तमिदं दानशासनम्

ग्रन्थके अन्तिम पद्य से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस "दानशासन" के कर्त्ता वासुपूज्य ऋषि हैं। साथ ही साथ उक्त पद्य से यह भी विदित होता है कि यह ग्रन्थ शक सम्वत् १३४३ माघ शुक्ल दशमी को समाप्त हुआ था। ग्रन्थकर्त्ता ने अपने इस ग्रन्थ में गुरुपरम्परा, गण, गच्छ आदि की कुछ भी चर्चा नहीं की है। अतः इनके विषय में अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सका। दाक्षिणात्य कतिपय शिलालेखों में "वासुपूज्य" यह नाम मिलता है अवश्य। पर प्रस्तुत वासुज्पूय के गणगच्छादि के न मालूम होने से नहीं कहा जा सकता है कि अमुक वासुपूज्य ही इस दानशासन के कर्त्ता हैं। अगर किसी विद्वान् को इन वासुपूज्यऋषि के गणगच्छादि विशेष बातों का पता ज्ञात हो तो उन्हें प्रकट कर देना चाहिये।

इनकी संस्कृत-रचनाशैली साधारणतया अच्छी है। प्रत्येक भाग की श्लोकसंख्या अलग अलग बता कर इस ग्रन्थ को इन्होंने निम्नलिखित भागों में विभक्त किया है:—

(१) अष्टविधदानलक्षण (२) उत्तमपात्रसामान्यविधि (३) अभयदानविधि (४) दानशालाविधि (५) क्रियाविधि (६) द्रव्यशोधनविधि (७) पात्रलक्षणविधि (८) करुणत्रयलक्षिताहारदानविधि (९) भैषज्यदानविधि (१०) शास्त्रदानविधि।

---

(१२) ग्रन्थ नं० २१५/ख

भव्यकण्ठाभरणपञ्चिका

कर्त्ता—अर्हद्दास

विषय—देवगुरुशास्त्रादिलक्षण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६॥ इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या २३

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमान् जिनो मे श्रियमेष दिश्यादयदीयरत्नोज्ज्वलपादपीठम्।
करैर्नतेन्द्रोत्करमौलिरत्नै स्वपक्षरागादिव चालितं स्वैः॥१॥
सदापि सिद्धो मयि सन्निदध्यात्स सिद्धिवध्वा सह सान्द्रसौख्यम्।
चर्वत्यजस्रं तनुमारुतान्तः संभोगभाविश्रमभीतवैद्यः॥२॥

आचार्यवर्याश्चरितानि शिष्यानाचारयन्त स्वयमाचरन्त ।
षट्त्रिंशतापि स्वगुणैर्युतास्ते सन्त्वपराजमाप्यगुणाभिजाताः ॥३॥
तेऽध्यापका स्युदव्रते नितान्त ये ब्रह्मचर्यव्रतपालिनोऽपि ।
दयाञ्च चित्तेषु सरस्वतीञ्च मुखेषु देहेषु वपुःश्रियञ्च ॥४॥
ते साधवो मे ददतु स्वशुद्धिं दयालवोऽपि व्रतदिव्यशस्त्रैः ।
अनगराज समरे निहत्य कुर्वन्तनगोष्पद स्वकीयम् ॥५॥
जिनागमक्षीरनिधिर्गभीरो जिलोडितश्चेद्विबुधैर्विधानात् ।
ददाति रत्नत्रयमुज्ज्वलाग तदा स तेभ्योऽप्यमृत दुरापम् ॥६॥
श्रीगौतमाद्या जिनयोगिनो ये धीरागद्वा ता महिताल्मवृत्ताः ।
तदीयनामाक्षररत्नमाला मदीयवाचया मणिकण्ठिका स्यात् ॥७॥
अथाशरीरानुपमास्तु जात्तीमप्याशु यस्या यदल विधातु ।
शत सुवर्णाभिनवार्थरत्नैस्तद्ध यकण्ठाभरणं तनिष्ये ॥८॥

× × ×

मध्यभाग (पूर्व पृष्ठ १४ पंक्ति ४)

छिन्द्याद्विर्म (?) तापमितेषु तुदुध्यानाश्रित्य मूलाश्र भजत्स्वमुक्त्या ।
छायाद्रुयत्तस्य न रुद्रपरागस्तथापि ते तु रासुखास्पदानि ॥१॥
तस्मिन्निदानीमिव सार्वभौमे देशे वसत्यप्यतिरिप्रवृद्धे ।
चरन्ति ये ते सुखिनस्तदीयामाज्ञामनुल्लङ्घ्य परे सदुःखा ॥२॥
जना गृहग्रामपुरोजना तपद्खण्डमात्रप्रभुशासन चेत् ।
उल्लघयन्तोऽप्युरुदु खमाजस्तत्किं पुनस्सर्वजगत्प्रभोस्तत ॥३॥
सतो हितं शास्ति स एव देव सदाप्य (?) ते शासनतत्फलेच्छाम् ।
कलस्वनं कर्णसुधारसौघ यमस्तयोर्बाधमपेतते किम् ॥४॥

× × ×

अंतिम भाग—

शर्व्यास्सहार्थाभिदयेति सर्वेऽप्याचार्यमुख्या गुरवस्त्रयोऽपि ।
असारससारविनाशहेतोराराधनीया अनिशं मया स्यु ॥१॥
सूत्तयैव तेषा भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्मा ।
त एव शेषाश्रमिणा सहाया धन्या स्युराशाधरसूरिवर्या ॥२॥
आराध्यमानामलदर्शनास्ते धर्मेऽनुरक्ता शमिना सदापि ।
एक यथाशक्ति भजन्त्यजन्त्यमेकादशाणुव्रतिकास्पदेषु ॥३॥

ते पात्रदानानि जिनेन्द्रपूजाः शीलोपवासानपि चिन्वते च ।
न्यायेन कालादसतीष्वरोपभोगस्य शर्मानुभवन्ति चाद्यम् ॥४॥
कर्तुं तपः संयमदानपूजास्वाध्यायमप्याश्रितचारुवार्ताः ।
ते तद्भवं श्रीजिनसूक्तशुद्ध्या पद्यादिभिश्चाघलवं क्षिपन्ति ॥५॥
त एव मान्या भुवि धार्मिकौघा धर्मानुरक्ताखिलभव्यलोकैः ।
सुधानुरक्ता ह्यनुरागसूतिमाधारपात्रेष्वपि तन्वतेऽस्याः ॥६॥
इत्युक्तमाप्तादिकसत्स्वरूपं संश्टण्वतोऽत्रैव दृढा रुचिः स्यात्
सज्ज्ञानमस्याश्चरितं ततोऽस्मात्कर्मक्षयोऽस्मात्सुखमप्यदुःखम् ॥७॥
आप्तादिरूपमितिसिद्धमवेत्य सम्यगेतेषु रागमितरेषु च मध्यभावम् ।
ये तन्वते बुधजना नियमेन तेऽर्हद्दासत्वमेत्य सततं सुखिनो भवन्ति ॥८॥

इत्यर्हद्दासकृतभव्यकण्ठाभरणस्य पञ्जिका समाप्ताभूत् ।

इस "भव्यकण्ठाभरणपञ्चिका" के कर्त्ता कविवर अर्हद्दासजी हैं। अभी तक इनके तीन ही ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। बल्कि प्रस्तुत कृति को छोड़ कर शेष दो ग्रन्थ—"पुरुदेव-चम्पू" तथा "मुनिसुव्रतकाव्य" प्रकाशित हो भी चुके हैं। पहला ग्रन्थ "माणिक्यचन्द्र जैन-ग्रन्थमाला" बंबई से और दूसरा "मुनिसुव्रतकाव्य" संस्कृत हिन्दी-टीका-सहित "जैनसिद्धान्त-भवन" आरा से। इनकी कविता के बारे में यहाँ पर मैं विशेष कुछ न लिख कर सहृदय पाठकों से "मुनिसुव्रतकाव्य" को ही साद्यन्त एक बार पढ़ जाने का अनुरोध करता हूँ। हमारे अर्हद्दास जी गद्य-पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं। आपकी सभी रचनायें माधुर्य और प्रासादादि काव्योचितगुणों से ओतप्रोत हैं।

आप विद्वद्वर आशाधर जी के शिष्य हैं। यह बात आपकी तीनों कृतियों के निम्न-लिखित अन्तिम पद्यों से स्वयं सिद्ध होती है:—

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते ।
आशाधरोक्तिलसदञ्जनसंप्रयोगैः स्वच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥

(मुनिसुव्रतकाव्य)

सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणां सहायाः धन्याः स्युराशाधरसूरिवर्याः ॥

(भव्यकण्ठभरपञ्चिका)

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन् आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने ।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या तच्चम्पुदम्भजलदेन समुज्जजृम्भे ॥

(पुरुदेवचम्पू)

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(सम्पादक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन)

मैनपुरी के मूर्ति-लेखों से प्राप्त परिचय (क्रमागत)

न०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरु का नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	किस समय में उल्लेख मिलता है।	विशेष विवरण
२१	ब्रह्मभगत सिंह	भ० सुरेन्द्रभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	स० १७७२	
२२	भ० नन्दुदेव		,,				स० १७१०	
२३	,, देवकीर्ति						स० १५५४	
२४	,, देवचन्द्र						स० १५३०	
२५	,, देवेन्द्रकीर्ति		मूल				स० १७१६	
२६	,, द्रुमकीर्ति		,,					
२७	,, देवेन्द्रकीर्ति		,,				स० १७८३	न० २५ और यह शायद एक हैं।
२८	,, देवेन्द्रभूषण	भ० विश्वभूषण	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	स० १७३४	अटेर पट्टाधीश।
२९	मंडलाचार्यधर्मचन्द्र	,, प्रभाचन्द्र	,,	,,	,,	,,	स० १५३६	
३०	भ० धर्मकीर्ति	,, ललितकीर्ति	,,				स० १६६६	स० १६०१ में आचार्य लिखा है।
३१	,, ,,		,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	स० १६८६ से पूर्व	अटेर।
३२	,, नेमिचन्द्र	,, शुभचन्द्र	,,	,,	,,	,,	स० १२१९	इन्हीं शुभचन्द्र के उत्तराधिकारी भ० जिनचन्द्र थे, किन्तु इस लेख में उनको भ० नेमिचन्द्र का पट्टाधिकारी लिखा है।

न०	नाम आचार्य व भट्टारक	गुरु का नाम	संघ	गण	गच्छ	अन्वय	जिस समय में उल्लेख मिलता है।	विशेष विवरण
३३	,, पद्मनंदि ...	......	,,	...	...	...	सं० १५०३	
३४	प्रतिष्ठाचार्य भ० प्रभाचन्द्रदेव ...	......	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १४१२	
३५	भ० पद्मनंदि ...	,, प्रभाचन्द्र	,,	,,	,,	,,	सं० १४५०	
३६	,, भानुकीर्ति ...	......	काष्ठा	...	...	...	सं० १६२८	
३७	,, भानुचन्द्र ...	......	मूल	...	.	...	सं० १५४८ ...	मुक्तागा में प्रतिष्ठा कराई।
३८	,, भुवनकीर्ति ...	......	,,	...	...	...	सं० १५४८ ...	सं० १५३४ के लेख में भ० ज्ञानभूषण के गुरुरूप में उल्लेख है। यह भिन्न मालूम देते हैं।
३९	,, महेन्द्रभूषण	भ० जिनेन्द्रभूषण	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६२०	
४०	,, मलयकीर्ति ...	गुणभद्राम्नाये	काष्ठा	..	...	...	सं० १५३७ व १५४५	
४१	मलयकीर्ति आचार्य ...	......	,,	...	...	...	सं० १५१० व १५११	
४२	भ० महाचन्द्र ...	भ० शीलभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६७५	
४३	,, महीचन्द्र ...	,, महाचन्द्र	,,	,,	,,	,,	,,	
४४	,, मुनीन्द्रकीर्ति ...	......	काष्ठा	पुष्कर	माथुर	लोहा	सं० १६५२ ...	बनारस में प्रतिष्ठा कराई।
४५	,, पद्मकीर्ति ...	......	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द		
४६	,, यसकीर्ति ...	......	मूल	...	...	...	......	उर्भरो ग्राम।
४७	,, रामसेन ...	......	,,	...	...	...		
४८	आचार्य रत्नकीर्ति ...	भ० अभयनन्द्रदेव	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६१२	
४९	रत्नकीर्ति मण्डलाचार्य ...	,, जगकीर्ति	,,	...	...	...	सं० १७५१	
५०	भ० राजेन्द्रकीर्ति ...	......	काष्ठा	..	...	लोहा०	सं० १५१०—१५३५	तदाम्नाये हरचंद्र या इम्मप्रस्थे (१५३५)

५१	,, रागेन्द्र भूषण	,, महेन्द्रभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६२०	
५२	,, ललितकीर्ति		,,	,,	,,	,,	सं० १६६६	
५३	,, लक्ष्मीभूषण	भ० सुरेन्द्रभूषण	,,	,,	,,	,	सं० १८२८	अटेर ।
५४	,, लक्ष्मीसेन	,, गुणभद्र	,,	सेन	,,	,,	सोलहवीं शताब्दी	
५५	,, विनयकीर्ति		,,				सं० १६८८	
५६	विद्यानन्दि मण्डलाचार्य	जिनचन्द्राम्नाये	,,	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द०	सं० १५३७	
५७	भ० विमलेन्द्र कीर्ति		,,				सं० १६६६	
	मल्ल देव	हेमचन्द्राम्नाये	काष्ठा				सं० १५७२	
	रूपभूषण	भ० जगद्भूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १७६१	अटेर ।
	व विद्यानन्दकीर्ति	,, महीचन्द्र	,,	,,	,	,	सं० १६०५	
	सेन		,,	,,	,,	,,	[illegible] १४११	अटेर ।
	सहकीर्ति		,,				सं० १५२३	सं० १५१५ ।
६३	,, समीरसिंहदेव		काष्ठा		माथुर		सं० १५२५	
६४	,, शुभचन्द्र	भ० पद्मनन्दि	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १५२०	
६५	,, सिंहकीर्ति	,, जिनचन्द्र	,,	,,	,	,,	सं० १५२२-१५२८	
६६	,, शीलभूषण	,, धर्मकीर्ति	,,	,,	,,	,,	[illegible] १६८६	
६७	,, सुरेन्द्रभूषण	,, देवेन्द्रभूषण	,	,,	,	,,	सं० १७६०-१७६१	अटेर ।
६८	, हेमकीर्तिदेव	,, समीरसिंहदेव	काष्ठा		माथुर		सं० १५२५	
६९	,, हेमचन्द्र		,,				सं० १५४४	
७०	,, हर्षविमलसूरि						सं० १५२१	नागुरग्रामे ।
	,, हरचन्द्र	भ० रत्नेन्द्रकीर्ति	काष्ठा			लाहा	सं० १६३२	इन्द्रप्रस्थ ।
	,, हरेन्द्रभूषण						सं० १६४५	
	,, ज्ञानभूषण	,, शीलभूषण	मूल	बलात्कार	सरस्वती	कुन्द	सं० १६८६ व १६१७	

१ काष्ठा संघ की उत्पत्ति के विषय में एक से अधिक मत हैं। दूसरी शताब्दी के देवसेनाचार्य के मतानुसार सं० ७५३ में भ० कुमारसेन द्वारा इस संघ की उत्पत्ति हुई थी; किन्तु इस काल से भी पहले इस संघ का अस्तित्व मिलता है। एक कथा में काठ अथवा मिट्टी की मूर्ति बनाने या विधान करने के कारण इस संघ का यह नाम पड़ा बताया गया है। किन्तु हम तो समझते हैं कि मथुरा के निकट जमुना तट पर स्थित काष्ठा नामक ग्राम की अपेक्षा, इस संघ का यह नाम पड़ा था। इस संघ के पुष्कर व माथुरगण और नदी तट गच्छ आदि इस बात के द्योतक हैं कि किसी ग्राम की अपेक्षा से ही इस संघ का नाम 'काष्ठासंघ' पड़ा है। मथुरा प्राचीन काल से जैन धर्म का प्रमुख स्थान रहा है और उसके निकट काष्ठा नामक ग्राम भी मिलता है। द्रमिल संघ-द्राविड़ संघ, पुन्नाट संघ आदि नाम भी देश अपेक्षा हैं। अतः काष्ठासंघ भी जैन मुनियों के उस साधुसमुदाय का नाम प्रतीत होता है, जिनका मुख्य स्थान काष्ठा नामक स्थान था। देवसेन जी ने माथुर संघ की गणना अलग की है; किन्तु अन्य विद्वान् उसे काष्ठासंघ का एक गच्छ ही बतलाते हैं; यथा :—

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥१॥
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागड़ाभिधः।
लाड़ बागड़ इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥२॥—सुरेन्द्रकीर्तिः।

देवसेन जी के उपर्युक्त भेद-विवक्षा का कारण यह प्रतीत होता है कि काष्ठासंघ में गोपुच्छ की पिच्छि रखने की आज्ञा है और माथुर संघ में पिच्छि रखने का विधान नहीं है। श्रीअमितगति आचार्य का श्रावकाचार माथुर संघ का है; किन्तु उसमें कोई भी बात ऐसी नहीं है जो मूलसंघ के विपरीत हो। काष्ठासंघ का कोई आचारग्रंथ नहीं मिलता और यह भी नहीं मालूम कि उसमें और मूलसंघ में क्या अन्तर था, किन्तु उपर्युक्त मैनपुरी के लेख संग्रह से प्रकट है कि काष्ठासंघ और मूलसंघ में ऐसा कुछ विशेष विरोध नहीं था; यही कारण है कि एक ही जाति के लोग दोनों ही संघो के अनुयायी थे। इतना तो निस्सन्देह स्पष्ट है कि उल्लिखित लेखो के समय अर्थात् १४ वीं से १६ वीं शताब्दी ई० तक जैनो में काष्ठासंघ और मूलसंघ की कट्टरता का पक्ष नहीं था। यहां तक कि लोग काष्ठासंघ के गण और गच्छ रूप में मूलसंघ के बलात्कारगण और सरस्वती गच्छ का उल्लेख करते थे। मालूम नहीं मूल में इन दोनों संघों में कितना भारी भेद था। देवसेनाचार्य के बताये हुये भेदों में केवल दो, कड़े बालों या गाय की पूछ की पिच्छी रखना और क्षुल्लकों के लिये वीरचर्या का विधान करना मुख्य हैं। (दर्शनसार गा० ३५) किन्तु इन बातों का सम्बन्ध गृहस्थो से विशेष नहीं है। कहा जाता है कि काष्ठासंघ मे बीस पंथ के अनुसार जिनेन्द्रपूजन में फल, फूल

और केशर चढ़ाने का रिवाज था। किन्तु इसमें भी कुछ सिद्धान्त भेद नज़र नहीं पड़ता और इस तरह हम तो समझते हैं कि काष्ठासंघ और मूलसंघ में ज़्यादा भेद नहीं था। माथुर संघ का सम्पर्क काष्ठा संघ से घनिष्ठ था और यह प्रकट ही है कि माथुर संघ के श्रावकाचार और सैद्धान्तिक मान्यताओं में मूलसंघ से कुछ भी भेद नहीं था, जैसे कि श्रीअमितगति आचार्य के ग्रंथों से प्रकट है। अत एव काष्ठासंघ के साथ भी मूलसंघ का अधिक अंतर होना असम्भव है यही कारण है कि मैंनपुरी के लेख संग्रह में एक ही जाति के लोग मूल और काष्ठा दोनों संघों के अनुयायी मिलते हैं। मैंनपुरी के बड़े मंदिर जी में एक हस्तलिखित गुटका संवत् १८६७ का वाका शहर का लिखा हुआ मौजूद है। उसमें काष्ठासंघ के अनुसार नित्यनियम अर्थात् देव शास्त्र गुरु पूजा दी हुई है। (प्रचलित नित्यनियम पूजा में और उसमें केवल इतना ही अंतर है कि उसमें "कर्म्माष्टकविनिर्मुक्त आदि" श्लोक के बाद ये श्लोक और दिये हुए हैं —

"श्रीयुगादिदेव प्रणमत्य पूर्वं, श्रीकाष्ठासंघे महिते सुभव्या। (?)
श्रीमत्प्रतिष्ठा श्रुतनो निनदय, श्रीयज्ञकर्म स्वहिताय वक्ष्ये ॥१२॥
आदिदेवं जिनं नत्वा केवलज्ञानभास्करं ।
काष्ठासंघश्चिरं जीयात्क्रियाकाष्ठादिदेशकः ॥१३॥
श्रीनाभिनंदनविभुं प्रणिपत्य भक्त्या, यद्दर्शनामृतरसेन जगत्प्रपूर्णम्।
काष्ठाख्यसंघवरमंगलहेतुनित्यं, यस्यागमान्निगदिताय (?) करोमि पूजा ॥१४॥)

इन श्लोकों में केवल काष्ठासंघ का बोध कराने का भाव है और उसके उत्कर्ष की भावना भाई गई है। हां, हमारी उपर्युक्त व्याख्या का इनसे भी समर्थन होता है कि इस संघ का नाम देश अपेक्षा है; क्योंकि उपर्युक्त नं० १३ के श्लोक में इस संघ का क्रियायें काष्ठादि देश की बताई हैं। मालूम होता है कि साम्प्रदायिक द्वेषवश काष्ठ की मूर्ति आदि बनाने की अपेक्षा काष्ठासंघ कहलाने की कथायें कपोलकल्पनारूप रची गई हैं। उनमें कुछ भी सार नहीं है। काष्ठासंघ की जैनपूजा में अवश्य कुछ क्रिया भेद था, किन्तु वह भी विशेष नहीं प्रतीत होता। पूजा में आगाड़ी कुछ भी पाठ भेद नहीं है। केवल 'देवजयमाल' में 'वत्ताणुट्ठाणे' आदि के स्थान पर एक अन्य जयमाल है; जिसका प्रारंभ इन गाथाओं से होता है —

'चउबीस जिणवइ तिहुयणचंदह, अइ सयलचियमायणह।
जयमाला विरयमि गुणगण समरमि कम्म महागिरि चूरणह ॥१॥
जय जय रिसहणाह मय रहिया, जय जय अजिय सुराहिव महिया। इत्यादि"

सेनगण का सम्बन्ध बंगाल के सनरालवरा से प्रतीत होता है। (वीर वर्ष ४ पृ० ३२८) बलात्कार गण की उत्पत्ति किस अपेक्षा है, यह ज्ञात नहीं। कहा जाता है इस गण के सुदृढ़ अथवा ज़बरदस्त होने के कारण यह इस नाम से प्रख्यात हुआ था।

× × ×

(२) कुटुम्ब और श्रावक-श्राविकायें :—

१ अग्रवाल—गर्गगोत्रे सा० बुधमल (१२३४ सं०)

२ अग्रोत—गोयल—काष्ठा—सा० राजू भार्या जाल्ही—पुत्र छाजू, कामराज, रामचंद्र, चंद्रपाल, जिनदास, ताराचंद्र आदि (१५३७ सं०)

३ अग्रोत—वासिल—ब्रजमोहनदासभार्या सुंदरि पुत्र बाबू जगमोहनदास, बाबू मुनिसुव्रतदास भार्या कांताकुंवरि, आरा निवासी (सं० १६२०)

४ अग्रोत—गर्ग—केलिराम पुत्र डालचन्द मैनपुरी (१६२० सं०)

५ अग्रोत—मित्तल—देवदास भार्या लाडो, पुत्र धर्ममल, तेजा, गयचंद, चाहडा, (१५२१)

६ अग्रोत—गर्ग—भुजू भार्या ताल्ही, पुत्र रत्नो, हरताल्हा और लाडट भार्या विणी, पुत्र हंस, बाई जिनमति। (१५२६ सं०)

७ अग्रवालवैश्य—बाबू रामदास—छेदीलाल, बिसुनचंद्र—नरोत्तमदास (१६५२)

८ अग्रोत—वासिल गोत्रे—सौखिलाल, मुनिसुव्रतदास (१६१० सं०)

९ ,, —मीतल गोत्रे सा० भरे भार्या पुनिमा, पुत्र लखा, होला, बापू (१५४५)

१० ,, —छेदीलाल, बिसुनचद, नरोत्तमदास वटेश्वर में प्रतिष्ठा कराई (१६५२)

११ ,, —गर्ग—मूलसंघे—झम्मनलाल (१६४५ सं०)

१२ ,, —कुकसगोत्रे—मूलसंघे मलैराय भ्राता कल्याण (१६११ व १६५७)

१३ ,, —गर्ग—काष्ठा कासीराम हरचंदपुरमध्ये प्रतिष्ठा कराई (१८८६ सं०)

१४ ,, लोहिआ—खुशालचद हरचदपुर वाले (१६०२ सं०)

१५ ,, केवलराम मैंनपुरी (१८६६)

१६ ,, गोयल गोत्रे—सा० अदा भार्या पोवाही पुत्र सोमनसिंह (१५४६ सं०)

१७ ,, वासिल गोत्रे—काष्ठा—उरगदास भार्या जान्ही (१६४२)

१८ ,, —गर्ग—सा० रत्न भार्या देन्ही पुत्र सहय भार्या वाह पुत्र पेमचंद (१५१० सं०)

१९ कृकेश ज्ञातीये—वरहडाग्रा गोत्रे—सा० शिवा भा० सिगार आदि नागपुर (१५५१)

२० खंडेलवाल—लुहाड्या—संघई हृदयराम (१७८३ सं०)

२१ ,, —सा० हरदास मूलसघे (१५२० सं०)

२२ ,, —सिंधिया—सा० हिमत भार्या उधा पुत्र पदार्थक (१६७५ सं०)

२३ ,, —इक्ष्वाकुवंशे—छावरागोत्रे—नानिगराम (१८२८ सं०)

२४ ,, —पाटनी—सा० हीकम (सं० १४३६)

२५ गोयागोत्रे—संघई मामसेन

२६ गोलालारान्वये—साह पिथू (१५३७ सं०)

२७ " —सा० भउवा भा० परमा पुत्र कर्ण भा० रणा पुत्र भीष्म (१५२५)

२८ " —खरौआ ज्ञातीये—कुलहा गोत्रे पंडिताचार्य प० भोजराज भार्या प्यारो पुत्र प० मकरंद इत्यादि (सं० १६८६)

२९ " सा० भोजू—सल्लैसिंह—मोनराज (१७०४ सं०)

३० " सा० ऐदरज—(सं० १५२१)

३० अ० " सा अमूभार्या लढो पुत्र खीमा (१५१५)

३१ गोल सिंगारा—रणा गोत्रे—श्रीलाल भार्या त्रिया पुत्र धरमदास दामोदर (१६८८)

३२ जैसवाल—काष्ठा संघी—सा० प्रियी भा० आनी पुत्र विमाहा रिषमदास (१५२८)

३३ " —सा० दाम भार्या रजमती (सं० १६०१)

३४ " —काष्ठासंघी—सा० कन्हर भार्या जयश्री पुत्र हंसराज द्वितीय भार्या मानश्री पुत्र रामचंद्र (सं० १५३१)

३५ " —मूलसंघे—सा० जै सिंह भार्या मामा पुत्र माधव (सं० १५३७)

३६ " —काष्ठा—सा० सूमचंद भार्या नेमा पुत्र थानया (सं० १५३७)

३७ धाकौ ज्ञातीये संघइ हेमा भार्या अग्या पुत्र सं० सुरूसा   कसिमसाली (१५   )

३८ नगरकोटेलगोत्रा सा० नरवर सिंह (स १५११)

३९ पोरवाड जाति—सा० रहणा भार्या गोलसिरि पुत्र गर्गू भोजराज (सं० १५११)

४० पुले ज्ञातीये खेमिन गोत्रे—सा० सारन भार्या फैन   राजाराम रामस्वरूप (१६८८ मूल)

४१ माहिमवंश—सा० हंसारादेव भा मगधा धरना, पुत्र नैसी मानसी परसेन (१५८८)

४२ बुंदेल ज्ञातिदे—मूलसंघे—गिरधारी लाल बनारसीदास भेलगांव (१५१७) कुरा मैनपुरी पन्नीलाल।

४३ " —गृम गोत्रे—गुलाराम भार्या दारा पुत्र पृथ्वी,न्म अदेर (१७६१ सं०)

४४ " —लम्बकञ्चुकान्वये—कठौआ गोत्रे—सा० सिवरामदास भार्या देवमाही पुत्र देवीदास भार्या लाला कुंवरि पुत्र कामाराम (१७०२)

४५ " —लम्बकञ्चुकान्वये—रावत गोत्रे—चदलू भा० सुधी पुत्र केशराय गुलाराम (१७६६)

४६ यदुवंशी लम्बकञ्चुकान्वये सा० उद्धरण पुत्र आसौ भार्या मूगा पुत्र संघाधिपति यश मा० मूला पुत्र भोजराज धौपे ग्राम (१५०६)

(नोट—इससे स्पष्ट होता है कि पहले संघाधिपति की उपाधि एक ही व्यक्ति को रहती थी—खानदान को नहीं)

४७ राहत् ज्ञातीये—राजमल सेठ भा० सावाई पुत्र जगदू भा० शिव पुत्र सुराम सेठ (१६०१)
४८ लम्बकाञ्चुक—मूलसंघे—सा० चाङ्गदेव भा० ताण पुत्र लाव्हा भा० महादेवी (१४१२)
४९ „ —सा० मिण्डे भा० सोना पुत्र सा० जल्लू भा० मना (१५२५ सं०)
५० „ —सहदेव+चम्पा = हेतदेव + मूला = लेखनदेव, पद्मदेव, धरमदेव, (१४१३)
५१ „ —रावत—रावतप्रसाद पुत्र रावत सिरोमनि, चंडमारदुर्ग (१७३४)
५२ „ — यदुवंशे—रपरिया गोत्रे—छबीले – शंकर (१७६०)
५३ „ —दिपौ + दूदा = सूर, खेमा, सालस, गंमा (१५२०) अठली निवासी।
५४ „ — रपरिया गोत्रे—मारसेन+जीवनदे=खरगसेन+घलको=जयकृष्ण व मनसुख(१७६०)
५५ लंबेचू—उजागर (१५३४)
५६ „ —यदुवंश—पचोलते गोत्रे—सा० भावते भा० हीरामनि पुत्र कन्हर, रमीने, लालसेन, शिरोमणि, अतिवज्र (१७२२)
५७ „ —सिउलाल (१४७१)
५८ वाकुलिया गोत्रे—प्रभसी पुत्र राजदेव (१५०२)
५९ वरहिया कुले—सा० व्हखे+कुसुमा = मलू+उदयश्री = लहण, छोटे व वीरसिंह (१५४५)
६० संघई श्रीकृष्णदास (१७४६)
६१ संघई अहिमनि (१५६२)
६२ श्रीमालवंश—मूलसंघे—सा० विहु (श्रीप्रतापचंद्र राज्ये (सं० १३४६)
६३ सा० लेखमल पुत्र भजनसिह (१३३५)
६४ सा० सहरदा व मोहिक लल्लू, विलसी (१५२६)
६५ सा० तेज पुत्र भोजादेव (१५३०)
६६ सा० खुरु पुत्र वीधा (१५४५)
६७ सा० वीरपाल भर्या रमीवाई
६८ सा० पदारथ भा० जिवा पुत्र खेमकरण परमा (१६६६)
६९ सा० महत् भा० कान्हमती पुत्र सर्वत (१६०१)
७० सा० जीवराज पोपड़ीवाल (१५४८—१५४६)
७१ सा० लौणा (१५२५)
७२ सा० भिमा माता गदा वीधा (१५४६)
७३ सा० विजयपाल—नागपाल (प्राचीन लिपि में)
७४ सा० जिनदास काष्ठासंघे (१४७३)
७५ सा० रण्ह पुत्र नानिग काष्ठासंघे (१४१४)

श्रीपूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक—पण्डित सत्यंधर जैन, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

(गतांक से आगे)

टीका—शुद्ध सिंगरफ, १ तोला शुद्ध जमालगोटा ६ माशा, शुद्ध सिंगिया ३ माशा, सोंठ, मिर्च, पीपल तीन तीन माशा बड़ी हर्र का छिलका ३ माशा अरण्ड की जड़ की छाल ३ माशा, पूतकरंज की मींगी ३ माशा, नीला सुरमा तथा शुद्ध मैनशिल, शुद्ध पारा, तूतिया भस्म, पीपल, कौड़ी भस्म, शंख भस्म, शुद्ध धतूरे के बीज, नीम की निबौडी की गिरी, हलदी, दारुहल्दी ये सब तीन तीन माशा लेकर सब औषधियों को बकरी के दूध में एक दिन भर खरल में मर्दन करे तथा चना के बराबर गोली बनावे, इस गोली को गुड़ और काली मिर्च के साथ सेवन करे और ऊपर से उष्ण जल का पान करे तो इससे आमदोष का रेचन होता है, पांचों प्रकार के गुल्म रोग दूर होते हैं शूल को नाश करता, वायु का शोधन करता तथा शीत ज्वर का नाश करनेवाला है। यह पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ उत्तम योग है।

३३—प्रमेहे प्रमेहगजकेसरी रस

सूतं च वंगभस्मानि नाकुलीबीजमभ्रकम्।
अयस्कांत शिलाधातु कनकस्य च बीजकम् ॥१॥
गुडूची सत्वमित्येषां त्रिफलाक्वाथमर्दिताम्।
गुञ्जामात्रवटीं कृत्वा छायाशुष्कां तु कारयेत ॥२॥
शर्करामधुसंयुक्तो प्रमेहान् हंति विंशति।
नष्टेन्द्रियं च दाहं च मन्दाग्निमयदोषकं ॥३॥
सोमरोगं मूत्रकृच्छ्रं बस्तिशूलं विनश्यति।
पूज्यपादप्रयोगोऽयं प्रमेहगजकेसरी ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, बंगभस्म, शुद्ध रासना के बीज, अभ्रक भस्म, कांत लोहभस्म, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध धतूरे के बीज, गुरुच का सत्व इन सब औषधियों को त्रिफला के

फाढ़े में घोंट एवं एक एक रत्ती के बराबर गोली बनाकर छाया में सुखावे। मिश्री या शहद के साथ इसका सेवन करने से बीस प्रकार के प्रमेह को नाश करता है, नपुंसकता, दाह, मंदाग्नि तथा मद्य के दोष को जीतनेवाला एवं सोमरोग, मूत्रकृच्छ्र, वस्ति के शूल को भी नाश करता है। यह सब प्रकार के शूलों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ प्रमेहगज केशरी, उत्तम प्रयोग है।

३४—मन्दाग्नौ बड़वाग्निरसः

शुद्धं सूतं ताम्रभस्म तालबोलं समं समं ॥
अर्कक्षीरेण संमर्द्य दिनमेकं द्विगुंजकम् ॥१॥
बड़वाग्निरसं खादेन्मधुना स्थौल्यशांतये ॥
पूज्यपादप्रयुक्तोऽयं खलु मंदाग्निनाशकः ॥२॥

टीका—शुद्ध पारा, ताम्रभस्म, तवकिया हरताल भस्म, शुद्ध बोल बराबर बराबर लेकर इन सबों को अकौवा के दूध में दिन भर घोंटे तथा दो दो रत्ती की गोली बनावे। इसी का नाम बड़वाग्नि रस है—इसको शहद के साथ सेवन करने से स्थूलता दूर होती है। यह पूज्यपाद स्वामी का प्रयोग मंदाग्नि का नाश करनेवाला है।

३५—रक्तदोषे तालकेश्वररसः

तालकं मृतताम्रं च समं खल्वे विमर्दयेत् ॥
वंध्याकर्कोटकीकंदस्वरसेन दिनत्रयम् ॥१॥
द्विगुंजं मधुना दद्यात् पश्चात् क्षौद्रोदकं पिवेत् ॥
रक्तदोषप्रशांत्यर्थं पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—तवकिया हरताल का भस्म तथा ताम्रभस्म ये दोनों खरल में बांझककोडा के कंद के स्वरस में तीन दिन तक घोंट कर दो दो रत्ती की गोली बांधे। उस गोली को सुबह शाम मधु के साथ सेवन करे और ऊपर से मधु का पानी पिये। यह रक्तदोष की शांति के लिये पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

३६—बहुमूत्रे तारकेश्वररसः

मृत तारं मृत वंग मृत कांताभ्रक समम् ॥
मर्दयेन्मधुना दिवस रसोऽयं तारकेश्वर ॥१॥
माषैकं लेहयेत् क्षौद्रैं बहुमूत्रनिवारण ॥
मूत्रदोषप्रशान्त्यर्थ पूज्यपादेन भाषित ॥२॥

टीका—चांदी का भस्म, वंग का भस्म, कांत लौह भस्म तथा अभ्रक भस्म ये चारों बराबर बराबर लेकर मधु के साथ एक दिन भर बराबर घोंटे और एक माशे की मात्रा से प्रात काल मधु के साथ सेवन करे। इसको बहुमूत्र रोग की शांति के लिये पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

३७—भेदिज्वरांकुशरस

रसस्य द्विगुण गंध गंधसाम्य च टंकणम् ॥
रससाम्य विष योज्य मरिचं पंचभागकं ॥१॥
कट्फल दंतिबीज च प्रत्येकं मरिचान्वितम् ॥
गुडूचीतुरसास्वरसै मर्दयेद्याममात्रकम् ॥२॥
माषैकेन निहन्त्याशु ज्वराजीर्ण त्रिदोषज ॥
क्षणे चोष्णं क्षणे शीत क्षणेऽपिज्वरमुत्कट ॥३॥
क्वचिद्रात्रौ दिवा क्वापि द्वितीय त्र्याहिक च तत् ॥
ज्वरचातुर्थिक चापि विषमज्वरनाशन ॥४॥

टीका शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग, सुहागे का फूला २ भाग, शुद्ध विष १ भाग काली मिर्च ५ भाग, कायफल ५ भाग तथा शुद्ध जमालगोटा ५ भाग इन सबको गुर्च तथा तुलसी के रस से घोंट कर रख लेवे। एक माशा की मात्रा से अनुपानविशेष के द्वारा देने से सब प्रकार के ज्वर, अजीर्ण, पित्तरोग, शीतजन्य रोग तथा उत्कट ज्वर सर्व प्रकार के विषम एव द्व्याहिक, त्र्याहिक, चातुर्थिक ज्वर आदि को शान्त करता है।

३८—क्षयकासादौ अग्निरस

शुद्धसूत द्विधा गंधं खल्वेन कृतकज्जली ॥
तत्सम तीक्ष्णचूर्ण च मर्दयेत् कन्यकाद्रवै ॥१॥

यामद्वयात् समुद्धृत्य तद्गोलं ताम्रपात्रके ॥
आच्छाद्यैरंडपत्रैश्च यामार्धेनोष्णतां भजेत् ॥२॥
धान्यराशौ न्यसेत् पश्चात् पंचाहात्तं समुद्धरेत् ॥
सुपेष्य गालयेद्वस्त्रे सत्यं वारितरं भवेत् ॥३॥
कन्याभृङ्गीकाकमाचीमुंडीनिगुंडिकानलम् ॥
कोरंटं बाकुची ब्राह्मी सहदेवी पुनर्नवा ॥४॥
शाल्मली बिजया धूर्तद्रवैरेषां पृथक् पृथक् ॥
सप्तधा सप्तधा भाव्यं सप्तधा त्रिफलोद्भवैः ॥५॥
कषाये घृतसंयुक्तं ताम्रपात्रे क्वचित् क्षणे ॥
त्रिकुटस्त्रिफला चैला जातीफललवंगकम् ॥६॥
एतेषां नव भागानि समं पूर्वं रसं क्षिपेत् ॥
लिह्यान्माक्षिकसर्पिर्भ्यां पांडुरोगमनुत्तमम् ॥७॥
स्वयमग्निरसो नाम क्षयकासनिकृन्तनः ॥
अर्च्यपादप्रकथनः सर्वरोगनिकृन्तकः ॥८॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग इन दोनों की कज्जली करे तथा कज्जली के बराबर शुद्ध तीक्ष्ण लोह का चूर्ण लेवे फिर सबको घीकुवांरी के स्वरस से २ पहर तक घोंटे और गोला बनाकर तांबे के संपुट में बंद करके ऊपर से एरंड के पत्ते से आच्छादन करके १॥ घंटे तक आँच देवे जिससे यह औषधि गर्म हो जाय फिर वह संपुट धान्य की राशि में रख देवे तथा ५ दिन तक धान्य राशि में रहने के बाद निकाले और अच्छी तरह पीस कर कपड़ा से छान ले। पश्चात् जल में डालकर देखे, यदि जल के ऊपर तैर जाय तो सिद्ध हुआ समझे। तदुपरांत घीकुवांरि (गवारपाठा) भेगरा, मकोय, मुंडी, नेगड, (सम्हालू) चित्रक, कुरंट, वाकची, ब्राह्मी, सहदेवी, पुनर्नवा, सेमल, भांग, धतूरा इन सबके काढ़े से या स्वरस से अलग अलग सात सात भावना देवे तथा उसमें थोड़ा घी मिलाकर ताम्बे के बर्तन में क्षण भर के लिये रक्खे फिर सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला छोटी इलायची जायफल, लौंग इन सबका चूर्ण और सब के बराबर ऊपर कहा हुआ अग्निरस लेकर घी तथा मधु के साथ सेवन करे तो पांडुरोग शांत होता है एवं क्षय खाँसी को भी इससे लाभ होता है। यह सब रोगों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

नोट—यह ऐसा योग है कि इस योग में इसी प्रकार से लौह भस्म हो जाता है—वैद्य महानुभाव संदेह न करें।

३६—ज्वरादौ महाज्वरांकुशरस

शुद्धसूतं विषं गंधं धूतबीजं त्रिभिः समम् ॥
सर्वचूर्णाद्द्विगुणव्योषं चूर्णं गुंजप्रमाणकम् ॥१॥
चटकं भृंगराजरसेन कारयेच्च विचक्षणः ॥
महाज्वरांकुशो नाम ज्वरान् सर्वान् निहन्त्यति ॥२॥
एकाहिकं द्व्याहिकं वा त्र्याहिकं च चतुर्थकम् ॥
विषमं वा त्रिदोषं वा हंति सत्यं न संशयः ॥३॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विष, शुद्धगंधक, एक एक भाग, बराबर बराबर तथा शुद्ध धतूरे के बीज तीन भाग, सब के चूर्ण से दूना सोंठ, मिर्च, पीपल का चूर्ण मिलाकर घोंट लेवे। फिर इस रस को एक एक रत्ती के बराबर भंगरा के स्वरस में गोली बनावे। यह महाज्वरांकुश रस अनुपान भेद से सब प्रकार के ज्वरों को तथा एकाहिक, द्व्याहिक त्र्याहिक और चतुराहिक त्रिदोषज आदि सब ज्वर को नाश करता है।

४०—उदररोगे शंखद्राव

स्फटिकं नवसारकं च लवणं तुल्यं च भागत्रयम् ॥
सार्धं भूलवणं हितं द्रवमिदं तत्तु भैरवीयंत्रके ॥१॥
सम्यक्पीतमिदं भगंदरमजीर्णं गुल्मादिशूलादिकम् ॥
शंखद्रावकनामधामुदरं भूतान् रोगान् हरेत् ॥२॥

टीका—फिटकरी, नौसादर, सेंधानमक व बराबर बराबर लेकर १॥ भाग कलमी शोरा सम्मिश्रण कर भैरवयंत्र के द्वारा शंखद्राव निकाले। इसके पीने से भगंदर, अजीर्ण, उदरशूल आदि अनेक उदर रोगों का नाश होता है।

४१—रेचने जयपालयोग.

जयपालस्य च बीजानि पिप्पली च हरीतकी ॥
समस्तं शुद्धचूर्णं तु वर्त्तिकाभिर्भावितम् ॥१॥
मरिचमात्रगुटिका ताम्बूलेन च मर्दयेत् ॥
एष्योदकेन वमनं शीतलेन विरेचनम् ॥२॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा के बीज, पीपल, बड़ी हर्र का छिलका, बड़ी हर्र के बराबर ताम्रभस्म इन सब को थूहर के दूध की भावना देवे तथा पान के रस के साथ काली मिर्च के बराबर गोली बांध लेवे। इसको गर्म पानी से सेवन करने से वमन होता है तथा शीतल जल के साथ खाने से विरेचन होता है।

४२——शीतज्वरे शीतकेशरीरसः

हिंगुलं टंकणं गंधं सूतं पुनः गंधकं॥
विषं तुत्थं कांतशिलाबोलतालनवसागरं ॥१॥
कारवल्लीरसे पिष्ट्वा मर्दयेद्याममात्रकम् ॥
चणमात्रवटीं कुर्यात् गुड़मिश्रं तु सेवयेत् ॥२॥
चातुर्थिकज्वरं हंति पथ्यं दध्योदनं हितम् ॥
सितेभकेशरी नाम पूज्यपादेन निर्मितः ॥३॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, सुहागा, शुद्ध गंधक, शुद्ध पारा, शुद्ध विष, तुत्थ भस्म, कांतलोह भस्म, शुद्ध शिला, शुद्ध बोल, शुद्ध तबकिया हरताल और शुद्ध नौसादर ये सब चीजें बराबर बराबर तथा गंधक दो भाग लेकर करेले के रस में एक प्रहर घोंट कर चना के बराबर गोली बनावे। इसको पुराने गुड़ के साथ सेवन करने से सब प्रकार का ज्वर नाश होता है। इसका पथ्य दहीभात है।

४३—शीतज्वरे शीतांकुशरसः

तुत्थं पारदटंकणौ विषबली स्यात् खर्परं तालकं ॥
सर्वं खल्वतले विमर्द्य गुटिकां स्यात्कारवेल्ल्याः द्रवैः ॥
गुंजैकप्रमितः सुशर्करयुतः स्याज्जीरकैर्वा युतः ॥
एकद्वित्रिचतुर्थकज्वरहरः शीतांकुशो नामतः ॥१॥

टीका—शुद्ध तूतिया भस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध सुहागा, शुद्ध विष नाग, शुद्ध गंधक, शुद्ध खपरिया, शुद्ध तबकिया हरताल इन सबों को लेकर खल में करेले के रस से मर्दन करके एक एक रत्ती प्रमाण गोली बनावे। मिश्री और जीरे के साथ एक एक गोली देने से सब प्रकार के विषमज्वर दूर होते हैं।

४४–हृद्रोगादौ सिद्धरस

जातीफलं सैंधवहिंगुलं च सुवर्णमिना विषपिप्पलीनाम् ॥
महौषधी वायुविडंगबेलबीज समस्तो मर्द्यजंबुनीरे ॥१॥
प्रहाद्वयं पृथुयाममात्र निरंतर कफसल्यमध्ये ॥
सुमर्दनीय वटक च कुर्यात् गुंजाप्रमाण सितया समेतम् ॥२॥
निर्हन्ति हृद्रोगप्रमेहवात वातातिसारग्रहणीशिरोरुक् ॥
करोति निद्रां कफशूलसिद्धरसोऽयमानन्दपति प्रसिद्धम् ॥३॥

टीका—जायफल, सेंधा नमक, सिंगरफ शुद्ध सुहागा, शुद्ध विष, पीपल, सौंठ, वायविडंग, और सत्यानाशी के बीज ये सब बराबर भाग लेकर जंभीरी नींबू के स्वरस में दो प्रहर घोंट कर एक एक रत्ती के प्रमाण गोली बनावे। यह गोली मिश्री की चासनी के साथ सेवन करे तो हृदयरोग प्रमेह वातरोग, वातातीसार, ग्रहणी तथा शिरोरोग शान्त होता है, बल्कि इससे निद्रा भी आती है और कफजन्य शूल इससे शान्त होता है।

४५—शूलादौ शूलकुठाररस

त्रिकुटं त्रिफलामृतं गंधटंकणतालकं।
ताम्रविषविषमुष्टिं च समभागं समाहरेत् ॥१॥
भागान्तिविमिश्रितं जयपालं च पृथक् ददत्।
सर्वं भृङ्गरसे पिष्ट्वा गुञ्जिकां कारयेत् भिषक् ॥२॥
ख्यातः शूलकुठारोऽयं विष्णुःसमभिदासुरान्।
सर्वशूले प्रयुक्तोऽयं पूज्यपादमहर्षिणा ॥३॥

टीका—त्रिकुटु, त्रिफला, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध सुहागा, हरतालभस्म, ताम्रभस्म विषनाग और शुद्ध कुचला ये सब एक एक भाग तथा बारह भाग शुद्ध जमालगोटा लेवे। सबको भंगरा के रस में घोट कर एक रत्ती प्रमाण गोली बनावे और एक एक गोली गरम जल से दे तो कैसा ही शूल हो अवश्य शान्त होगा। जिस प्रकार विष्णु के सुदर्शनचक्र से असुरों का नाश हुआ उसी प्रकार इससे शूल का नाश होता है।

४६—अजीर्णादौ अर्धनारीश्वररसः

विषं सगंधं हरितालकं च मनःशिला निस्तुषदंतिबीजं ॥
सूतं सताम्रं दरदैः समेतं प्रत्येकमेतत् समभागकं स्यात् ॥१॥
निर्गुंडिपत्रस्य रसेन पेष्यं धत्तूरपत्रं सहमंजरी च ।
दिनत्रयं मर्दित एव सम्यक् गुंजाप्रमाणां गुटिकां प्रकुर्यात् ॥२॥
छायाविशुष्कं सगुडं च भक्ष्यं अपक्वदुग्धमनुपानमेव ।
सकोष्णवारिसदनानुपानं रसोऽर्धनारीश्वरनामधेयः ॥३॥

टीका—शुद्ध विष, शुद्ध गंधक, हरिताल भस्म, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध जमालगोटा, शुद्ध पारा, ताम्रभस्म तथा शुद्ध सिंगरफ ये सब समान भाग लेकर सम्हालू की पत्ती के रस की भावना देवे फिर धतूरे के पत्तों के रस की बाद में तुलसी के पत्तों को रस की भावना देवे। इन तीनों के रस को तीन दिन तक लगातार भावना देने के पश्चात् एक एक रत्ती प्रमाण गोली बांधे और छाया में सुखावे। पुराने गुड़ के साथ सेवन करने के बाद एक पाव कच्चा दूध पिये और यदि अजीर्ण हो तो यह गोली गर्म जल के अनुपान से देवे। यह अर्धनारीश्वर रस उत्तम है।

४७—प्रमेहचन्द्रकलारसः

एला तु कर्पूरशिलासुधात्रीजातीफलं गोक्षुरशाल्मलीत्वक् ।
सूतं च बंगायसभस्ममेतत्समं समं तत्परिभावयेच्च ॥१॥
गुडूचिकाशाल्मलिकारसेन निष्कार्धमानं मधुना च दद्यात् ।
बद्ध्वा गुटी चन्द्रकलेतिसंज्ञा मेहेषु सर्वेषु नियोजयेच्च ॥२॥

टीका—छोटी इलायची, शुद्ध कपूर, शुद्ध शिलाजीत, आँवला, जायफल, गोखरू, सेमल की छाल, शुद्ध पारा, बंगभस्म और लौहभस्म ये सब बराबर बराबर लेकर खरल में गुर्च तथा सेमर के कंद के स्वरस में घोंट कर गोली बनावे और सुबह शाम १॥ माशे की मात्रा से शहद में सेवन करने से सम्पूर्ण प्रकार के प्रमेह शान्त होते हैं।

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol I] March, 1936 [No 4

Editors

Prof HIRALAL JAIN, M A, LL B, P E S,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti, U P

Prof A. N UPADHYE, M A,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, Kolhapur, S M C

B KAMTA PRASAD JAIN, M R A S,
Aliganj, Distt Etah U P

Pt K BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, Arrah

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 4 Foreign Rs 4-8 Single Copy Rs 1-4

Om

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol I No IV | ARRAH (INDIA) | March, 1936

Rules for Ascetics in Jainism, Buddhism & Hinduism

[S C GHOSHAL M A B L Saraswati Kavyatirtha Vidyabhushan Bharati]

Hinduism, Buddhism and Jainism are the oldest religious movements in India, where a very large number of different religions have originated and secured innumerable votaries Though there is evidence about the definite time when Buddhism was first preached, the origin of Hinduism and Jainism is lost in obscurity The earliest work on Hinduism is the Vedas, and the later Upanishads and Grihya and Dharma Sutras contain much valuable information regarding the principal tenets and practices of ancient Hindu religion If we compare these with the same of Buddhism and Jainism we shall find that the principal tenets and practices are similar in al these religions and the subsequent quarrels and frictions between the different votaries of these religions took rise in minor differences among householders The sages of all those sects who were advanced in higher planes viewed with equanimity others without the slightest bitterness

We shall show in this article that some of the practices in Jainism vehemently attacked by Hindus and Buddhists were included in their own religious doctrines.

Jains have mostly been attacked for prescribing nakedness Gautama Buddha attacked naked saints who are called Achelakas Buddha said "O Bhiksus There are some Achelakas who attend calls of nature and eat in a standing posture They lick their palms and fingures after eating. They do not go to beg, if called. They do not wait, if asked to do so. They collect rice by begging before all. They never accept alms, if the same be prepared for them beforehand. They never accept any invitation. They do not accept alms if offered from Kunti, Udukhal, Falaka, Danda and Musala. They do not accept alms if one among two persons rises up while eating and offers alms They do not accept alms from a pregnant woman, from a woman who is engaged in suckling an infant, ...They never touch fish or flesh. They never drink wine. They are satisfied with what they can get from a single house. ... .. . They eat at intervals of one, two seven or fifteen days. They live on vegetables. They practise meditation standing They lie on thorns. Anguttara Nikāya—Achelaka Bagga. See also Manorathapurani).

In Dandavaggo we find Buddha speaking thus:

"ण णग्गचरिया ण जटापङ्का णाणासका थण्डिलसायिका वा।
रजो व जल्लं उक्कुटिकप्पधाणं सोधेण्ति मच्चं अवितिणकङ्खं॥
अलंकतो चेपि समं चरेय संतो दन्तो णियतो वम्भचारी।
सव्वेसु भूतेसु णिधाय दण्डं सो वम्भणो सो समणो सो भिक्खु॥"

I, E, "Nakedness, matted hair, mud, fasting, lying on the ground, smearing the body with dust or standing still cannot cleanse a man who is not free from desire. Even if a man wears ornaments, if he be calm, collected and steady, and practises Brahmacharya and refrains from oppressing creatures, he is the real Brahmin and he is the real Sramana," he is the real Bhiksu.

The Achelakas here referred to are the same who have practices of Digambara Jain saints. In the work named Mulāchāra by

Batterakāchārya we find that the condition of an Achelaka means non covering of the body by cloth, deer skin barks, or leaves of trees [1] It has also been mentioned that ascetics should eat while standing and in the palm of their hands [2] Begging from a pregnant woman or from a woman engaged in suckling an infant is also prohibited [3] The faults arising from fireplace, Udukhalas, and vessels, etc have been mentioned for evidence [4] The previous arrangement for alms to particular persons have been prescribed as prohibitive [5] That the Jain monks did not accept invitations like Brahmins appear from a story in the Panchatantra where a Jain sage being invited says "O Srāvaka, why do you, who know Dharma, speak thus? Are we like the Brahmanas that you are inviting us? We always move about according to rules and if we find a Srāvaka having reverence, we go to his house, and if he prays with great persistence we eat as much in his house as would enable us to live"[6]

Naked saints were not peculiar to Jain religion only, but were also found in the Hindu religion specially in the Sivaite sects The fourth stage of life named Sannyāsa or Bhiksu enjoined that the saints should wear only a Kaupin or remain entirely naked

(1) "वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथ अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥"
(2) "अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं ।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥"
(3) "अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया ।
अंतरिदा य णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था ॥
खेवयमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खविय ।
एव विदा दिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ॥"
(4) "अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं ।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ॥"
(5) "जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो ।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥"
(6) "भो श्रावक! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि? किं वयं ब्राह्मणसमाना, यत आमन्त्रणं करोषि?
वयं सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छाम, तेन
महता यत्नेन अभ्यर्थिता तद्गृहे प्राणधारणमात्रामशनक्रियां कुर्मः ।"

In Siva Purāna it is enjoined that if one thinks the practice of wearing clothes to be not correct, and if he has renunciation, he should leave even the staff and Kaupin; otherwise he may retain these two while entering upon the Asrama known as Sannyāsa [7] The method of initiation of a saint is prescribed in the said Purāna, and it has been mentioned that the wearing cloth should be laid aside and the desciple should walk naked for more than seven paces, but if he wishes to retain a loin-cloth conforming to the ideas of ordinary householders he may take up a Kaupin and a staff given to him by his Guru.[8] One who has conquered shame should practise nudity, while one who has not attained this stage but suffers from a sense of shame is permitted to wear a cloth or a skin.[9] This alternative, however, has not been accepted as praise-worthy, for it has been mentioned that he is the best of saints and he is the highest of penitents who discards the staff, loincloth, girdles, etc.[10] In Jābālopanishad, Paramahansa Upanishad, Nārada-paribrājakopanishad, Bhiksukopanishad, Turiātitopanishad, Sannyāsopanishad and Paramahansaparibrājakopanishad we find Param-

(7) "गृह्णीयाद्दण्डकौपीनाद्युचितं लोकवर्तने।
विरक्तश्चेन्न गृह्णीयाल्लोकवृत्तिविचारणे॥"

(Siva Purana Kailasa Sanhita. III 51)

(8) "प्राश्याचम्य समागम्य भूमौ वस्त्रादिकं त्यजेत्।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा गच्छेत् सप्तपदाधिकम्॥
किंचिद्दूरमथाचार्यस्तिष्ठ तिष्ठेति संवदेत्।
लोकस्य व्यवहारार्थं कौपीनं दण्डमेव च।
भगवन् स्वीकुरुष्वेति दद्यात् स्वेनैव पाणिना॥"

[*Ibid*. IX 74-76]

(9) "ततस्तु जटिलो मुंड शिखैकजट एव वा।
भूत्वा स्नात्वा पुनर्वीतलज्जश्चेत् स्याद्दिगम्बरः॥
अन्यः काषायवसनश्चर्मचीराम्बरोऽथवा।
एकाम्बरो वल्कली वा भवेद्दण्डी च मेखली॥"

(Siva Purana Vayaviya Sanhita XXIX. 20—21)

(10) "ततो दण्डजटाचीरमेखलाद्यपि चोत्सृजेत्।
सोऽत्याश्रमी च विज्ञेयो महापाशुपतस्तथा।
स एव तपतां श्रेष्ठः स एव च महाव्रती॥"

hansas and Jnana Vairājnva Sannyāsis, who never wear any clothes[11] In the Tantras also we find naked Avadhuts[12] In Siva Purāna, Kurma Purāna, Padma Purāna, etc, we find stories of Hindu naked saints moving about freely in the courts of kings, or in hermitages before females and begging alms from female householders[13]

It is only at a very late stage that nudity became an object of repugnance to a certain section of the Hindus, and we see a rule in the Hindu Smriti that one should practise purification when one sees a naked saint Nakedness became associated with Jainas only, forgetting that the highest gods and goddesses of the Hindus like Siva and Kāli are naked, and the great sages of old were advocates of nudity when they reached the fourth stage of the Asramas prescribed in the Shastras for the Hindus

There are rules for Paribrājakas following Hinduism in the Vedic period for observing nudity In Apastamba Dharmasutra we find

"Tasya muktamāchchhādanam vihitam"
"Sarvatah parimoksameke"

In Vaikhānasa Dharmaprasna we read

"Paramahansa nama sāmbara digambara va"

As regards the practice of non washing the body, we find that Asnāna is one of the Mulagunas of the Jainas

"Nhānādi bajjanena va vilitta jalla malaseda sabbangam
Anhānam ghoragunam samjamadugapalayam munino"

(MULACHARA)

i e, a Yati should desist from bathing, etc, and his body may

(11) For a detailed description and quotations see my work entitled The Digambara Saints of India Pages 40 44

(12) "दिगम्बरो वा वारद्धाथवा कौपीनी भवेत् ।" (Nirvana Tantra)

Also "अवधूतश्च द्विविध गृहस्थश्च चितानुग ।
सचेलश्चापि दिग्वासा विधियोनिविहारवान् ॥
सदारी स्वदारस्थो ह्यद्वयो दिगम्बर ।" (Mundamalā Tantra Patala II)

(13) See my The Digambara Saints of India Chapter IV

be covered with dirt, sweat, etc., and he should practise at the same time the restraint of the senses and the mind.

In Gobhila Grihya sutra we find that the Brahmachāries in the Vedic ages were forbidden to bathe :

"Snānam."

From the previous Sutra the word "Barjjaya" follows. This means "Leave bathing." In Apastamba Dharamsutra we find :

"Angāni na praksālhyata"

i.e. "Do not wash the limbs." In the following Sutra it is mentioned that if any one touches an unclean thing he can wash his body.

The point is that a sage should not constantly give his thoughts to his body, as his attention should always be to higher things.

The Jaina sages do not cleanse their teeth

"Angulinhavalehanikalihim pasanachhalliyadihim.
Dantamalasohanayamsamjamagutto adantāmanam"

(MULACHĀRA.)

i.e. A Yati should not clean his teeth by fingers, nails, tooth-picks or other articles

The Vedic Brahmachāri also did not clean his teeth. In Gautama Dharma Sutra we find :

"Barjjayen madhumānsa... ..snāna-dantadhāvana......"
i.e. "Leave Honey, flesh.... ..bathing and cleaning teeth."

About the very spare eating of the Jain saints mentioned in Achelaka bagga quoted above, we my mention that in Hinduism and Buddhism we find constant injunctions about restraining food. Aswaghosa in his Buddhacharita has put into the mouth of Buddha :

"Āharah prānajātrāyai na bhogāya na driptaye."
i.e. "The food should only be to keep the life and not for enjoyment or pride."

Apastamba has mentioned that a person following the Bānaprastha Asrama should pick up the grains after the reapers remove the crops. They should not take anything more.

"Silonchhena vartayet Na chāta Urddhwam pratigrinhiāt"

In Vasistha Dharmasutra we find

"Prānajātrikamātrah syāt"

i e "Be only content with what is essentially necessary to live" Baudhāyana also says

"Ahāramātram bhunjita kevalam prānajātrikam"

i e "Eat only that food which enables one to live"

In the Satapatha Brāhmana we find

"Yaduha va atmasammitamannam tadavati tanna hinasti Yad bhuyo hinasti tad yat kaniye na tadavati"

i e "That rice which is measured according to one's necessity, never causes any suffering That which is much, causes suffering That which is less than necessary, cannot keep on life"

In the Srimadbhagavadgitā also it has been mentioned

"Yuktāhārabihārasya yuktachestasya karmasu
Yuktaswapnābabodhasya yogo bhavati duhkhahā"

i e "The Yoga of one who practises eating, sleeping, waking, movements and action keeping due moderation becomes capable of removing sufferings'

The same thing has been clearly set forth in Mulāchāra

"Na balayusauattam na sarirassuvachayatta tejatam
Nānatta samjamattam jhānatam cheva bhunjejje"

i e 'Do not eat to gain strength long life, sweet taste, development of the body or spirit" Eat for the sake of knowledge, restraint and contemplation"

As regards the practice of Jaina Yatis regarding lying on the ground, Mulāchāra lays down

"Phāsuya bhumipavese appamasamtharidamhipachchanne
Dandam dhanubba sejjam khidisayanam eyapāsena"

i e 'A Yati should lie on a place where there are no living creatures which may be killed by the pressure of his body The place should be secluded and the bed should be of insignificant materials such as grass He should lie on one of his sides either

straight like a rod or a little curved like a bow, but never on his back or with his face downwards."

It will appear from the rules prescribed for the Vedic Brahmachāris that they also were enjoined to lie on the ground. In Khādira Grihya Sutra we find.

"Adhah sambesi"

i.e. "He should lie on the ground." The commentator Rudraskanda has mentioned that this rule prohibits the use of cots etc. In the commentary of Apararka of Yājnyabalkya Samhitā the following rule from Yama is quoted:

"Khattvāsanancha sayanam barjjayed dantadhābanam.
Swapedekah kuseswevа."

i.e. 'Discard sitting or lying on cots, refrain from cleansing teeth, and sleep alone on the Kusa grass"

In Vasistha Dharmasāstra we find:

"Khattasana dantapraksalanabarjji."

i.e. "One should refrain from lying on cots and washing the teeth." In Paribrājaka Dharma (10. 8) there is a rule that one should be "Sthandila sāyi" *i.e.*, a sleeper on the ground"

The rule that the Jaina ascetics should remain in the same place during the rainy season was also followed by the Hindu and Buddhist saints. In Gautama Dharmasutra it is enjoined that a Bhiksu should remain in the same place during the rains. "Dhruvasile Barsāsu" (3 12)

The Buddhists also followed this practice. In Mahābagga we find that when Buddha was in Rajagriha he was informed that the Sākyaputra Sramanas wandered during the rainy season causing damage to young grass and destroying small creatures Buddha then ordered that his desciples also should remain in the same place during the rainy season.

The Vedic Bhiksus did not reside in houses. (Apastamba 2. 9. 21. 10). The Sākyaputra Sramanas following the Buddhistic religion at first resided in forests, under the trees, in open fields or in caves. In Chullabagga we find that according to the

request of a Sresthi in Rajagriha, Buddha permitted the Bhiksus to reside in Viharas or Asramas We find Jain saints also residing in open air

Apart from these external practices, we see a similarity in the principles which are essential in Hinduism, Jainism and Buddhism

A Jain Yati has to practise twenty eight Mulagunas, which are five Mahabratas, five Samitis five kinds of control of senses, six Avasyakas, uprooting of hair, non bathing, nudity, not cleansing the teeth lying on the ground taking food in the standing posture and only in the hollow of the hands and eating only once during the day We have already shown that in the Hindu and Bauddha systems there are outward practices similar to those in Jainism regarding nudity non bathing, not cleansing the teeth and lying on the ground Regarding uprooting the hair the Jain ascetics uproot the hair of the head, beard, and moustache every two months or every three months, or every four months Fasting and Pratikramana should be practised on that day In Mulachara this is thus enjoined

"Viya tiya chaukka māsa loche ukkassa majjhima jahanno
Sapadikkamane divase uvavasenera kayavve"

In Gautama Dharmasutra we find :

"Mundah sikhi vā"

i.e A Bhiksu should shave his head, or keep only a tuft of hair

Haradatta in his commentary on this Sutra writes

" Sarvāneva kesān saha sikhaya vāpāved Sikhabarjjam vāpayed vā Ata Sruti smriti

" Agneriva sikhā nānyā yasya jnānamayi sikhā
Sa sikhitityuchyate vidwānnetare kesadhārinah "

i e Shave off all hair including the tuft or excluding it So it has been mentioned in the Srutis and Smrities

He is the really tufted person who has the tuft of knowledge like a flame of fire Others are merely holders of hair

The Buddhist monks also shaved their heads

The five Mahābratas of the Jains are: 1. Ahimsā, not to cause any injury to any living being by thought, speech or conduct; 2. Satya, truth in thought, speech or action. 3. Asteya, to take nothing unless and except it be given. 4. Brahmacharya, chastity and 5. Parigrahatyāga, renunciation of worldly concerns.

In Tattwārthādhigamsutra these are thus enumerated:

"Himsānritāsteyabrahmaparigrahevyo biratirvratam."

In Baudhāyana Dharmasutra all these five have been mentioned as Vratas. *Viz.*

"Athemāni Vratāni bhavanti Ahimsā Satyam Astainyam Maithunasya cha barjjanam Tyāga ityeva." 2, 10, 41.

In Pātanjala Yogasutra the Angas of Yoga are described in Chapter II. Among these Yogāngas are the five Yamas. These are nothing but the same Mahāvratas of the Jainas. The two Yogasutras are:

"Yamaniyamasanaprānāyāmapratyāhāradhāranādhyāsanamādhayostwavangāni."

"Ete jatidesakalasamayanavachchinnah sarvvabhaumah Mahavratam."

Yogasutra. II—30. 31.

In the rules for the Vedic Brahmacharis, also, these are mentioned in different places In Apastamba 1, 1, 2, 26 we find "He shall preserve chastity." In Gautama III, 12 we find." "He must be chaste" In Gautama III, 11 we find: "An ascetic shall not possess any store." The Buddhists have Panchasila or Panchasiksāpada which are the same as the five vratas of the Jainas. These are: 1. One should refrain from Prānātipāta. 2. One should refrain from Adattādān. 3. One should refrain from Abrahmacharya. 4 One should refrain from Mrisābāda 5. One should refrain from drinking wine.

Next come the five Samitis of the Jainas. These are:

1. Iryā, or A Yati should walk carefully during the day-time, avoiding trampling of insects etc, and only with some specified object.

"Phāsuyamāggena divā jugāntarappehinā sakājjena
Jantunā pariharantenirıyāsamidi have gamanam"

MULACHARA

2 Bhāsā A Yati should refrain from finding fault with, or ridiculing others He should not praise his own acts, and should not engage in harsh talk or undesirable gossip

"Pesunnahāsa kakkasa paranindā pprappa samsa bikahadi
Vajjitā saparahiyam bhāsāsamidi have kahanam"

MULACHĀRA

3 Esanā A Yati should eat pure food free from forty six kinds of faults He should eat only to appease hunger, being indifferent whether the food be hot or cold

"Chhadaladosasuddham karanajuttam visuddhanavakodi
Sidadisamabhutte parisuddha esanāsamidi"

MULACHARA

4 Adānaniksepa This consists of careful handling of materials such as books, brush of peacock feather water pot etc

"Nanubahi samjamuvahim sauchuvahim annamappa muvahim vā
Payadam gahaniksseve samidi adānaniksepa"

MULACHARA

5 Pratisthāpanika This is easing oneself in a place solitary and hidden from the eyes of men, and which is not prohibited from being used for such a purpose, which is at a distance from villages and residences of people, and where there are no holes (where insects etc may live)

"Egante achchitte dure gudhe visalamabiroho
Uchcharadicholiao padithavaniya have samidi"

MULACHARA.

In the rules for Vedic ascetics we also find the same enjoined In Gautama III 17 and 18 we find "Abandoning all desire for sweet food" "He shall restrain his speech, his eyes and his actions" In Baudhāyana 2, 3, 20 we find "Let him not make empty, ill sounding, or harsh speeches"

In Āpastamba Dharma-sutra it is enjoined "Let him not be addicted to gossipping." "Let him be discreet." 1, 1, 3, 13, 14.

"Let him avoid to praise himself before his teacher, saying "I have properly bathed or the like" (*Ibid.* 1, 11, 32, 10.) "He shall......observe silence, uttering speech on the occasion of the daily recitation of the Veda only." (*Ibid* 2, 9, 21, 21.) Gautama prescribes that it is prohibited "to make bitter speeches." II. 19. "A Brahmin shall always abstain from spirituous liquor" II, 20. 'He shall keep his tongue, his arms, and his stomach in subjection" II, 22. "He shall avoid to contend with words" "He shall keep his organ, his stomach, his hand, his feet, his tongue, and his eyes under due restraint' IX. 50.

Vasistha lays down. "To avoid backbiting, jealousy, pride, self-consciousness, un-belief, dishonesty, self-praise, blaming others, deceit, covetousness, delusion, anger, and envy is considered to be the duty of men of all orders" X, 30. "Let him not make empty, ill-sounding, or harsh speeches" II, 3, 6, 20.

Very detailed rules are given in the Dharmasutras for attending calls of nature. Some of these are given below :

"He shall eat facing the east, void fæces facing the south, discharge urine facing the north"

"He shall void excrements far from his house, having gone towards the south or southwest." Apastamba 1, 11, 31, 1, 2.

"Let him not ease nature without first covering the ground with grass or the like.

Nor close to his dwelling.

Nor on ashes, on cowdung, in a ploughed field, in the shade of a tree, on a road in beautiful spots.

Let him eject both urine and fæces facing the north in the daytime." Gautama, IX. 38-41.

"A man who knows the sacred law shall perform in secret all acts connected with eating, the natural evacuations, ...And a man shall void both urine and fæces facing the north in the daytime." Vasistha VI 9-10.

The rule about control of the sense organs as laid down for the Jaina ascetics is this

" Chaksu sodam ghānam jibbhā phāsam cha indiyā pancha
Sagasagavisayachinto nirohiyabbā sayā muninā "

i e A sage should not see dancing, hear sounds of musical instruments, enjoy scents of sandal, etc , eat food palatable like the same used by *householders*, or *touch articles giving* a sense of pleasure

In the Vedic rules for Brahmachāris, the same control of the senses has been ordained

" Nor pungent condiments salt, honey, or meat "
" He shall not use perfumes "

" He shall not embellish himself (by using ointments and the like) " Apastamba 1, 1, 2, 23, 25, 27

" Let him restrain his organs from seeking illicit objects " *Ibid* 1, 1, 3, 18

In Gautama we find ' He shall avoid honey, meat, perfumes, garlands, sleep in the daytime, ointments, collyrium, a carriage, shoes, a parasol, love, anger, covetousness, perplexity, garrulity, playing musical instruments, bathing, cleaning the teeth, elation, dancing, singing, calumny, and terror II : 13 (He shall avoid to show himself covered with perfumed ointments or wearing garlands" IX 32

" There is no salvation for him, who is addicted to the pursuit of the science of words, nor for him who rejoices in captivating *men, nor for him who is fond of good eating and fine clothing*, nor for him who loves a pleasant dwelling " Vasistha X. 20

' Let him avoid dancing, singing, playing musical instruments, the use of perfumes, garlands, shoes, or a parasol, applying collyrium (to his eyes) and anointing the body "

(Baudhāyana 1, 2, 3, 24)

In Buddhism, also, Astasilas or eight Silas are prescribed and the seventh and eighth Silas prescribe that the Bhiksus should refrain from dancing, music, playing upon musical instruments and they should not use garlands, ointment, and ornaments

Seeing these similarities in the rules for ascetics, western scholars like Prof. Max Muller in Hibbert Lectures, Prof. Buhler in his translation of the Baudhāyana Sutra, Prof. Kern in his History of Buddhism in India, and Prof. Jacobi in his Introduction to the translation of the Jaina Sutras (Sacred Books of the East Vol. XII Part I) have come to the conclusion that the originals of the monastic orders of the Jainas and Buddhists are to be found in the Hindu ascetic. "The Brahmanic ascetic was the model from which they borrowed many important practices and institutions of ascetic life." (Jacobi.)

It may, however, be remembered that the rules for renunciation of the wordly objects and practising penances are similar everywhere in the world. The penances of ascetics in India find their counterpart in the suffering of Christian saints. With the advance in successive stages of asceticism hermits of every sect and every country take up almost similar practices with a slight difference according to the climatic conditions In a warm country like India it is essential that the hermits should make themselves used to the biting of mosquitoes and flies and we find instructions regarding the same in Hindu and Jaina canons Baudhāyana prescribes ·

"Na druhyed dansamasakān himavān tapaso bhabet."

i.e. A hermit should not be averse to bites from flies and mosquitoes. In Jainism it is one of the Parisahas to endure the biting of flies and mosquitoes Even Christian saints like Macarius of Alexandria, St. Marc of Athens, and Saint Mary of Egypt moved about without any clothing to protect their bodies against the inclemencies of weather.

As a result of these outward practices the internal change is the same in hermits of all classes. There is the thought of Maitri, Pramoda, Kārunya, Mādhyastha ("Maitri-pramoda-kāruny-mādhyasthyāni cha sattwagunadhikaklisyamanabinayesu" Tattwartha-sutra VII 11) in their minds. (Maitri-karuna-muditapeksanam sukhaduhkha punyapunyavisayanam bhabantah chittaprasadanam" (Yoga sutra of Patanjali I, 33) The Asravas are checked by Sambara according to Jainism, which Sambara is described thus in Buddhism:

"Kāyena samvare sādhu sādhu vāchaya samvare
Manasā samvare sādhu savvattheo samvare"

(Dhammapada Bhiksubaggo 2

We should therefore remember that though the goal is the same, the paths and means of locomotion are different according to the inclination of different persons As Ramakrishna Paramahansa has said, "Though men appear alike on the outside they are entirely different in their internal likings and capacities So, what is good for one is injurious to another" Religious teachers in India always recognized this, and prescribed rules to suit individual tendencies This is opposed to the congregational activities of the West and the idea of the Church In India it is the Guru who judges what is suitable for the religious aspirant and individual struggle is necessary for one's spiritual uplift The rules to help one advancing in the religious path are in substance the same, though in practice these may have become different It is useless to quarrel for these differences, for every rule and custom was introduced for a particular purpose, and men are free to choose what is suitable for them according to their belief In the words of Ramakrishna "He alone is really great who can realize the truth in the different doctrines"



इन्द्र (एलोरा)

(दक्षिण भारतीय कला)

JAIN ART IN SOUTH INDIA

(By Prof Shripad Rama Sharma, M A)

[*Continued from page 62*]

Yet Ellora forms one of a group, there are others, more ancient, further South "When Buddhism was tottering to a fall" observes Burgess "the Jainas timidly at first in Dharwar and the Dekkhan, and boldly afterwards at Elura, asserted themselves as co-heirs to the Buddhists, with the Brāhmans"[1] The caves at Ellora, being thus of later date, are supposed to represent a decadent age in Jaina sculpture The rock cut style was only a passing episode in their architectural history and was dropped by the Jainas when it was no longer wanted It has had no permanent effect upon their own peculiar style "Notwithstanding this, however, the architects who excavated the two Sabhās at Elūra," says Burgess, "deserve a prominent place among those, who, regardless of all utilitarian considerations, sought to convert the living rock into quasi eternal temples in honour of their gods"[2] There are similar excavations in the Deccan at Bādāmi, Aihole, Dharasinva, Ankai, Patany, Nasik and Junagad, as well as in the far South of Kulumulu or Kalugumalai in the Tinnavelly District The caves at Dharasinva (37 miles n of Solapur) are, perhaps the largest of these The halls here are of considerable size being 80 ft deep and 70 85 ft across, with eight cells in each of the side walls and six in the back, besides the shrine In one is an image of Parsvanātha with a seven hooded serpent above him, seated on a throne, in *jnāna mudrā* Hanging from the east is a carved representation of rich drapery In front of it was a wheel set edge wise, with antelopes at each side Then there are *śardulas* and other non descript monsters as well[3] That at Aihole is two storeyed with a number of halls attached as at Ellora From their appearance, as well as the presence of the peculiarly Southern Gummata (as at Bādāmi) Fergusson concludes that the excavators must have

1 Burgess op cit., p. 510

2 *Ibid* pp 511 12 cf his Report on the Cave Temples in Western India p 44 f.

3 *Ibid*., pp 503-04, Fergusson, op cit pp 18 19

other walk of life For instance, in the Chandragupta Basti at Śravana Belgola, the façade is made of a perforated stone screen containing as many as ninety sculptured scenes of events in the lives of Bhadrabāhu and Chandragupta [1] It also finds illustration in the pictorial art of painting On the walls of the Jaina Matha at Belgola are several examples of how the chief tenets of their religion were sought to be inculcated by means of this art In one of the panels (North) Parsvanātha is represented in his *samavasaraṇa* or heavenly pavilion where the Kevalin or Jina preaches eternal wisdom to the *śrāvaka* A tree with six persons on it illustrates the six *leśyas* of Jaina philosophy by which the soul gets *merit and demerit* Neminātha is also similarly represented in the act of expounding religious doctrine The only secular scene that finds a place there is that of Krishnarāja Odeya III during his *Dasarā darbār* (on the right panel of the middle cell) [2] But even such paintings are very rare in South India There is nothing in what has survived of Jaina art in South India comparable with the immaculate Buddhist frescoes of Ajanta A few traces of old paintings are still to be seen on the ceilings of the Ellora caves There are also some at Cānchipuram and Tirumalai in the South [3] Dubreuil has drawn attention to others at Sittanavasal in Pudukottai State near Tanjore, assigned to about the 7th cent A D [4] These paintings are in a Jaina rock cut temple akin in their style to Ajanta but less forceful and impressive [5] More interesting perhaps, are those of Tirumalai (N Arcot) Smith says, the Jaina holy place at Tirumalai is "remarkable as possessing the remains of a set of wall and ceiling paintings ascribed on the evidence of inscriptions, to the 11th cent A D (B I ix,229)," [6] Traces exist of still older paintings covered up by the existing works But with the exception of one they are

1 Rice Mysore and Coorg from the Inscriptions, p 5 cf Smith op cit pp 270
2 Cf Ep Car II Introd., pp 80 81
3 Coomaraswamy op cit pp 118-18, Ibid III Pl LXXX 256
4 Dubreuil Pallava Painting p 3 Coomaraswamy op cit., p 89
5 Cf Ajit Ghose A Comparative Survey of Indian Painting I H Q II 2 p 303
6 Smith, op cit, p 344

said to be purely conventional and of little artistic importance. That exception is a representation of twelve Jaina nuns who are white-robed. But they are not to be supposed that they are Śvetāmbara; for we have seen that such an order of Digambara sisterhood still exists in the Arcot district, of whose antiquity, therefore, this is a valuable confirmation.[1]

Apart from this mural painting, there was another kind of Jaina art which was particularly prevalent in Guzerat, *viz*, the art of illustrating with beautiful pictures manuscripts of not less artistic interest than they were of religious importance Dr. Coomaraswamy has observed that Mediaeval Indian art has nothing finer to show than these Jaina paintings; only the early Rajput pictures of *rāgās* and *rāginis* are of equal aesthetic rank [2] A short allusion to these therefore would not be a digression, especially as the 'subjects' dealt with are persons of vital interent to our history.

"The tradition of Jaina painting", says Coomaraswamy, "is recovered in manuscripts of the thirteenth and subsequent centu ries. The text most frequently illustrated is the *Kalpa sūtra* of Bhadrabāhu, containing the lives of the Jainas, most of the space being devoted to Mahāvira There are also illustrated cosmologies and cosmological diagrams, and appended to the *Kalpa Sūtra* there is usually to be found the edifying tale of Kālikācharya.........The pictures take the form of square panels of the full height of the page, occupying spaces left for the purpose; only in very rare cases is the whole page used. The proper subject to be represented is often indicated by a marginal legend, sometimes by a diagramatic marginal sketch, former doubtless due to the scribe, but the latter to the artist taking note of his instructions The same subjects are repeated in the various manuscripts almost without variation It is quite evident that both in composition and style the pictures belong to an ancient and faithfully preserved tradition" [3].

There is a similarly illustrated manuscript of *Bhaktāmara Stotra*, in the Ailak Panālal Digambara Jaina Saraswati Bhavana

1. Cf. Thurston, Castes and Tribes of Southern India, II, pp 432-33.
2 Coomarswamy, Introduction to Indian Art, p. 117.
3, Ibid, pp. 214-15,

(Bombay), which however, being on paper unlike the palm leaf described by Coomaraswamy, has full page coloured paintings of unique artistic value It is a *pity that it is so damaged* and worn out that at the slightest touch the paper crumbles to dust Not the least interesting figure in it (out of nearly forty) is that of a four headed Digambara Brahma, standing on a lotus stool with the Bull of Ādinātha below There is a triple umbrella over his heads, the whole profile being surrounded with a halo of light On the right is a naked *sādhu* standing on a wooden seat, and on the left a crowned royal figure On the inner surface of the back over leaf are carelessly scribbled the words 'संवत् १७५१ वर्षे फागुणवदि १३ दिने खरतरगच्छ पास्तव्य श्रीवृद्धमानगणी पमोचंदजी लिखेति ।' (Sam 1751, Phalgun 13) But the contrast of this with the artistic script of the text as well as the present condition of the manuscript makes it appear to be much older Other manuscripts on palm leaves like *Pampā Bhārata* in Kanarese script, are not wanting in this treasure house of Jaina manuscripts One more example of book illustration, the only one I have seen of South India, is that from an old illumined manuscript of Nemichandra's *Trilokasāra* where the great teacher is represented as expounding the doctrines of his religion and among the auditorium is said to be Chāmundarāya, *his famous disciple, who caused the Belgola colossus to be erected* [1]

From this we must now turn to yet another form of Jaina art, namely, that of inscribing on rock or copper plate, some of which are of not less artistic interest than they are of historical value The Kudlur plates of Mārasimha Ganga, for example are both literature art, and history rolled in one Particularly note worthy in it is the seal which is beautifully executed It is divided transversely into two unequal compartments, the upper enclosing about three fourths of the space, and the lower about one fourth The upper division has in the middle a fine elephant in relief, standing to the proper right, sur mounted by a parasol with the sun and the crescent at the upper corners Behind the elephant is a lamp-stand with what

[1] For a facsimile of this illustration see *Dravyasamgraha* S B J I Introd p XXXIX (facing)

looks like a *chouri* above it, and in front is a vase surmounted by a dagger, and another lamp-stand. The lower compartment bears in one horizantal line the legend: "Śri Mārasingha-Devam in Halé kannada characters [1]. The official designation of the engravers is often *Viśwakarma*; and not infrequently we have reference to "the ornament to the forehead of titled sculptors" [2]. The banners of Jaina kings are also not without interest. Those of Ganga Permādi and Hastimalla, indicate the stamp and symbol of Jainism, *viz.* the *Pincha-dwaja* (Flag of pea-cock feathers) described as "the banner of the divine Arhat" [3].

Finally, we cannot conclude this survey better than by pointing to the taste of the Jainas in always selecting the best views for their temples and caves. At Ellora they came perhaps too late, when the best sites had been already appropriated by the Buddhists and the Hindus; but speaking of the Jaina ruins at Hampi, Longhurst observes, "unlike the Hindus, the Jainas almost invariably selected a picturesque site for their temples, valuing rightly the effect of environment on architecture" [4]. The hill originally occupied by them, South of the great Pampāti temple, is significantly called the *Héma Kūtam* or the Golden Group [5] There is also not a more picturesque spot in the vicinity than that chosen and occupied by the Jainas at Śravana Belgola, their first colony in the South. Mudbidri, in South Kanara, their last stronghold is thus described by Walhouse in his matchless style:—"No Cistercian brotherhood was wiser in choosing a dwelling-place than the Jainas Their villages are ever marked by natural beauty and convenience This one, named Mudbidri, is in a slight hollow on the verge of a wide rolling plain covered after the rains with vast expanses of tall grass between flat lined elevations which are often studded with beds of a light blue

1. Mysore Archeological Report, 1921, p. 18.
2. Rice, Coorg Inscriptions, Ep car I, p 7· Ep Car II Introd., p 52
3 Hultzsch, Ep Ind. Ind. III, p 165, Ind Ant. XVIII, p. 313.
4. Longhurst, Hampi Ruins, p. 99.
5. Ibid, pp. 25-6.

gentian The village is embowered in fruit and flower trees and intersected by a labyrinth of hollow ways or lanes worn by the rains and tread of generations Rough steps ascending to a covered entrance like a lych gate lead up to the houses that stand back among the trees The banks and walls built of laterite blocks black with age are shrouded with creeping plants, azure convolvuli, and a profusion of delicate ferns sprouting from every crevice, and words are wanting to describe the exquisite varieties of grass that wave everywhere on walls and roofs Bird of paradise plumes, filmiest gossamer, wisps of delicate spun glass, hardly equal in fairy fineness the pale green plumy tufts that spring in unregarded loveliness—after the monsoon Shade and seclusion brood over the peaceful neighbourhood, and in the midst stand the greatest of Jaina temples built nearly five centuries ago " [1]

1 Walhouse cited by Sturrock, op cit pp 87 8

Opinion.

Praktana vimarsa vichakshana Karnataka Prachya vidya vaibhava,
Rai Bahadur R. NARASIMHACHARYA M A M R.A.S
Malleswaram Bangalore

Please accept my warm thanks for your kind courtesy in sending me two issues of 'Sri Jaina Sidhanta Bhaskara' which I have read with great interest The articles appearing in the journal are all of very great value and bear testimony to the scholarship and erudition of the contributors प्रशस्ति संग्रह, प्रतिमा लेख-संग्रह, वैद्यसार, दूतकाव्य साहित्य, among the Hindi articles and "Ancient South Indian Jainism, 'Nayakumarchariu and Mathematics of Nemichandra among the English articles are very useful The illustrations which are charming enhance the value of the journal The publication of unpublished jaina works is welcome I wish every success to the Journal and earnestly hope that it will have a long career of usefulness

---

SELECTED CONTRIBUTIONS TO ORIENTAL JOURNALS

1 *Annals of the Bhandarkara Oriental Research Institute*—Vol XVI, pts I—II —

Some Fresh Light on the Dhārāśiva Cave And The origin of the Śilāhāra Dynasty —By Prof Hiralal Jain M A L L B —It throws new light on the antiquity of Jainism and antiquity of the Jaina Purāṇas

2 *Quarterly Journal of the Mythic Society Vol XXV* No 4 April 1935 —

pp 236—246 Two centuries of Wadeyar Rule in Mysore — By N Subba Rau M A

pp 261—264 Karuvūr or Vanjimānagaram By S V Viswanatha M A.—It is established that the original Vañji was Kahūr and Tiruvañjikkaļam was only a copy of it

p 323 Puṣpadanta purāṇam of Guṇavarma edited by A Venkata Rao and H Sesha Yengar reviewed Can be had from the Madras University for Rs 4 only

3 *Bulletin of the Sri Rama Varma Research Institute*

No 3 —Mr Krishna Menon writing on the Dravidian Culture considers that the Dravidians were in India long prior to

the Aryans with an independent civilisation of their own and that the Ramayana and the Mahabharata indicated the existences of prosperous independent kingdom in South India.

4. *Indian Culture*, Vol. II, No I:—
Pre-historic trade-routes and Commerce by P. Mitra.

5. *Journal of the University of Bombay*.—Vol. III, pt. VI. (May 1935).
A.M. Ghatage points the linguistic nature of Śaurasenī Prākrit and its grammatical peculiarities.

(श्रीजैन-सिद्धान्त भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एव शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग १, विक्रमसम्वत्—१९९२।

सम्पादक मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए, एल एल बी
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए
बाबू कामता प्रसाद, एम आर ए एस
पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित



Jaina-Antiquary

AN ANGLO HINDI QUARTERLY JOURNAL